सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

बालकाण्ड—१

अनुवादक

साहित्य वाचस्पति

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद

डाक्टर आफ ओरियंटल कलचर

(काशी)

प्रकाशक

रामनारायण लाल
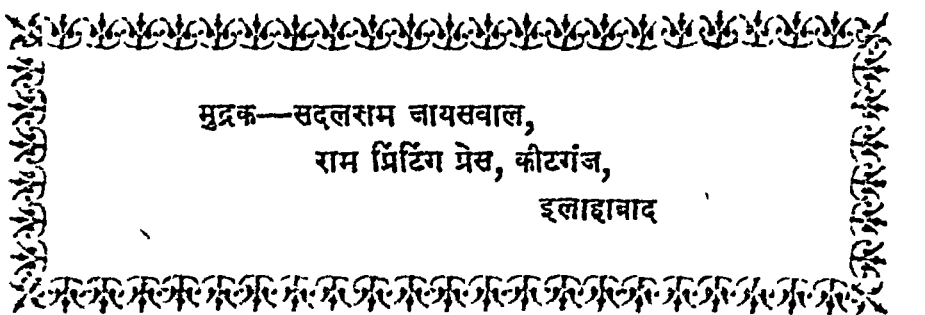
पब्लिशर और पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

१९४९

द्वितीय संस्करण २०००]

[मूल्य ३)

अनुवादक की सूचना

छोटे छोटी पुस्तकों में भी जब भूमिका देना, प्रचलित प्रथा के अनुसार अनिवार्य समझा जाता है तब इतने बड़े ग्रन्थ के आरम्भ में भी भूमिका का होना परमावश्यक है। किन्तु भूमिका या तो स्वयं ग्रन्थकार की लिखी होनी चाहिए अथवा ग्रन्थकार से घनिष्ठ परिचय रखने वाले उसके किसी आत्मीय, सम्बन्धी अथवा मित्र की लिखी हुई। ये दोनों प्रथाएँ आज ही प्रचलित हुई हैं, यह कहना उचित न होगा। इस देश में ये दोनों ही प्रथाएँ प्राचीनकाल से प्रचलित जान पड़ती हैं। इस इतिहास-ग्रन्थ-रत्न श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में भी भूमिका है और यह भूमिका स्वयं आदिकवि की लिखी हुई नहीं, प्रत्युत उनके किसी शिष्य प्रशिष्य की लिखी हुई है। बालकाण्ड के प्रथम सर्ग को छोड़, दूसरे से ले कर चौथे सर्ग तक—तीन सर्ग—आदिकाव्य के भूमिकात्मक हैं। इसको रामायण के टीकाकारों में श्रेष्ठ, आचार्यप्रवर गोविन्दराज जी ने भी स्वीकार किया है। यथा—

"सर्गत्रयमिदं केनचिद्वाल्मीकिशिष्येण रामायण निर्वृत्त्यनन्तरं निर्माय वैभवप्रकटनाय संगमितं । यथा याज्ञवल्क्यस्मृत्यादौ यथैव तत्र विज्ञानेश्वरेण व्याकृतं।"

उक्त तीन सर्गों में यत्र तत्र इस अनुमान की पुष्टि करने वाले प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। यथा चतुर्थ सर्ग का प्रथम श्लोक है :—

"प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान् ॥

इस श्लोक में महर्षि वाल्मीकि जी के लिए "भगवान्" और "आत्मवान्" जो दो विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं, वे आदि काव्यरचयिता जैसे मार्मिक एवं सर्वज्ञ ग्रन्थरचयिता, शिष्टतावश स्वयं अपने लिए कभी व्यवहार में नहीं ला सकते। फिर इस श्लोक के अर्थ पर ध्यान देने से भी स्पष्ट विदित होता है कि, इस श्लोक का कहने वाला ग्रन्थ रचयिता नहीं, प्रत्युत कोई अन्य ही पुरुष है। अतः ग्रन्थ की भूमिका पढ़ने के लिये उत्सुक जनों को, बालकाण्ड के दूसरे तीसरे और चौथे सर्ग को पढ़ सन्तोष कर लेना चाहिए। क्योंकि ग्रन्थ की भूमिका में जो आवश्यक बातें होनी चाहिए, वे सब इसमें पाई जाती हैं। यथा, ग्रन्थ की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन, ग्रन्थ में निरूपित विषयों का संक्षिप्त वर्णन, ग्रन्थनिर्माण का कारण, ग्रन्थनिर्माण का स्थान, ग्रन्थनिर्माण का समय, ग्रन्थ का प्रकाशन-काल और ग्रन्थ पर लोगों की सम्मति। ये सभी बातें उक्त तीन सर्गों में पाई जाती हैं। अतएव इसमें नयी भूमिका जोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

तब हाँ, इस ग्रन्थ के पढ़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से, धार्मिक दृष्टि से, राजनीतिक दृष्टि से पढ़ने वाले किन सिद्धान्तों पर उपनीत हो सकते हैं, यह बात दिखलाने की आवश्यकता है। प्राचीन टीकाकारों ने इस प्रयोजनीय विषय की उपेक्षा नहीं की। उन महानुभावों ने भी यथास्थान अपने स्वतंत्र विचार लिपिबद्ध किए हैं। उन्हींके पथ का अनुसरण कर, इस ग्रन्थ के अनुवादक ने भी यथास्थान अपने स्वतंत्र विचारों को व्यक्त करने में अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं की। किन्तु स्थान स्थान पर जो विचार प्रकट किए गए हैं, वे सूत्ररूप में होने के कारण उनको विशद रूप से व्यक्त करने की आवश्यकता का अनुभव कर, अनुवादक का विचार, ग्रन्थ

के परिशिष्ट भाग में, अपने विचारों को विषयानुक्रम से विस्तार पूर्वक लिपिबद्ध करने का है। अतएव इस ग्रन्थ के पाठकों को परिशिष्ट भाग छपने तक धैर्य धारण करने का अनुवादक की ओर से साग्रह अनुरोध है।

अनुवादक को अनुवाद के विषय में विशेष कुछ भी वक्तव्य नहीं है। जो कुछ भला बुरा अनुवाद वह कर सकता है, वह प्रकाशक महोदय की प्रेरणा से सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। हिन्दू जाति की इस शोच्य अधःपतित अवस्था में, इस ग्रन्थरत्न के सुलभ मूल्य पर प्रचार करने से, हिन्दुओं की प्राचीन सभ्यता, प्राचीन संस्कृति और प्राचीन पद्धतियों का जीर्णोद्धार हो, इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में अनुवाद कर, प्रकाशित करने का अनुवादक और प्रकाशक, दोनों ही का, यह मुख्य उद्देश्य है।

काहं मन्दमतिर्गभीरहृदयं रामायणं तत्त्व च,
व्याख्यानेऽस्य परिभ्रमन्नहमहो हासास्पदं धीमताम्।
को भारोऽत्र मम स्वयं कुलगुरुः को दण्डपाणिः कृपा
कूपारोऽरचयत्पदः सपदि मज्जिह्वाग्रसिंहासनः॥

दारागंज--प्रयाग
कार्तिक शुक्ला १४शी सं० १६८२

अनुवादक

विषयानुक्रमणिका

अड़तालीसवाँ सर्ग — ३३०—३३८

सुमति का दोनों राजकुमारों के सम्बन्ध में विश्वामित्र जी से प्रश्न और विश्वामित्र जी का उत्तर। राजा सुमति द्वारा दोनों राज कुमारों का सत्कार। तदनन्तर सब का मिथिला के लिए विशाला से प्रस्थान। मिथिला के निकटस्थ एक आश्रम के विषय में श्रीरामचन्द्र जी का विश्वामित्र से प्रश्न। उस आश्रम में पूर्वकाल में बसने वाले गौतम की कथा। अहल्या और कपट रूपधारी इन्द्र का समागम गौतम का, इन्द्र को, अपने आश्रम से अहल्या के साथ व्यभिचार करके निकलते हुए देखना। गौतम का अहल्या और चन्द्र को शाप देना। श्रीरामचन्द्र जी के पादस्पर्श से अहल्या के शापोद्धार की बात, गौतम द्वारा अहल्या से कहा जाना।

उनचासवाँ सर्ग — ३३९—३४४

गौतम के शाप से इन्द्र के अण्डकोशों का गिर पड़ना। अग्नि आदि देवताओं की प्रार्थना से पितृ देवताओं से इन्द्र को मेष के अण्डकोशों की प्राप्ति। विश्वामित्र के प्रोत्साहन प्रदान से श्रीरामचन्द्र जी का गौतम के आश्रम में जाना। शाप से छुटकर अहल्या का श्रीरामचन्द्र जी का सत्कार करना और गौतम तथा अहल्या का मिल कर श्रीरामचन्द्र जी का पूजन करना।

पचासवाँ सर्ग — ३४४—३५०

श्रीरामचन्द्रजी सहित विश्वामित्र का जनक महाराज की यज्ञशाला में जाना और वहाँ टहलना। जनक द्वारा विश्वामित्रजी का आतिथ्य। दोनों राजकुमारों का परिचय

हिमालय पर जाना। वरदान में महादेव जी से समस्त अस्त्रों का प्राप्त कर, विश्वामित्र का पुनः वसिष्ठाश्रम पर आक्रमण करना और आश्रम को उजाड़ना।

छप्पनवाँ सर्ग ३८१—३८६

वसिष्ठ जी का अपने ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र के चलाए समस्त अस्त्रों को निष्फल कर देना। विश्वामित्र के चलाए ब्रह्मास्त्र तक को अपने ब्रह्मदण्ड से वसिष्ठ जी का निष्फल कर डालना। तब ब्रह्मबल को सर्वोत्कृष्ट जान, विश्वामित्र का ब्रह्मबल सम्पादन करने की प्रतिज्ञा करना।

सत्तावनवाँ सर्ग ३८६—३९१

रानी को साथ ले विश्वामित्र का महर्षिपद प्राप्त करने के लिए दक्षिण दिशा में जा घोर तप करना। वहाँ उनको अपनी रानी से हविःष्यन्दादि पुत्रों की प्राप्ति और एक हज़ार वर्ष तप करने के बाद ब्रह्मा जी का प्रकट होकर उनको "राजर्षि" की पदवी प्रदान करना। इसी बीच में राजा त्रिशंकु का सदेह स्वर्ग जाने के लिए वसिष्ठ जी से यज्ञ कराने की प्रार्थना करना। उनके निषेध करने पर त्रिशंकु का वशिष्ठ जी के पुत्रों के पास जाना।

अट्ठावनवाँ सर्ग ३९२—३९७

गुरु आज्ञा उल्लङ्घन-कारी राजा त्रिशंकु को वसिष्ठपुत्रों द्वारा चाण्डालत्व को प्राप्तहोने का शाप। तब त्रिशंकु का विश्वामित्र के निकट गमन और उनसे अपना अभीष्ट निवेदन

उनसठवाँ सर्ग ३९८—४०२

विश्वामित्र का त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेजने की प्रतिज्ञा करना। त्रिशंकु का यज्ञ कराने के लिए अपने शिष्य

भेज कर विश्वामित्र का अन्य ऋषियों को बुलवाना। वसिष्ठपुत्रों का तथा महोदय नामक ऋषि का बुलाने पर न आना। अतः विश्वामित्र का उनको शाप देना।

त्रिशंकु के यज्ञ का वर्णन। यज्ञ भाग लेने के लिए उस यज्ञ में बुलाने पर भी देवताओं का न आना। इस पर क्रुद्ध हो विश्वामित्र का अपने तपोबल से त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेजना। किन्तु इन्द्रादि देवताओं को त्रिशंकु का सदेह स्वर्ग में आना भला न लगने पर, त्रिशंकु का पृथिवी पर गिरना और "बचाइये बचाइये" कह कर चिल्लाना। तब क्रोध में भर विश्वामित्र का नयी सृष्टि रचने में प्रवृत्त होना। तब घबड़ा कर देवताओं का विश्वामित्र जी को मनाना। त्रिशंकु सदा आकाश में सुख पूर्वक रहें, देवताओं के यह स्वीकार कर लेने पर, नयी सृष्टि रचना से विश्वामित्र का निवृत्त होना।

दक्षिण दिशा में तप में विघ्न होने पर विश्वामित्र जी का उस दिशा को छोड़ पश्चिम में पुष्कर में जाकर उग्रतप करना। इस बीच में अम्बरीप राजा का यज्ञ करना। उनके यज्ञपशु का इन्द्र द्वारा चुराया जाना। यज्ञ पूरा करने के लिए पुरोहित का अम्बरीप से किसी यज्ञीय नरपशु को लाने का अनुरोध करना। गौओं के लालच में आ ऋचीक का अपने बिचले पुत्र शुनःशेप को राजा के हाथ बेचना। शुनःशेप को ले राजा अम्बरीप का प्रस्थान करना।

बासठवाँ सर्ग ४१५—४२१

राजा अम्बरीष का पुष्कर में आगमन। शुनःशेप का विश्वामित्र के निकट जा प्राण बचाने और अम्बरीष का अधूरा यज्ञ पूर्ण होने के लिए प्रार्थना करना। विश्वामित्र का शुनःशेप के बदले अपने पुत्रों को नरपशु बन कर राजा के साथ जाने की आज्ञा देना। आज्ञा न मानने पर विश्वामित्र का पुत्रों को शाप देना। विश्वामित्र के बतलाए मंत्रों का जप करने से शुनःशेप की यज्ञ मे रक्षा और अम्बरीष के यज्ञ की समाप्ति।

त्रेसठवाँ सर्ग ४२२—४२८

विश्वामित्र का और मेनका का समागम। पीछे पुष्कर-क्षेत्र छोड़ विश्वामित्र का उत्तर दिशा में जा कौशिकी के तट पर रह कर तप करना। किन्तु वहाँ भी अभीष्ट सिद्ध न होना। उनका पुनः घोर तप करना।

चौसठवाँ सर्ग ४२८—४३३

विश्वामित्र को तप से डिगाने के लिए इन्द्र का रम्भा अप्सरा को विश्वामित्र के पास भेजना। विश्वामित्र का क्रोध में भर रम्भा को शाप देना। क्रोध के कारण तप नष्ट होने पर विश्वामित्र का आगे कभी क्रोध न करने का सङ्कल्प करना।

पैसठवाँ सर्ग ४३३—४४३

एक हज़ार वर्षों तक निराहार तप करने के पीछे विश्वामित्र का आहार करने को बैठना और उस समय ब्राह्मण का रूप धर इन्द्र का आ कर विश्वामित्र से भोजन माँगना और विश्वामित्र का उनको अपने सामने रखा हुआ सारा

इति

ग्रन्थ में व्यवहृत सङ्केताक्षरों की व्याख्या

(गो०) गोविन्दराजीय भूषणटीका ।

(रा०) नागेश भट्ट की रामाभिरामी टीका ।

(शि०) शिवसहायराम की शिरोमणिटीका ।

(वि०) विषमपदविवृतिटीका ।

(   ) जो वाक्य ऐसे कोष्ठक के भीतर हैं वे अनुवादक के अपने हैं और कथा की सङ्गति बैठाने के लिए जोड़ दिए गए हैं ।

[टिप्पण] ऐसे कोष्ठक के भीतर महीन अक्षरों में जो टिप्पणियाँ दी गई हैं, वे अनुवादक के स्वतंत्र विचार हैं ।

(शि० गो०) अनुवाद के जिस श्लोक के अन्त में (शि०) या (गो०) अक्षर दिए गए हैं, वहाँ समझना चाहिए कि वह श्लोक शिरोमणि टीकाकार के मतानुसार अथवा गोविन्दराजीय भूषणटीका के अनुसार अनूदित किआ गया है ।

(ती०) संकेत महेश्वर तीर्थ विरचित टीका के लिए है ।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिए गए हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—:०:—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥१॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥२॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥७॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम्
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥८॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥९॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१०॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥११॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम्
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥१२॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:o:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥
लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥२॥
वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥३॥
सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥४॥
सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥५॥
अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥६॥
भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥७॥
मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥८॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥९॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥१०॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥११॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥१२॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥१३॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥१४॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥१५॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥१६॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१७॥
यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥१८॥
वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१९॥
आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥२०॥
तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥२१॥
वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥
वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥
भूपारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥२४॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥२५॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥२६॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥२७॥

वाल्मीकेर्गाः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥२८॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥२९॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥३०॥

—*—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥२॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमाना समाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥४॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥५॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥६॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥७॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥८॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥९॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१०॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥११॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥१२॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥१४॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥१५॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥१६॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१७॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥११॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥२०॥

—:०:—

श्रीरामचन्द्रायनमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

आचार्यं शठकोपदेशिकमथ प्राचार्यपारम्परीम्,
श्रीमल्लक्ष्मणयोगिवर्ययमुनावास्तव्यनाथादिकान्।
वाल्मीकिं सह नारदेन मुनिना वाग्देवतावल्लभं,
सीतालक्ष्मणवायुसूनुसहितं श्रीरामचन्द्रं भजे ॥१॥

पितामहस्यापि पितामहाय,
प्राचेतसादेशफलप्रदाय।
श्रीभाष्यकारोत्तमदेशिकाय,
श्रीशैलपूर्णाय नमोनमस्तात् ॥२॥

लक्ष्मीनाथ समारंभाम्,
नाथयामुनि मध्यमां।
अस्मदाचार्यपर्यन्ताम्,
वंदे गुरुपरम्पराम् ॥३॥

श्रीवृत्तरत्नकुलवारिधिशीतभानुं,
श्रीश्रीनिवासगुरुवर्यसुतंसुतांसम्।
गोविन्ददेशिकपदाम्बुजभृङ्गराजम्,
रामानुजार्यं गुरुवर्यमहं भजामि ॥४॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

बालकाण्डः

ॐ

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्[१] ।
[२]नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥१॥

तपस्या और स्वाध्याय (वेदपाठ) में निरत और बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीनारद मुनि जी से वाल्मीकि जी ने पूँछा ॥१॥

को न्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥२॥

चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान्कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥३॥

---

१ नारंज्ञान तद्ददातीति नारदः । यद्वा

गायन्नारायणकथा सदा पापभयापहाम्

नारदो नाशयन्नेति नृणामज्ञानजं तमः ।

२ यावद्विवक्षितार्थप्रतिपादनक्षमशब्दप्रयोगविदः तेषां वरम् श्रेष्ठ (गो०)

आत्मवान्को[१] जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोपस्य संयुगे ॥४॥

इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ २ (किये हुए उपकार को न भूलने वाले) सत्यवादी, दृढ़व्रत, अनेक प्रकार के चरित्र करने वाले, प्राणीमात्र के हितैषी, विद्वान्, समर्थ ३ अति दर्शनीय, धैर्यवान्, क्रोध को जीतने वाले, तेजस्वी, ईर्ष्या-शून्य और युद्ध में क्रुद्ध होने पर देवताओं को भी भयभीत करने वाले, कौन हैं ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥५॥

हे महर्षे ! यह जानने का मुझे बड़ा चाव है (उत्कट इच्छा है) और आप इस प्रकार के पुरुष को जानने में समर्थ हैं। अर्थात् ऐसे पुरुष को बतला भी सकते हैं ॥ ५ ॥

श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः ।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥६॥

यह सुन, तीनों लोकों का (भूत, भविष्य, और वर्तमान) वृत्तान्त जानने वाले देवर्षि नारद प्रसन्न हुए और कहने लगे ॥६॥

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः ।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥७॥

१ आत्मवान्—धर्मवान् (गो०)

२ कई उपकारों की अपेक्षा न कर, एक ही उपकार को बहुत मानने वाले। (गो०)।

३ लौकिक व्यवहार—प्रजारञ्जनादिक, उसमें कुशल। (गो०)

हे मुनि ! आपने जिन गुणों का वखान किया है, वे सब दुर्लभ हैं, किन्तु हम अपनी समझ से ऐसे गुणों से युक्त पुरुष को बतलाते हैं, सुनिये ॥७॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो[1] नाम जनैः श्रुतः ।
नियतात्मा[2] महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्[3] वशी[4] ॥८॥

महाराज इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न श्रीरामचन्द्र जी को सब जन जानते हैं। वे नियतस्वभाव (मन को वश में रखने वाले) बड़े बली, अति तेजस्वी, आनन्दरूप, सब के स्वामी ॥८॥

[5]बुद्धिमान्नीतिमान्[6] वाग्मी श्रीमाञ्शत्रुनिवर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहुः[7] कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥९॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः ।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥१०॥

सर्वज्ञ, मर्यादावान्, मधुरभाषी, श्रीमान्, शत्रुनाशक, विशाल कंधे वाले और गोल तथा मोटी भुजाओं वाले, शङ्ख के समान गरदन पर तीन रेखा वाले, बड़ी ठुड्डी (ठोढ़ी) वाले, चौड़ी छाती वाले और विशाल धनुषधारी हैं। उनकी गरदन की हड्डियाँ

---

१ रमन्ते योगिनोऽन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति राम पदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ।—अगस्त्यसंहितायाम् ।

२ नियतात्मा—नियतस्वभावः (गो०) वशीकृतान्तःकरणः (रा०)

३ धृतिमान्—निरतिशयानन्दः (गो०) ४ वशी—सर्वजगत् वशेऽस्यास्तीति वशी, सर्वस्वामीत्यर्थः (गो०)

५ बुद्धिमान्—सर्वज्ञः (गो०) ६ नीतिमान्—मर्यादावान् (गो०) ७ महाबाहुः—वृत्तपीवरबाहुः (गो०) ।

(हसुली हड्डियाँ) माँस से छिपी हुई हैं, उनकी दोनों बाँहें घुटनों तक लटकती हैं। उनका सिर और मस्तक सुन्दर है और वे बड़े पराक्रमी हैं ॥९॥१०॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो [1]लक्ष्मीवाञ्शुभलक्षणः ॥११॥

उनके समस्त अङ्ग न बहुत छोटे हैं और न बहुत बड़े हैं, (जो अंग जितना लंबा या छोटा होना चाहिए वह उतना ही लम्बा या छोटा है। उनके शरीर का चिकना सुन्दर रंग है, वे प्रतापी या तेजस्वी हैं। उनकी छाती माँसल है, (अर्थात् हड्डियाँ नहीं दिखलाई पड़तीं) उनके दोनों नेत्र बड़े हैं, उनके सब अङ्ग प्रत्यङ्ग सुन्दर हैं और वे सब शुभ लक्षणों से युक्त हैं ॥११॥

धर्मज्ञः[2] सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्[3] ॥१२॥

वे शरणागत की रक्षा करना, इस अपने धर्म को जानने वाले हैं। प्रतिज्ञा के दृढ़ (वादे के पक्के) अपनी प्रजा (रियाया) के हितैषी, अपने आश्रितों की रक्षा करने में कीर्ति प्राप्त, सर्वज्ञ, पवित्र, भक्ताधीन, आश्रितों की रक्षा के लिए चिन्तावान अथवा आश्रितों पर ध्यान रखने वाले हैं ॥१२॥

प्रजापतिसमः श्रीमान्धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥१३॥

---

१ लक्ष्मीवान्—अवयवशोभायुक्तः (गो०)
२ धर्मज्ञः = शरणागतरक्षणरूपं जानातीति धर्मज्ञः (गो०)
३ समाधिमान्—समाधिः आश्रितरक्षणचिन्तावान् (गो०)

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य[१] च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥१४॥

वे ब्रह्मा के समान प्रजा का रक्षण करने वाले, अति शोभावान् सब के पोषक, शत्रु का नाश करने वाले अर्थात् वेदद्रोही और धर्मद्रोही जो उनके शत्रु हैं, उनका नाश करने वाले, धर्मप्रवर्तक, स्वधर्म* और ज्ञानी जन के रक्षक हैं। वेद वेदाङ्ग के तत्वों को जानने वाले तथा धनुर्विद्या में अति प्रवीण हैं ।॥ १३ ॥ १४ ॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्[२] ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः[३] ॥१५॥

वे सब शास्त्रों के तत्वों को भली भाँति जानने वाले,† अच्छी स्मरण शक्ति (याददाश्त) वाले, महा प्रतिभाशाली, सर्वप्रिय, परमसाधु, कभी दैन्य प्रदर्शित न करने वाले, अर्थात् बड़े गम्भीर और लौकिक तथा अलौकिक क्रियाओं में कुशल हैं ॥१५॥

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥१६॥

---

१ स्वजनः—स्वभूतोजनः स्वजनः ज्ञानी (गो०) २ प्रतिभानवान्—श्रुतस्याश्रुतस्य वा झटिति स्फुरणं प्रतिभानम् तद्वान् । (गो०) ३ विचक्षणः—लौकिकालौकिक क्रियाकुशलः (गो०)

* अपने धर्म, अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान, दण्ड और युद्ध की विशेष रूप से रक्षा करने वाले हैं ।

† धर्मशास्त्रपुराणंचमीमांसाऽऽन्वीक्षिकी तथा ।
चत्वार्येतान्युपाङ्गानि शास्त्रशः सम्प्रचक्षते ॥

जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्र तक पहुँचती हैं, उसी प्रकार सज्जन जन उन तक सदा पहुँचते हैं अर्थात् क्या अभ्यास के समय क्या भोजन काल में, उन तक अच्छे लोगों की पहुँच सदा रहती है। अच्छे लोगों के लिए उनके पास जाने की मनाई कभी नहीं है। वे परम श्रेष्ठ हैं, वे सबको अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—पशु, पक्षी—जो कोई उनका हो, उसको समान दृष्टि से देखने वाले हैं और सदा प्रियदर्शन हैं ॥१६॥

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥१७॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥१८॥

वे सब गुणों से युक्त कौसल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं। वे गम्भीरता में समुद्र के समान, धैर्य में हिमालय की तरह पराक्रम में विष्णु की तरह, प्रियदर्शनत्व में चन्द्रमा की तरह, क्रोध में कालाग्नि के समान और क्षमा करने में पृथिवी के समान हैं ॥१७॥१८॥

धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।
तमेवंगुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥१९॥

वे दान देने में कुबेर के समान हैं अर्थात् जब देते हैं तब अच्छी तरह देते हैं, सत्यभाषण में मानों दूसरे धर्म हैं। ऐसे गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्री रामचन्द्र जी हैं ॥१९॥

ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ।
प्रकृतीनां[1] हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया ॥२०॥

---

[1] प्रकृतीनां...युक्तं—अनेन सर्वानुकूल्यमुक्तं । (गो०)

यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत्प्रीत्या महीपतिः ।
तस्याभिषेकसंभारान्दृष्ट्वा भार्याऽथ कैकयी ॥२१॥

(ऐसे) श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्यारे तथा प्रजा के हित को चाहने वाले ज्येष्ठ (पुत्र) श्रीरामचन्द्र जी को, प्रजा की हितकामना के उद्देश्य से, महाराज दशरथ ने प्रीति पूर्वक युवराज पद देना चाहा। श्रीरामाभिषेक की तैयारियाँ देख, महाराज दशरथ की प्रिय महिषी कैकेयी ने ॥२०॥२१॥

पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत ।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम् ॥२२॥

पहिले पाए हुए दो वरदान (महाराज दशरथ से) माँगे। एक वर से श्रीरामचन्द्र जी के लिए देशनिकाला और दूसरे से (अपने पुत्र) भरत का राज्याभिषेक ॥२२॥

स सत्यवचनाद्राजा धर्मपाशेन संयतः ।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम् ॥२३॥

धर्मपाश से बद्ध, (अर्थात् अपनी बात के धनी होने के कारण) सत्यवादी महाराज दशरथ ने, प्राणों से भी बढ़ कर अपने प्यारे पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को वनगमन की आज्ञा दी ॥२३॥

स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन् ।
पितुर्वचननिर्देशात्कैकेय्याः प्रियकारणात् ॥२४॥

वीरवर श्रीरामचन्द्र जी, पिता की आज्ञा का पालन करने और कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए, पिता की आज्ञानुसार वन को गए ॥२४॥

तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ।
स्नेहाद्विनयसम्पन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥२५॥

माता सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले* स्नेह और विनय से सम्पन्न श्रीलक्ष्मण जी (भ्रातृ-स्नेह-वश)† श्रीरामचन्द्र जी के पीछे हो लिए ॥२५॥

भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन् ।
रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता ॥२६॥
जनकस्य कुले जाता [1]देवमायेव निर्मिता ।
सर्वलक्षणसंपन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ।
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा ॥२७॥

दोनों भाइयों को जाते देख, श्रीराम जी की प्राणों के समान सदा हितैषिणी, राजा जनक की बेटी, साक्षात् लक्ष्मी का अवतार और स्त्रियों के सर्वोत्तम गुणों से युक्त, श्रीसीता जी भी श्रीरामचन्द्र जी के साथ वैसे ही गईं, जैसे चन्द्रमा के साथ रोहिणी ॥२६॥२७॥

पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च ।
शृङ्गवेरपूरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत् ॥२८॥

इन तीनों के पीछे दूर तक महाराज दशरथ और पुरवासी भी गए। शृंगवेरपुर में पहुँच कर, गङ्गा जी के किनारे, श्रीराम-

---

१ देवमायेवनिर्मिता—अमृतमथनानन्तरमसुरमोहनार्थनिर्मिता विष्णुमायेवस्थिता (गो०)

* विनय से सम्पन्न। † सुभ्रातृभाव का प्रदर्शन करते हुए।

चन्द्र जी ने (रथ सहित अपने) सारथी (सुमन्त) को भी लौटा दिआ ॥२८॥

गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम् ।
गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया ॥२९॥
ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ।
चित्रकूटमनुप्राप्य[1] भरद्वाजस्य शासनात् ॥३०॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी निषादों (मल्लाहों) के मुखिया अपने प्यारे गुह से मिले । श्रीरामचन्द्र जी, श्रीलक्ष्मण जी, श्रीसीता जी और गुह बहुत जलवाली अर्थात् बड़ी बड़ी नदियों को पार कर, अनेक वनों में पैदल घूमें फिरे और भरद्वाज मुनि के बतलाए हुए चित्रकूट में पहुँचे ॥२९॥३०॥

[2]रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः ।
देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन्सुखम् ॥३१॥

उस रम्य स्थान में तीनों (श्रीराम, श्रीलक्ष्मण और सीता) रम गए अर्थात् पर्णकुटी बनाकर रहने लगे, बस गए । देवता और गन्धर्वों की तरह वहाँ ये तीनों सुख पूर्वक रहने लगे ॥३१॥

चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा ।
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन्सुतम् ॥३२॥

---

१ एषएव विभ्रद्वाजः प्रजावै वाजः ता एव बिभर्ति यद्बिभर्त्ति तस्मात् भरद्वाजः—निरुक्तनृगारण्यके ।
भरद्वाजोह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवा (पा) स । इति श्रुतेः

२ रम्यमावसथ कृत्वा पर्णशालां कृत्वा

श्रीरामचन्द्र जी के चित्रकूट में पहुँच जाने के बाद (उधर) अयोध्या में पुत्र-वियोग से विकल, महाराज दशरथ, हा राम! हा राम!! कह कर विलाप करते हुए, स्वर्ग को सिधारे ॥३२॥

मृते तु तस्मिन्भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः ।
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद्राज्यं महाबलः ॥३३॥

(इस प्रकार) महाराज के स्वर्गवासी होने पर, वसिष्ठादि प्रमुख द्विजवर्यों ने, श्रीभरत जी को राजतिलक करना चाहा; किन्तु भरत जी ने यह स्वीकार न किया ॥३३॥

स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः[१] ।
गत्वा तु सुमहात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ॥३४॥

और वे पूज्य श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न कर, मनाने को उनके पास वन में गए। सत्यपराक्रमी, परम महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पास पहुँच कर, ॥३४॥

अयाचद्भ्रातरं[२] राममार्यभावपुरस्कृतः ।
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत् ॥३५॥

उन्होंने अत्यन्त विनय भाव से प्रार्थना की हे राम! आप धर्मज्ञ हैं (अर्थात् यह धर्म शास्त्र की आज्ञा है कि, बड़े भाई के सामने छोटा भाई राज्य नहीं पा सकता) अतः आपही राजा होने योग्य हैं ॥३५॥

---

१ रामपादप्रसादकः पूज्यंरामंप्रसादयितुमित्यर्थः (गो०) २ अयाचत् —प्रार्थयामास (गो०)

रामोऽपि परमोदारः सुमुखः[१] सुमहायशाः[२] ।
न चैच्छत्पितुरादेशाद्राज्यं रामो महाबलः ॥३६॥

किन्तु श्रीराम जी के अति उदार, अत्यन्त प्रसन्नवदन और अति यशस्वी होने पर भी, उन महाबली श्रीराम जी ने पिता के आदेशानुकूल, राज्य करना स्वीकार नहीं किया ॥३६॥

पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा* पुनः पुनः ।
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः ॥३७॥

राज्य का कार्य चलाने के लिए भरताग्रज श्रीराम जी ने अपनी (प्रतिनिधि रूपी) खड़ाऊँ (भरत को) दीं और अनेक बार समझा कर भरत जी को लौटाया ॥३७॥

स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन् ।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं रामागमनकाङ्क्षया ॥३८॥

भरत जी अपने मनोरथ को इस प्रकार प्राप्त कर तथा श्रीराम जी के चरणों को स्पर्श कर तथा श्रीरामचन्द्र जी के लौटने की प्रतीक्षा करते हुए, नन्दिग्राम में रह कर, राज्य करने लगे ॥३८॥

गते तु भरते श्रीमान्सत्यसंधो जितेन्द्रियः[३] ।
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च ॥३९॥

---

१ सुमुखः—अर्थिजनलाभेनप्रसन्नमुखः (गो०) २ सुमहायशाः नह्यर्थिनः कार्यवशादुपेताः काकुत्स्थवंशे विमुखाः प्रयान्ति" विष्णुपुराणे (गो०) ३ जितेन्द्रियः—मातृभरतादि प्रार्थना व्याजेध्वत्यपि राज्यभोग-लौलित्यरहितः (गो०)

* पुनः पुनः इत्यनेन भरतस्य रामविरहासहिष्णुत्वं द्योत्यते । (गो०

दक्षिणस्योदधेस्तीरे त्रिकूटो नाम पर्वतः ।
तस्याग्रे तु विशाला सा महेन्द्रस्य पुरी यथा ॥ २५ ॥

दक्षिण समुद्र के तट पर अथवा समुद्र के दक्षिण तट पर त्रिकूट नामक एक पर्वत है। उस त्रिकूटपर्वत के शिखर पर इन्द्र की अमरावती पुरी की तरह एक विशाल नगरी है ॥२५॥

लङ्का नाम पुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा ।
राक्षसानां निवासार्थं यथेन्द्रस्यामरावती ॥ २६ ॥

उस रमणीक नगरी का नाम लङ्का है, और उसकी रचना विश्वकर्मा ने की है। वह नगरी विश्वकर्मा ने राक्षसों के रहने के लिए इन्द्र की अमरावती पुरी की तरह बनाई है ॥ २६ ॥

तत्र त्वं वस भद्रं ते लङ्कायां नात्र संशयः ।
हेमप्राकारपरिखा यंत्रशस्त्रसमावृता ॥ २७ ॥

'उसी लङ्कापुरी में तुम जाकर रहो तुम्हारा मङ्गल होगा। इसमें कुछ सन्देह नहीं। उस नगरी के परकोटे की दीवालें सोने की हैं, उसके चारों ओर खाई खुदी हुई हैं और वह यंत्रों और शस्त्रों से भरी पूरी है ॥ २७ ॥

रमणीया पुरी सा हि रुक्मवैडूर्यतोरणा ।
राक्षसैः सा परित्यक्ता पुरा विष्णुभयार्दितैः ॥ २८ ॥

वह लङ्कापुरी बड़ी रमणीक है। उसके फाटक सोने के हैं और उनमें पन्ने जड़े हुए हैं। पहले उसमें राक्षस रहा करते थे, किन्तु विष्णु के डर से वे वहाँ से भाग गए हैं ॥ २८ ॥

शून्या रक्षोगणैः सर्वैः रसातलतलं गतैः।
शून्या सम्प्रति लङ्का सा प्रभुस्तस्या न विद्यते ॥२६॥

और पृथिवी के नीचे रसातल में जा बसे हैं। अतः वह नगरी अब सूनी पड़ी है और उसका कोई मालिक नहीं है ॥२६॥

स त्वं तत्र निवासाय गच्छ पुत्र यथासुखम्।
निर्दोषस्तत्र ते वासो न बाधा तत्र कस्यचित् ॥३०॥

हे पुत्र! तुम वहाँ जाकर सुखपूर्वक रहो। वहाँ तुम्हारे रहने में कुछ भी बुराई न होगी और न किसी को किसी प्रकार का कष्ट ही होगा॥ ३०॥

एतच्छ्रुत्वा स धर्मात्मा धर्मिष्ठं वचनं पितुः।
निवासयामास तदा लङ्कां पर्वतमूर्धनि ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा वैश्रवण ने जब अपने पिता विश्रवा के इस प्रकार के धर्मिष्ठ वचन सुने, तब वे त्रिकूटपर्वत पर बनी हुई लङ्कापुरी में जा बसे॥ ३१॥

नैर्ऋतानां सहस्रैस्तु हृष्टैः प्रमुदितैः सह।
अचिरेणैव कालेन सम्पूर्णा तस्य शासनात् ॥ ३२ ॥

सदा हर्षित रहने वाले हजारों राक्षस वहाँ जा बसे। वैश्रवण के शासन में थोड़े ही दिनों में वह लङ्कापुरी भरी पुरी हो गई ॥३२॥

स तु तत्रावसत्प्रीतो धर्मात्मा नैर्ऋतर्षभः।
समुद्रपरिखायां तु लङ्कायां विश्रवात्मजः ॥ ३३ ॥

विश्रवा मुनि के धर्मात्मा राक्षसराज पुत्र वैश्रवण, समुद्र की परिखा द्वारा चारों ओर से घिरी हुई लङ्कापुरी में प्रसन्नता पूर्वक रहने लगे ॥ ३३ ॥

काले काले तु धर्मात्मा पुष्पकेण धनेश्वरः ।
अभ्यागच्छद्विनीतात्मा पितरं मातरं च हि ॥ ३४ ॥

धर्मात्मा धनेश्वर वैश्रवण पुष्पक विमान पर सवार हो, विनीत भाव से माता पिता के निकट प्रायः जाया करते थे ॥ ३४ ॥

स देवगन्धर्वगणैरभिष्टुत-
स्तथाऽप्सरोनृत्यविभूषितालयः ।
गभस्तिभिः सूर्य इवावभासन्
पितुः समीपं प्रययौ स विश्रवः ॥ ३५ ॥

इति तृतीयः सर्गः

देवों और गन्धर्वों की स्तुति सुनते हुए, अप्सराओं के नृत्य से अपने भवन को भूषित करते हुए और सूर्य की किरणों की तरह चमचमाते वे धनाध्यक्ष वैश्रवण अपने पिता विश्रवा मुनि के निकट आया जाया करते थे ॥ ३५ ॥

उत्तरकाण्ड का तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

—✿—

चतुर्थः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वाऽगस्त्येरितं वाक्यं रामो विस्मयमागतः ।
कथमासीत्तु लङ्कायां सम्भवो रक्षसां पुरा ॥ १ ॥

अगस्त्य जी के कहे हुए इस वृत्तान्त को सुन श्रीरामचन्द्र जी विस्मित हुए कि, लङ्का में कुवेर जी के वसने के पूर्व भी राक्षसों का वहाँ रहना क्योंकर संभव हो सका था ॥ १ ॥

ततः शिरः कम्पयित्वा त्रेताग्निसमविग्रहम् ।
तमगस्त्यं मुहुर्दृष्ट्वा स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने वार वार सिर को हिलाकर और तीन अग्नियों के समान देह धारण किए हुए अगस्त्य जी की ओर निहार कर विस्मित हो उनसे कहा ॥ २ ॥

भगवन् पूर्वमप्येषा लङ्काऽऽसीत्पिशिताशिनाम् ।
श्रुत्वेदं भगवद्वाक्यं जातो मे विस्मयः परः ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! पहले भी इस लङ्का पुरी में राक्षस लोग ही वास करते थे, आपका यह वचन सुन कर मुझको वड़ा आश्चर्य हुआ है ॥ ३ ॥

पुलस्त्यवंशादुद्भूता राक्षसा इति नः श्रुतम् ।
इदानीमन्यतश्चापि सम्भवः कीर्तितस्त्वया ॥ ४ ॥

क्योंकि हमने तो यही सुन रक्खा है कि, पुलस्त्य ही के वंश से राक्षसों की उत्पत्ति हुई है। परन्तु इस समय तुम्हारे कथन से जान पड़ा कि, राक्षसों की उत्पत्ति (पुलस्त्य के अतिरिक्त) अन्य किसी से भी हुई है ॥ ४ ॥

रावणात्कुम्भकर्णाच्च प्रहस्ताद्विकटादपि ।
रावणस्य च पुत्रेभ्यः किन्न ते बलवत्तराः ॥ ५ ॥

क्या वे (पहिले के राक्षस) लोग रावण, कुम्भकर्ण, प्रहस्त, विकट और रावण के पुत्र से भी बढ़ कर बलवान थे ॥ ५ ॥

क एषां पूर्वको ब्रह्मन् किंनामा च बलोत्कटः ।
अपराधं च कं प्राप्य विष्णुना द्राविताः कथम् ॥६॥

हे ब्रह्मन्! उन सब का मूल पूर्वपुरुष कौन महाबलवान था उसका नाम क्या था ? उन्होंने विष्णु का क्या बिगाड़ा था जो उन्होंने उन राक्षसों को वहाँ से मार भगाया ॥ ६ ॥

एतद्विस्तरशः सर्वं कथयस्व ममानघ ।
कौतूहलमिदं मह्यं नुद भानुर्यथा तमः ॥ ७ ॥

हे अनघ ! यह समस्त वृत्तांत तुम मुझसे विस्तार पूर्वक कहो और मेरे इस कुतूहल को उसी तरह दूर करो जिस प्रकार सूर्य अंधकार को दूर करता है ॥ ७ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा संस्कारालंकृतं शुभम् ।
ईषद्विस्मयमानस्तमगस्त्यः प्राह राघवम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचंद्र जी के संस्कारित (व्याकरण से शुद्ध) एवं अलङ्कारयुक्त वचन सुनकर, अगस्त्य जी ने कुछ कुछ विस्मित हो श्रीरामचंद्र जी से कहा ॥ ८ ॥

प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा ह्यपः सलिलसम्भवः ।
तासां गोपायने सत्त्वानसृजत्पद्मसम्भवः ॥ ९ ॥

हे राम ! (भगवान् विष्णु के नाभि) कमल से उत्पन्न हो, ब्रह्मा जी ने सब से प्रथम जल की सृष्टि की और जल की रक्षा के लिए उन्होंने अनेक (जल) जंतुओं को बनाया ॥ ९ ॥

ते सत्त्वाः सत्त्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः ।
किं कुर्म इति भाषन्तः क्षुत्पिपासाभयार्दिताः ॥१०॥

वे सब जीव विनीतभाव से सृष्टिकर्त्ता के पास जा खड़े हुये और बोले कि, हम क्या करें ? उस समय वे मारे भूख और प्यास से विकल हो रहे थे ॥ १० ॥

*प्रजापतिस्तु तान्सर्वान्प्रत्याह प्रहसन्निव ।
आभाष्य वाचा यत्नेन रक्षध्वमिति मानवाः ॥ ११ ॥

प्रजापति ने मुसक्या कर उन सब से कहा कि, हे प्राणियो तुम यत्नपूर्वक मनुष्यों की रक्षा करो ॥ ११ ॥

रक्षामेति च तत्रान्ये यक्षाम इति चापरे ।
भुक्षिताभुक्षितैरुक्तस्ततस्तानाह भूतकृत् ॥ १२ ॥

उनमें से कुछ भूखे प्राणियों ने कहा, "रक्षामः" (अर्थात् हम रक्षा करते हैं) और उनमें से कुछ क्षुधारहित प्राणियों ने कहा, "यक्षामः" अर्थात् हम उत्तरोत्तर वृद्धि करते हैं) ॥ १२ ॥

रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः ।
यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एव भवन्तु वः ॥ १३ ॥

उनका यह कथन सुन ब्रह्मा जी बोले कि, जिन प्राणियों ने कहा था कि, "रक्षामः" (हम रक्षा करते हैं) वे राक्षस हों और जिन्होंने कहा, "यक्षामः" वे यक्ष हों ॥ १३ ॥

तत्र हेतिः प्रहेतिश्च भ्रातरौ राक्षसाधिपौ ।
मधुकैटभसङ्काशौ बभूवतुररिन्दमौ ॥ १४ ॥

---

१ सत्त्वकर्त्तारं—सृष्टिकर्त्तारं । (गो०) *पाठान्तरे—"प्रजापतिस्तु तान्याह सत्त्वानि प्रहसन्निव ।" †पाठान्तरे—"शत्रुदमः ।"

उन राक्षसों में हेति और प्रहेति नामक दो भाई उत्पन्न हुए। वे दोनों भाई मधुकैटभ की तरह शत्रुनाशकारी थे। वे दोनों ही राक्षसों के स्वामी हुए॥ १४॥

प्रहेतिर्धार्मिकस्तत्र तपोवनगतस्तदा।
हेतिर्दारक्रियार्थे तु परं यत्नमथाकरोत्॥ १५॥

प्रहेति धार्मिक स्वाभाव का होने के कारण तप करने को वन में चला गया। किन्तु हेति अपना विवाह करने के लिए बड़ा प्रयत्न करने लगा॥ १५॥

स कालभगिनीं कन्यां भयां नाम *महाभयाम्।
उदावहदमेयात्मा स्वयमेव महामतिः॥ १६॥

उच्चहृदय और महाबुद्धिमान् हेति ने स्वयं ही काल के निकट जा और प्रार्थना कर; काल की बहिन के साथ, जिसका नाम भया था और जो महाडरावनी थी, विवाह करवा लिया॥१६॥

स तस्यां जनयामास हेती राक्षसपुङ्गवः।
पुत्रं पुत्रवतां श्रेष्ठो विद्युत्केशमिति श्रुतम्॥ १७॥

तदनन्तर पुत्रवानों में प्रथम गिने जाने योग्य राक्षसश्रेष्ठ हेति ने उस स्त्री के गर्भ से विद्युत्केश नामक विख्यात पुत्र पैदा किया॥ १७॥

विद्युत्केशो हेतिपुत्रः स दीप्तार्कसमप्रभः।
व्यवर्धत महातेजास्तोयमध्य इवांबुजम्†॥ १८॥

महातेजस्वी हेति का पुत्र विद्युत्केश सूर्य की तरह अत्यन्त तेजस्वी हो जल में उगे हुये, कमल की तरह उत्तरोतर बढ़ने लगा॥ १८॥

---

*पाठान्तरे—"भयावहाम्।" †पाठान्तरे—"इवाम्बुदः।"

स यदा यौवनं भद्रमनुप्राप्तो निशाचरः।
ततो दारक्रियां तस्य कर्तुं व्यवसितः पिता ॥ १९ ॥

जब वह राक्षस विद्युत्केश जवान हुआ, तब उसके पिता हेति ने उसका विवाह कर देना चाहा ॥ १९ ॥

सन्ध्यादुहितरंसोथसन्ध्या तुल्यां प्रभावतः।
वरयामास पुत्रार्थं हेती राक्षसपुङ्गवः ॥ २० ॥

अतः उस राक्षसश्रेष्ठ हेति ने संध्या की तरह प्रतापिनी संध्या की पुत्री को अपने पुत्र विद्युत्केश के लिए संध्या से मांगा ॥ २० ॥

अवश्यमेव दातव्या परस्मै सेति संधया।
चिंतयित्वा सुता दत्ता विद्युत्केशाय राघव ॥ २१ ॥

हे राघव ! कन्या तो किसी न किसी को देनी ही है—यह विचार कर संध्या ने विद्युत्केश को अपनी बेटी दे डाली है ॥२१॥

सन्ध्यायास्तनयां लब्ध्वा विद्युत्केशो निशाचरः।
रमते स तया सार्धं पौलोम्या मघवानिव ॥ २२ ॥

संध्या की बेटी को पाकर राक्षस विद्युत्केश उसके साथ उसी प्रकार विहार करने लगा, जिस प्रकार इंद्र अपनी इंद्राणी के साथ विहार करते हैं ॥ २२ ॥

केनचित्त्वथ कालेन राम सालकटङ्कटा।
विद्युत्केशाद्गर्भमाप वनराजिरिवार्णवात् ॥ २३ ॥

राम ! विद्युत्केश की पत्नी सालकटंकटा ने थोड़े दिनों बाद अपने पति से वैसे ही गर्भधारण किया जैसे, समुद्र जल से मेघघटाएँ गर्भधारण करती हैं ॥ २३ ॥

ततः सा राक्षसी गर्भं घनगर्भसमप्रभम् ।
प्रसूता मन्दरं गत्वा गङ्गा गर्भमिवाग्निजम् ।
तमुत्सृज्य तु सा गर्भं विद्युत्केशरथार्थिनी ॥ २४ ॥

उस राक्षसी ने मेघगर्भ के समान एक बालक मन्दराचल पर जाकर वैसे ही जना, जैसे गङ्गा ने अग्नि से धारण किए हुए गर्भ से बालक जना था ॥ २४ ॥

रेमे तु सार्धं पतिना विसृज्य सुतमात्मजम् ।
उत्सृष्टस्तु तदा गर्भो घनशब्दसमस्वनः ॥ २५ ॥

उस सद्य-प्रसूत-शिशु को उसी पर्वत पर छोड़ कर, वह संध्या की बेटी सालकटंकटा सम्भोग की इच्छा से पुनः पति के पास जा विहार करने लगी। उधर उसका वह त्यागा हुआ पुत्र मेघ की तरह शब्द करने लगा ॥ २५ ॥

तयोत्सृष्टः स तु शिशुः शरदर्कसमद्युतिः ।
निधायास्ये स्वयं मुष्टिं रुरोद शनकैस्तदा ॥ २६ ॥

शरत्कालीन सूर्य की तरह दीप्तिमान त्यागा हुआ वह शिशु मुँह में मुट्ठी दिए हुए पड़ा धीरे धीरे रोने लगा। २६ ॥

ततो वृषभमास्थाय पार्वत्या सहितः शिवः ।
वायुमार्गेण गच्छन् वै शुश्राव रुदितस्वनम् ॥ २७ ॥

उस समय बैल पर सवार शिव और पार्वती आकाशमा
से उधर होकर कहीं जा रहे थे। उन्होंने जाते जाते उस बाल
के रोने का शब्द सुना ॥ २७ ॥

अपश्यदुमया सार्धं रुदन्तं राक्षसात्मजम् ।
कारुण्यभावात्पार्वत्या भवस्त्रिपुरसूदनः ॥ २८ ॥

फिर उस रोते हुए राक्षसशिशु को दोनों ने देखा भी औ
दयावश पार्वती के कहने से त्रिपुरासुर को मारने वाले महादे
जी ने ॥ २८ ॥

तं राक्षसात्मजं चक्रे मातुरेव वयः समम् ।
अमरं चैव तं कृत्वा महादेवोऽक्षरोऽव्ययः ॥ २९ ॥

उस राक्षसपुत्र की उम्र, उसकी माता के बराबर कर दं
और उसे अमर कर दिया। महादेव जी के लिए ऐसा करन
कोई बड़ी बात न थी। क्योंकि वे तो अविनाशी और अपरि
वर्तनशील हैं ॥ २९ ॥

पुरमाकाशगं प्रादात् पार्वत्याः प्रियकाम्यया ।
उमयाऽपि वरोदत्तो राक्षसानां नृपात्मज ॥ ३० ॥

महादेव जी ने पार्वती जी को प्रसन्न करने के लिये उर्स
आकाशगामीपुर (एक पुर के समान) एक विमान भी दे दिया
हे नृपात्मज! पार्वती जी ने भी राक्षसियों को यह वर दिय
कि ॥ ३० ॥

सद्योपलब्धिर्गर्भस्य प्रसूतिः सद्य एव च ।
सद्य एव वयः प्राप्तिर्मातुरेव वयःसमम् ॥ ३१ ॥

राक्षसियाँ गर्भधारण करते ही बालक जनें और वह बालक
तुरंत माता के समान उम्र वाला हो जाय ॥ ३१ ॥

ततः सुकेशो वरदानगर्वितः
श्रियं प्रभोः प्राप्य हरस्य पार्श्वतः।
चचार सर्वत्र महान् महामतिः
खगं पुरं प्राप्य पुरन्दरो यथा ॥ ३२ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

हे राम सुकेश नामक विद्युत्केश का पुत्र महादेव जी से वरदान पा कर, वड़ा घमण्डी हो गया। वह इस आकाशचारी नग (विमान) को और लक्ष्मी को पा तथा उस नगर में बैठ कर, चारों ओर घूमने लगा ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

—:-❀-:—

पंचमः सर्गः

—:-❀-:—

सुकेशं धार्मिकं दृष्ट्वा वरलब्धं च राक्षसम्।
ग्रामणीर्नाम गन्धर्वो विश्वावसुसमप्रभः ॥ १ ॥

सुकेश को वरदान पाया हुआ तथा धार्मिक देख, विश्वावसु के समान तेजस्वी ग्रामणी नामक गन्धर्व ने ॥ १ ॥

तस्य देववती नाम द्वितीया श्रीरिवात्मजा।
त्रिषु लोकेषु विख्याता रूपयौवनशालिनी ॥ २ ॥

अपनी देववती नाम की कन्या, जो दूसरी लक्ष्मी के समान थी तथा जो युवती और सुन्दरी होने के कारण तीनों लोकों में प्रसिद्ध थी ॥ २ ॥

तां सुकेशाय धर्मात्मा ददौ रक्षःश्रियं यथा ।
वरदानकृतैश्वर्यं सा तं प्राप्य पतिं प्रियम् ॥ ३

धर्मात्मा राक्षस सुकेश को राक्षसलक्ष्मी की तरह दे दी। शिव जी से वरदान पाने के कारण सुकेश ऐश्वर्यवान हो गया था। ऐसे प्यारे पति को पाकर ॥ ३ ॥

आसीद्देववती तुष्टा धनं प्राप्येव निर्धनः ।
स तया सह संयुक्तो रराज रजनीचरः ॥ ४ ॥

देववती वैसे ही प्रसन्न हुई जैसे कोई निर्धन पुरुष धन पा कर प्रसन्न होता है। वह राक्षस सकेश भी उसके साथ वैसे ही सुशोभित हुआ ॥ ४ ॥

अञ्जनादभिनिष्क्रान्तः करेण्वेव महागजः ।
देववत्यां सुकेशस्तु जनयामास राघव ।
त्रीन् पुत्राञ्जनयामास त्रेताग्निसमविग्रहान् ॥ ५ ॥

जैसे अंजन नामक दिग्गज से उत्पन्न हुआ महागज हथिनी के साथ सुशोभित हो। हे राघव! (तदनंतर समय पाके सुकेश) ने देववती के गर्भ से तीन अग्नियों के समान शरीरधारी तीन पुत्र उत्पन्न किए ॥ ५ ॥

माल्यवन्तं सुमालिं च मालिं च बलिनां वरम् ।
त्रींस्त्रिनेत्रसमान् पुत्रान् राक्षसान् राक्षसाधिपः ॥६॥

बलवानों में श्रेष्ट उन तीनों के नाम थे—माल्यवान् सुमाली और माली। राक्षसराज सुकेश ने तीननेत्रों के समान ये तीन पुत्र उत्पन्न किये थे ॥ ६ ॥

त्रयो लोका इवाव्यग्राः स्थितास्त्रय इवाग्नयः ।
[1]त्रयो मंत्रा इवात्युग्रास्त्रयो घोरा इवामयाः[2] ॥ ७ ॥

सुकेश के ये तीनों पुत्र व्यग्रतारहित तीनों लोकों की तरह, गार्हपत्यादि तीन अग्नियों की तरह अथवा तीनों वेदों की तरह अथवा बात पित्त कफ की तरह, उग्र और भयङ्कर थे ॥ ७ ॥

त्रयः सुकेशस्य सुतास्त्रेताग्निसमतेजसः[3] ।
विवृद्धिमगमंस्तत्र व्याधयोपेक्षिता इव ॥ ८ ॥

सुकेश के तीनों अत्यन्त तेजवान पुत्र इस प्रकार बढ़ने लगे, जिस प्रकार उपेक्षा करने से रोग बढ़ता है ॥ ८ ॥

वरप्राप्तिं पितुस्ते तु ज्ञात्वैश्वर्यंतपोबलात् ।
तपस्तप्तुं गता मेरुं भ्रातरः कृतनिश्चयाः ॥ ९ ॥

कुछ दिनों पीछे पिता की वरप्राप्ति और उसके द्वारा प्राप्त पिता के ऐश्वर्य को देख, उन तीनों ने मेरु-पर्वत पर जा, तप करने का निश्चय किया ॥ ९ ॥

प्रगृह्य नियमान् घोरान् राक्षसा नृपसत्तम ।
विचेरुस्ते तपोघोरं सर्वभूतभयावहम् ॥ १० ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! वे तीनों राक्षस उस समय कठोर नियमों का पालन करना निश्चय कर, समस्त प्राणियों को भय उपजाने वाला घोर तप करने लगे ॥ १० ॥

सत्यार्जवशमोपेतैस्तपोभिर्भुवि दुर्लभैः ।
सन्तापयन्तस्त्रींल्लोकान् सदेवासुरमानुषान् ॥ ११ ॥

---

१ त्रयोमंत्रा—त्रयोवेदा । (गो०) २ त्रयश्चामयाः—वातपित्तश्लेष्मरूपाः । (गो०) ३ त्रेताग्निसमवर्चस इति तेजोतिशय उक्तः । (गो०)

सत्यभाषण, प्राणिमात्र में सरल व्यवहार एवं समदृष्टि, इन्द्रियदमन आदि का नियम कर, उन तीनों ने ऐसा घोर तप किया, जो पृथ्वीतल पर दुर्लभ था। ऐसे घोर तप से वे देवताओं और मनुष्यों सहित तीनो लोकों को सन्तप्त करने लगे ॥ ११ ॥

ततो विभुश्चतुर्वक्त्रो विमानवरमास्थितः।

सुकेशपुत्रानामन्त्र्य वरदोस्मीत्यभाषत ॥ १२ ॥

तब तो विभु, चतुर्मुख एवं भूतभावन ब्रह्मा जी, विमान पर सवार होकर, वहाँ आए और सुकेश के पुत्रों को सम्बोधन कर बोले, हम वरदान देने को आए हैं (तुम वर माँगो) ॥१२॥

ब्राह्मणं वरदं ज्ञात्वा सेन्द्रैर्देवगणैर्वृतम्।

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे वेपमाना इवद्रुमाः ॥ १३ ॥

इन्द्रादि देवताओं सहित ब्रह्मा जी को वरदान देने को उद्यत देख, वे सब राक्षस, वृक्षों की तरह थर थर काँपते हुए, हाथ जोड़ कर, बोले। १३ ॥

तपसाऽऽराधितो देव यदि नो दिशसे वरम्।

अजेयाः शत्रुहन्तारस्तथैव चिरजीविनः।

प्रभविष्णवो भवामेति परस्परमनुव्रताः ॥ १४ ॥

हे देव! तप द्वारा आराधन किए जाने पर, यदि आप हमें वर देने को पधारे हैं, तो हम माँगते हैं कि हममें आपस में प्रीति बनी रहे, कोई हम लोगों को जीत न पावे, अपने शत्रुओं का हम संहार किया करें और हम अजर अमर हों ॥ १४ ॥

एवं भविष्यतीत्युक्त्वा सुकेशतनयान्विभुः।

स ययौ ब्रह्मलोकाय ब्रह्मा ब्राह्मणवत्सलः ॥ १५ ॥

इस पर ब्राह्मणवत्सल विभु ब्रह्मा जी बोले "तथास्तु"—तुम लोग ऐसे ही होगे। तदनन्तर सुकेश के पुत्रों को यह वरदान दे, ब्रह्मा जी ब्रह्मलोक को चले गए ॥ १५ ॥

वरं लब्ध्वा वतु ते सर्वे राम रात्रिंचरास्तदा।
सुरासुरान् प्रबाधन्ते वरदानसुनिर्भयाः ॥ १६ ॥

हे राम! इस प्रकार वे राक्षस वरदान पा कर, अत्यन्त निर्भीक हो, देवताओं और असुरों को सताने लगे ॥ १६ ॥

तैर्बाध्यमानास्त्रिदशाः सर्षिसङ्घाः सचारणाः
त्रातारं नाधिगच्छन्ति निरयस्था यथा नराः ॥ १७ ॥

उनसे सताए जा कर देवता, महर्षि और चारण, अनाथ की तरह रक्षक ढूँढ़ने लगे। पर जैसे नरक के प्राणियों को कोई उद्धारकर्त्ता नहीं मिलता, वैसे ही उन सब को भी कोई रक्षक न मिला ॥ १७ ॥

अथ ते विश्वकर्माणं शिल्पिनां वरमव्ययम्।
ऊचुः समेत्य संहृष्टा राक्षसा रघुसत्तम ॥ १८ ॥

हे रघूत्तम! उन राक्षसों ने हर्षित अन्तःकरण से, शिल्पियों में श्रेष्ठ, चिरंजीवी विश्वकर्मा के समीप जा कर कहा, ॥ १८ ॥

ओजस्तेजो बलवतां महतामात्मतेजसा।
गृहकर्ता*भवानेव देवानां हृदयेप्सितम् ॥ १९ ॥
अस्माकमपि तावत्त्वं *गृहं कुरु महामते।
हिमवन्तमपाश्रित्य मेरुं मन्दरमेव वा ॥ २० ॥

*एक प्रसङ्ग "भवान" भी है और "त्वं" भी है।

पराक्रमी, तेजस्वी और वलवान देवताओं की चाहना के अनुसार (मनमुताविक) घर आपही वनाते हैं, अतः हे महामते ! लोगों के लिए भी तुम चाहे हिमालय पर, या मेरु पर्वत पर अथवा मन्द्राचल पर, एक भवन वना दो ॥ १९ ॥ २० ॥

महेश्वरगृहप्रख्यं गृहं नः क्रियतां महत् ।
विश्वकर्मा ततस्तेषां राक्षसानां महाभुजः ॥ २१ ॥

शिवभवन की तरह हमारा भवन वड़ा लंबा चौड़ा और ऊँचा होना चाहिए। उन महावलवान् राक्षसों के यह वचन सुन, विश्वकर्मा ने ॥ २१ ॥

निवासं कथयामास शक्रस्येवामरावतीम् ।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे त्रिकूटो नाम पर्वतः ॥ २२ ॥

उन लोगों के रहने के लिए इन्द्र की तरह स्थान वतलाते हुए कहा कि, दक्षिण समुद्र के तट पर, त्रिकूट नाम का एक पहाड़ है ॥ २२ ॥

सुवेल इति चाप्यन्यो द्वितीयस्तत्र सत्तमाः ।
शिखरे तस्य शैलस्य मध्यमेऽम्बुदि सन्निभे ॥ २३ ॥

वहीं पर सुवेल नाम का एक दूसरा उत्तम पर्वत भी है। उस पर्वत का वीच वाला शिखर वड़ा ऊँचा एक वड़े मेघ की तरह देख पड़ता है ॥ २३ ॥

शकुनैरपि दुष्प्रापं टङ्कच्छिन्नचतुर्दिशि ।
त्रिंशद्योजनविस्तीर्णा शतयोजनमायता ॥ २४ ॥

उसके ऊपर उड़ कर पक्षी भी नहीं पहुँच सकते। क्योंकि वह चारों ओर से मानों टाँकियों से छील कर, चिकनाया गया

है। उसके ऊपर बनी हुई नगरी तीस योजन चौड़ी और सौ योजन लंबी है ॥ २४ ॥

स्वर्णप्राकारसंवीता हेमतोरणसंवृता ।
मया लङ्केति नगरी शक्राज्ञप्तेन निर्मिता ॥ २५ ॥

लङ्का के परकोटे की दीवारें सोने की हैं और सोने के तोरणों (फाटकों) से भूषित है। इस लङ्कापुरी को मैंने इन्द्र की आज्ञा से बनाया था ॥ २५ ॥

तस्यां वसत दुर्धर्षा यूयं राक्षसपुङ्गवाः ।
अमरावतीं समासाद्य सेन्द्रा इव दिवौकसः ॥ २६ ॥

हे दुर्धर्ष राक्षसश्रेष्ठो ! जिस प्रकार इन्द्रादि देवता अमरावती में रहते हैं, उसी प्रकार तुम लोग भी लङ्कापुरी में जा कर बसो ॥ २६ ॥

लङ्का दुर्गं समासाद्य राक्षसैर्बहुभिर्वृताः ।
भविष्यथ दुराधर्षाः शत्रूणां शत्रुसूदनाः ॥ २७ ॥

हे शत्रुओं का संहार करने वाले राक्षसों ! जब तुम बहुत से राक्षसों के साथ लङ्का में बस जाओगे, तब तुम शत्रुओं से दुर्धर्ष हो जाओगे, ॥ २७ ॥

विश्वकर्मवचः श्रुत्वा ततस्ते राक्षसोत्तमाः ।
सहस्रानुचरा भूत्वा गत्वा तामवसन् पुरीम् ॥ २८ ॥

विश्वकर्मा के इन वचनों को सुन कर, हजारों सेवकों को साथ ले कर, वे राक्षसोत्तम उस पुरी में जा बसे ॥ २८ ॥

दृढप्राकारपरिखां हैमैर्गृहशतैर्वृताम् ।
लङ्कामवाप्य ते हृष्टा न्यवसन् रजनीचराः ॥ २६ ॥

मजबूत प्राकारों वाली और खाई से युक्त तथा सैकड़ों हजारों सुवर्णभूषित गृहों से सुशोभित लङ्का में जा, वे सब राक्षस हर्षित हो रहने लगे ॥ २६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु यथाकामं च राघव ।
नर्मदा नाम गन्धर्वी बभूव रघुनन्दन ॥ ३० ॥

हे राघव ! इसी बीच में नर्मदा नामक एक गन्धर्वी अपनी इच्छा से उत्पन्न हुई ॥ ३० ॥

तस्याः कन्यात्रयं ह्यासीत् ह्रीश्रीकीर्तिसमद्युति ।
ज्येष्ठक्रमेण सा तेषां राक्षसानामराक्षसी ॥ ३१ ॥

उसके तीन बेटियाँ थीं, जो कान्ति में ह्री, श्री और कीर्ति के तुल्य थीं। उस गन्धर्वी ने अपनी वे तीनों बेटियाँ ज्येष्ठक्रम से उन तीनों राक्षसों को दे दीं ॥ ३१ ॥

कन्यास्ताः प्रददौ हृष्टा पूर्णचंद्रनिभाननाः ।
त्रयाणां राक्षसेन्द्राणां तिस्रो गन्धर्वकन्यकाः ॥ ३२ ॥

पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुखवाली तीन गन्धर्वकन्याएँ उस गन्धर्वी ने हर्षित अंतःकरण से उन तीन राक्षसश्रेष्ठों को दीं ॥ ३२ ॥

दत्ता मात्रा महाभागा नक्षत्रे भगदैवते ।
कृतदारास्तु ते राम सुकेशतनयास्तदा ॥ ३३ ॥

उस महाभागा ने यह विवाह उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में किया था। हे राम! सुकेश के वे पुत्र, अपनी अपनी-अपनी पत्नियों साथ॥ ३३॥

चिक्रीडुः सह भार्याभिरप्सरोभिरिवामराः।
ततो माल्यवतो भार्या सुन्दरी नाम सुन्दरी॥ ३४॥

वैसे ही विहार करने लगे, जैसे देवता अप्सराओं के साथ विहार किया करते हैं। कुछ दिनों बाद माल्यवान ने अपनी सौन्दर्यवती सुन्दरी नामक पत्नी से॥ ३४॥

स तस्यां जनयामास यदपत्यं निबोध तत्।
वज्रमुष्टिर्विरूपाक्षो दुर्मुखश्चैव राक्षसः॥ ३५॥
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च मत्तोन्मत्तौ तथैव च।
अनला चाभवत् कन्या सुन्दर्यां राम सुन्दरी॥ ३६॥

जो जो पुत्र उत्पन्न किए, हे राम! उनको मैं आपको बतलाता हूँ। वज्रमुष्टि, विरूपाक्ष, दुर्मुख, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, मत्त, उन्मत्त—ये (माल्यवान के) सात पुत्र थे और अनला नाम की एक सुन्दरी कन्या भी उस सुन्दरी के गर्भ से माल्यवान के थी॥ ३५॥ ३६॥

सुमालिनोपि भार्याऽऽसीत् पूर्णचन्द्रनिभानना।
नाम्ना केतुमती राम प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥ ३७॥

सुमाली की भार्या भी पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह सुन्दर मुखवाली थी। हे राम! उसका नाम केतुमती था और वह अपने पति को प्राणों से भी बढ़ कर प्यारी थी॥ ३७॥

सुमाली जनयामास यदपत्यं निशाचरः।
केतुमत्यां महाराज तन्निबोधानुपूर्वशः॥ ३८॥

हे महराज ! सुमाली ने अपनी भार्या केतुमती के गर्भ से जो सन्तानें उत्पन्न कीं, अब मैं उनके नाम आपको क्रम से सुनाता हूँ ॥ ३८ ॥

प्रहस्तोऽकम्पनश्चैव विकटः कालिकामुखः ।
धूम्राक्षश्चैव दण्डश्च सुपार्श्वश्च महाबलः ॥ ३९ ॥

प्रहस्त, कम्पन, विकट, कालिकामुख, धूम्राक्ष, दण्ड, महाबली, सुपार्श्व ॥ ३९ ॥

संह्रादिः प्रघसश्चैव भासकर्णश्च राक्षसः ।
राका पुष्पोत्कटाश्चैव कैकसी च * शुचिस्मिता ।
कुम्भीनसी च इत्येते सुमालेः प्रसवाः स्मृताः ॥४०॥

संह्रादि, प्रघस, और भासकर्ण—ये तो महाबली सुमाली के पुत्र हुए और कुम्भीनसी, कैकसी, राका और पुष्पोत्कटा नाम की कन्याएँ भी सुमाली ने उत्पन्न कीं ॥ ४० ॥

मालेस्तु वसुधा नाम गन्धर्वी रूपशालिनी
भार्याऽऽसीत् पद्मपत्राक्षी स्वक्षी यक्षीवरोपमा ॥४१॥

हे स्वामिन् ! अत्यन्त रूपवती वसुधा नाम की गन्धर्वी माली राक्षस की भार्या थी। उसके नेत्र कमल की तरह होने के कारण एक श्रेष्ठ यक्षी के समान थे ॥ ४१ ॥

सुमालेरनुजस्तस्यां जनयामासयत्प्रभो ।
अपत्यं कथ्यमानं तु मया त्वं शृणु राघव ॥ ४२ ॥

हे प्रभो ! सुमाली के छोटे भाई माली ने उस स्त्री के गर्भ से जो जो सन्तान उत्पन्न किए, मैं अब उनको बतलाता हूँ। सुनें ॥ ४२ ॥

---

* पाठान्तरे—"सुमध्यमा" ।

अनलश्चानिलश्चैव हरः सम्पातिरेव च ।
एते विभीषणामात्या मालेयास्तु निशाचराः ॥ ४३ ॥

अनल, अनिल, हर और सम्पाति ये माली के पुत्र थे और ये ही चारों विभीषण के मन्त्री हुए ॥ ४३ ॥

ततस्तु ते राक्षसपुङ्गवास्त्रयो
निशाचरैः पुत्रशतैश्च संवृताः ।
सुरान्सहेन्द्रानृषिनागयक्षान्
बबाधिरे तान् बहुवीर्यदर्पिताः ॥ ४४ ॥

राक्षसों में श्रेष्ठ उन तीन राक्षसों का परिवार बहुत बढ़ गया । वे तीनों राक्षस अपने सैकड़ों पुत्रों के साथ इन्द्र सहित समस्त देवताओं, ऋषियों, नागों और यक्षों को सताने लगे ॥ ४४ ॥

जगद्भ्रमन्तेऽनिलवद्दुरासदा
रणेषुमृत्युप्रतिमाननतेजसः ।
वरप्रदानादतिगर्विता भृशं
क्रतुक्रियाणां प्रशमंकराः सदा ॥ ४५ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

वे सब दुरासद राक्षस, वायु की तरह संसार में सर्वत्र भ्रमण करते थे । ये समस्त राक्षस संग्रामक्षेत्र में काल के समान अमित तेजस्वी हो जाते थे और वरदान पाने से अत्यन्त गर्वित हो सदैव यज्ञों को नष्ट किया करते थे ॥ ४५ ॥

उत्तरकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

षष्ठः सर्गः

—:o:—

तैर्वध्यमाना देवाश्च ऋषयश्च तपोधनाः

भयार्ताः शरणं जग्मुर्देवदेवं महेश्वरम् ॥ १ ॥

उन राक्षसों से सताए जाने पर देवता और तपस्वी ऋषि-गण भयार्त हो देवदेव महादेव के शरण में गए ॥ १ ॥

जगत् सृष्ट्यन्तकर्तारमजमव्यक्तरूपिणम् ।

आधारं सर्वलोकानामाराध्यं परमं गुरुम् ॥ २ ॥

जो महादेव इस संसार के रचने वाले, इसका अन्त करने वाले तथा समस्त लोगों के आधार हैं, जो अज (अजन्मा), अव्यक्तरूप, आराधना करने योग्य और परमगुरु हैं ॥ २ ॥

ते समेत्य तु कामारिं त्रिपुरारिं त्रिलोचनम्

ऊचुः प्राञ्जलयो देवा भयगद्गदभाषिणः ॥ ३ ॥

उन कामदेव के शत्रु त्रिपुरारी एवं त्रिलोचन महादेव जी के निकट समस्त देवता गए और हाथ जोड़ कर एवं गिड़गिड़ा-कर कहने लगे ॥ ३ ॥

सुकेश पुत्रैर्भगवन्नूतपितामहवरोद्धतैः ।

प्रजाध्यक्ष प्रजाः सर्वा बाध्यन्ते रिपुबाधनैः ॥ ४ ॥

हे भगवन्! हे प्रजाध्यक्ष! शत्रुओं को सताने वाले सुकेश के पुत्र, ब्रह्मा जी के वर से ढीठ हो, समस्त प्रजा को पीड़ित कर रहे हैं ॥ ४ ॥

शरण्यान्यशरण्यानि ह्याश्रमाणि कृतानि नः ।

स्वर्गाच्च देवान् प्रच्याव्य स्वर्गे क्रीडन्ति देववत् ॥५॥

हम लोगों के घरों और आश्रमों को उन लोगों ने उजाड़ डाला है और स्वर्ग से हम लोगों को निकाल कर, आप देवताओं की तरह वहाँ क्रीड़ा करते हैं ॥ ५ ॥

अहं विष्णुरहं रुद्रो ब्रह्माहं देवराडहम् ।
अहं यमश्च वरुणश्चन्द्रोऽहं रविरप्यहम् ॥ ६ ॥

हम विष्णु हैं, हम रुद्र हैं, हम ब्रह्मा हैं, हम इंद्र हैं, हम यम हैं, हम वरुण हैं, हम चंद्रमा हैं, और हम सूर्य हैं ॥ ६ ॥

इति माली सुमाली च माल्यवांश्चैव राक्षसाः ।
बाधन्ते समरोद्धर्षा ये च तेषां पुरःसराः ॥ ७ ॥

इस प्रकार माली, सुमाली और माल्यवान कहते हैं और युद्ध में उत्साहित हो, जिसको सामने पाते हैं उसे ही सताया करते हैं ॥ ७ ॥

तन्नो देव भयार्तानामभयं दातुमर्हसि ।
अशिवं वपुरास्थाय जहि वै देवकण्टकान् ॥ ८ ॥

हे देव ! हम सब भयभीत हो रहे हैं। सो आप हम सब को अभयदान दीजिये। आप भयङ्कर रूप धारण कर, उन देवकण्टकों का नाश कीजिए ॥ ८ ॥

इत्युक्तस्तु सुरैः सर्वैः कपर्दी नीललोहितः ।
सुकेशं प्रति सापेक्षः प्राह देवगणान् प्रभुः ॥ ९ ॥

उन समस्त देवताओं की इस प्रार्थना को सुन, कपर्दी, नीललोहित (शिव के नाम विशेष) महादेव जी, सुकेश का पक्ष ले कर, देवताओं से बोले ॥ ९ ॥

अहं तान्न हनिष्यामि ममाऽवध्या हि तेऽसुराः।
किं तु मंत्रं[1] प्रदास्यामि यो वै तान्निहनिष्यति ॥१०॥

हे देवगण! मैं तो उन राक्षसों को न मारूँगा, क्योंकि मुझ से तो वे अवध्य हैं (अर्थात् मेरे मारे वे नहीं मारे जा सकेंगे।) परंतु मैं तुमको उपाय बताता हूँ कि, उनको कौन मारेगा ॥१०॥

एतमेव समुद्योगं पुरस्कृत्य महर्षयः।
गच्छध्वं शरणं विष्णुं हनिष्यति स तान् प्रभुः ॥११॥

हे महर्षियो! इसी प्रकार देवताओं को साथ ले तुम लोग भगवान् विष्णु के शरण में जाओ। वे भगवान् उन दुष्ट राक्षसों का नाश कर डालेंगे ॥ ११ ॥

ततस्तु जयशब्देन प्रतिनन्द्य महेश्वरम्।
विष्णोः समीपमाजग्मुर्निशाचरभयार्दिताः ॥ १२ ॥

यह सुन महादेव जी जयजयकार मना कर, उनकी प्रशंसा करते हुए, निशाचरों के भय से पीड़ित वे सब, भगवान् विष्णु के पास पहुँचे ॥ १२ ॥

शङ्खचक्रधरं देवं प्रणम्य बहुमान्य च।
ऊचुः सम्भ्रान्तवद्वाक्यं सुकेशतनयान् प्रति ॥ १३ ॥

शंखचक्रधारी भगवान् विष्णु को बड़े आदर के साथ प्रणाम कर, देवताओं ने सुकेश के पुत्रों के विषय में घबड़ा कर कहा ॥ १३ ॥

---

1 मंत्रं—उपायं। (गो०)

सुकेशतनयैर्देव त्रिभिस्त्रेताग्निसन्निभैः ।
आक्रम्य वरदानेन स्थानान्यपहृतानि नः ॥ १४ ॥

हे देव ! तीन अग्नियों के समान अत्यंत तेजस्वी, सुकेश के तीनों पुत्रों ने वरदान पा जाने के कारण प्रचण्ड होकर, हम लोगों के स्थान छीन लिए है ॥ १४ ॥

लङ्का नाम पुरी दुर्गा त्रिकूटशिखरे स्थिता ।
तत्र स्थिताः प्रबाधन्ते सर्वान्नः क्षणदाचराः । १५ ॥

वे त्रिकूट पर्वत के शिखर पर बनी हुई लङ्कापुरी में रहते हैं और हम सब लोगों को सताया करते हैं ॥ १५ ॥

स त्वमस्मद्धितार्थाय जहि तान् मधुसूदन ।
शरणं त्वां वयं प्राप्ता गतिर्भव सुरेश्वर ॥ १६ ॥

अतएव हे मधुसूदन ! हम लोगों के हित के लिए तुम उन सब को मारो। हे सूरेश्वर ! हम सब तुम्हारे शरण में आये हैं अतः तुम हम लोगों की रक्षा करो ॥ १६ ॥

चक्रकृत्तास्यकमलान्निवेदय यमाय वै।
भयेष्वभयदोस्माकं नान्योस्ति भवता विना ॥ १७ ॥

आप अपने चक्र से उनके कमल सदृश मुखों को (गर्दनों को) काट कर यम को अर्पण कीजिए। क्योंकि आपको छोड़ हम लोगों को इस भय से अभय करने वाला और दूसरा कोई नहीं है ॥ १७ ॥

राक्षसान् समरे दुष्टान् सानुबन्धान् मदोद्धतान् ।
नुद त्वं नो भयं देव नीहारमिव भास्करः ॥ १८ ॥

हे देव ! युद्ध के लिए सदा उत्साहित रहने वाले अथवा लड़ने में बड़े मजबूत और मदोद्धत उन राक्षसों को तुम उनके अनुचरों अथवा परिवार सहित ऐसे नष्ट करो, जैसे सूर्य कुहरे का नाश करते हैं ॥ १८ ॥

इत्येवं दैवतैरुक्तो देवदेवो जनार्दनः ।
अभयं भयदोऽरीणां दत्त्वा देवानुवाच ह ॥ १९ ॥

जब देवताओं ने इस प्रकार कहा, तब देवादिदेव और शत्रुओं को भय देने वाले भगवान् जनार्दन देवताओं को अभय दे कर उनसे बोले ॥ १९ ॥

सुकेशं राक्षसं जाने ईशानवर दर्पितम् ।
तांश्चास्य तनयाञ्जाने येषां ज्येष्ठः स माल्यवान् ॥२०॥

शिव के वर से दर्पित सुकेश राक्षस को मैं जानता हूँ। उसके सब पुत्र भी मेरे जाने हुए हैं। उन सब में बड़ा माल्यवान् है ॥ २० ॥

तानहं समतिक्रान्तमर्यादान् राक्षसाधमान् ।
निहनिष्यामि सक्रुद्धः सुरा भवत विज्वराः ॥ २१ ॥

मर्यादा तोड़ने वाले उन राक्षसाधमों को मैं क्रोध में भर मारूँगा। अब तुम सब निश्चिन्त हो जाओ ॥ २१ ॥

इत्युक्तास्ते सुराः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना ।
यथावासं ययुर्हृष्टाः प्रशंसन्तो जनार्दनम् ॥ २२ ॥

देवशिरोमणि भगवान विष्णु के ये वचन सुन, समस्त देवता हर्षित हुए और जनार्दन भगवान की प्रशंसा करते हुए अपने अपने स्थानों को चले गए ॥ २२ ॥

विबुधानां समुद्योगं माल्यवांस्तु निशाचरः ।
श्रुत्वा तौ भ्रातरौ वीराविदं वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥

देवताओं के इस उद्योग का संवाद पा कर, माल्यवान अपने दोनों भाइयों से बोला ॥ २३ ॥

अमरा ऋषयश्चैव सगम्य किल शङ्करम् ।
अस्मद्वधं परीप्सन्त इदं वचनमब्रुवन् ॥ २४ ॥

देवताओं और ऋषियों ने हम लोगों का वध करवाने की कामना से शिव जी के पास जा, उनसे यह कहा ॥ २४ ॥

सुकेशतनया देव वरदानबलोद्धताः ।
बाधन्तेऽस्मान् समुद्दप्ता घोररूपाः पदे पदे[1] ॥ २५ ॥

हे देव ! सुकेश के भयङ्कररूपधारी पुत्र वरदान पा कर बड़े अभिमानी हो गए हैं। वे हम लोगों को प्रतिक्षण सताया करते हैं ॥ २५ ॥

राक्षसैरभिभूताः स्म न शक्ताः स्म प्रजापते ।
स्वेषु सद्मसु संस्थातुं भयात्तेषां दुरात्मनाम् ॥ २६ ॥

हे प्रजापते ! उन दुरात्माओं के उत्पातों और भय के कारण हम लोगों को अपने घरों में रहना कठिन हो गया है ॥ २६ ॥

तदस्माकं हितार्थाय जहि तांश्च त्रिलोचन ।
राक्षसान् हुंकृतेनैव दह प्रदहतांवर ॥ २७ ॥

---

१ पदे पदे—प्रतिक्षण मित्यर्थः । (गो०)

अतएव हे त्रिलोचन ! हम लोगों की भलाई के लिए आप उन सबको मारिए। हे भस्म करने वालों में श्रेष्ठ ! आप हुंकार ही से उन समस्त राक्षसों को भस्म कर डालिए ॥ २७ ॥

इत्येवं त्रिदशैरुक्तो निशम्यान्धकसूदनः ।

शिरः करं च धुन्वान इदं वचनमब्रवीत् ॥ २८ ॥

अन्धकासुर के मार डालने वाले महादेव जी ने, देवताओं के इन वचनों को सुन, अपने सिर को हाथ से धुन कर, यह कहा ॥ २८ ॥

अवध्या मम ते देवाः सुकेशतनया रणे ।

मन्त्रं तु वः प्रदास्यामि यस्तान् वै निहनिष्यति ॥२९॥

हे देवताओ! मैं युद्ध में सुकेश के पुत्रों को नहीं मार सकता, क्योंकि वे मेरे हाथ से नहीं मर सकते। किन्तु जो उन्हें मार सकता है, उसके विषय में, मैं तुमको उपाय बतलाता हूँ ॥२९॥

योसौ चक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः ।

हरिर्नारायणः श्रीमान् शरणं तं प्रपद्यथ ॥ ३० ॥

जो चक्र और गदाधारी हैं, जो पीतवस्त्र पहिनते हैं, जिनके नाम जनार्दन, हरि और नारायण हैं, उन श्रीयुक्त भगवान् विष्णु के तुम सब लोग शरण हो ॥ ३० ॥

हरादवाप्य ते मन्त्रं कामारिमभिवाद्य च ।

नारायणालयं प्राप्य तस्मै सर्वं न्यवेदयन् ॥ ३१ ॥

महादेव जी के बतलाए, इस उपाय को सुन और उनको प्रणाम कर, वे समस्त देवता वैकुण्ठ में पहुँचे और श्रीमन्नारायण से सारा वृत्तान्त कहा ॥ ३१ ॥

ततो नारायणेनोक्ता देवा इन्द्रपुरोगमाः ।
सुरारींस्तान् हनिष्यामि सुरा भवत निर्भयाः* ॥३२॥

तब नारायण ने इन इन्द्रप्रमुख समस्त देवताओं से कहा कि, मैं देवताओं के उन शत्रुओं को अवश्य मारूँगा। तुम सब अब निर्भय हो जाओ ॥ ३२ ॥

देवानां भयभीतानां हरिणा राक्षसर्षभौ ।
प्रतिज्ञातो वधोऽस्माकं चिन्त्यतां यदिह क्षमम् ॥३३॥

हे राक्षसश्रेष्ठो! भयभीत देवताओं से नारायण ने हम लोगों के मार डालने की प्रतिज्ञा की है। अतः अब जो उचित हो वह विचारना चाहिए ॥ ३३ ॥

हिरण्यकशिपोर्मृत्युरन्येषां च सुरद्विषाम् ।
नमुचिः कालनेमिश्च संह्लादो वीरसत्तमः ॥ ३४ ॥
राधेयो बहुमायी च लोकपालोऽथ धार्मिकः ।
यमलार्जुनौ च हार्दिक्यः शुम्भश्चैव निशुम्भकः ॥३५॥
असुरा दानवाश्चैव सत्ववन्तो महाबलाः ।
सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्तेऽपराजिताः ॥ ३६ ॥

नारायण द्वारा हिरण्यकशिपु तथा अन्य भी देवताओं के शत्रु मारे गये हैं। इनके अतिरिक्त सुना जाता है कि नमुचि, कालनेमि, वीरश्रेष्ठ सह्लाद, अनेक प्रकार की माया जानने वाला राधेय, धार्मिक लोकपाल, यमल, अर्जुन, हार्दिक्य, शुम्भ, निशुम्भ आदि बड़े बड़े पराक्रमी और महाबली असुरों तथा दानवों को, विष्णु युद्ध में परास्त कर चुके हैं ॥३४॥३५॥३६॥

*पाठान्तरे—"विज्वराः ।"

सर्वे क्रतुशतैरिष्टं सर्वे मायाविदस्तथा ।
सर्वे सर्वास्त्रकुशलाः सर्वे शत्रुभयङ्कराः ॥ ३७ ॥

विशेष कर वे सब सैकड़ों यज्ञ करनेवाले, विविध प्रकार मायाओं के जानने वाले और समस्त अस्त्रों के चलाने में पुण थे तथा शत्रुओं को भयभीत करने वाले थे ॥ ३० ॥

नारायणेन निहताः शतशोथ सहस्रशः ।
एतज्ज्ञात्वा तु सर्वेषां क्षमं कर्तुमिहार्हथ ॥ ३८ ॥

ऐसे सैकड़ों हज़ारों देवताओं के शत्रुओं को भगवान् विष्णु मार डाला है। अतएव इस विषय में जो उचित करना मझ पड़े सो अब करना चाहिए ॥ ३८ ॥

ततः सुमाली माली च श्रुत्वा माल्यवतो वचः ।
ऊचतुर्भ्रातरं ज्येष्ठमश्विनाविव वासवम्* ॥ ३९ ॥

तब माल्यवान के इन वचनों को सुन, माली और सुमाली पने बड़े भाई माल्यवान से वैसे ही बोले जैसे दोनों अश्विनी-मार इन्द्र से बोलते हैं ॥ ३९ ॥

स्वधीतं दत्तमिष्टं च ऐश्वर्यं परिपालितम् ।
आयुर्निरामयं प्राप्तं सुधर्मः** स्थापितः पथि ॥ ४० ॥

भाई ! हम लोगों ने विधिपूर्वक वेद पढ़ा, दान दिए, यज्ञ ए, ऐश्वर्य की वृद्धि कर उसका भोग किया। दीर्घआयु और ारोग्यता पाई, हमने अच्छे धर्म की स्थापना की ॥ ४० ॥

---

*पाठान्तरे—"मगांशाविव वासवम् ।" **पाठान्तरे—"प्रश्रितः ।"

देवसागरमक्षोभ्यं शस्त्रैः समवगाह्य च ।
जिता द्विषो ह्यप्रतिमास्तन्नो मृत्युकृतं भयम् ॥ ४१ ॥

देवतारूपी अक्षोभ्य समुद्र को हमने शस्त्रों से क्षुब्ध किया और बड़े-बड़े शत्रुओं को पराजित किआ। सो अब हमको मृत्यु का तो भय है नहीं ॥४१॥

नारायणश्च रुद्रश्च शक्रश्चापि यमस्तथा ।
अस्माकं प्रमुखे स्थातुं सर्वे बिभ्यति सर्वदा ॥ ४२ ॥

देखो नारायण, रुद्र, इन्द्र और यम भी हमारा सामना करने में सदा डरा करते हैं ॥४२॥

विष्णोर्द्वेषस्य नास्त्येव कारणं राक्षसेश्वर ।
देवानामेव दोषेण विष्णोः प्रचलितं मनः ॥ ४३ ॥

हे राक्षसेश्वर ! फिर विष्णु के साथ हमारा कोई द्वेष भी नहीं है। परन्तु सम्भव है, देवताओं के उभाड़ने से वे हम लोगों के विरुद्ध हो गये हों अथवा उनका मन हमारी ओर से फिर गया हो ॥४३॥

*तस्मादद्यैव सहिताः सर्वेऽन्योन्य समावृताः ।
देवानेव जिघांसामो येभ्यो दोषः समुत्थितः ॥ ४४ ॥

अत. हम सब अन्य राक्षसों को साथ ले, आज ही उन देवताओं को मार डालें, जिनके उभाड़ने से विष्णु हमको मारने के लिए उद्यत हुए हैं ॥४४॥

एवं संमन्त्र्य बलिनः सर्वे सैन्यमुपासिताः ।
उद्योगं घोषयित्वा तु सर्वे नैर्ऋतपुङ्गवाः ॥ ४५ ॥

---

*पाठान्तरे—"तस्मादद्य समुद्युक्ताः सर्वसैन्यसमावृताः । देवानेव जिघांसाम एभ्यो दोषः समुत्थितः ॥" †पाठान्तरे—"सैन्यसमावृताः ।"

इस प्रकार सलाह कर और युद्ध की घोषणा कर, साथ में सेना ले उन बलवानों ने मारू बाजा बजवाते हुए, देवताओं के ऊपर चढ़ाई की ॥४५॥

युद्धाय निर्ययुः क्रुद्धा जृम्भवृत्रादयो* यथा ।
इति ते राम संमन्त्र्य सर्वोद्योगेन राक्षसाः ॥ ४६ ॥

युद्धाय निर्ययुः सर्वे महाकाया महाबलाः ।
स्यन्दनैर्वारणैश्चैव हयैश्च करिसन्निभैः† ॥ ४७ ॥

हे राम! इस तरह सब प्रकार से तैयारी कर और युद्ध के लिए देवताओं को ललकारते हुए, राक्षस लोग क्रोध में भर उसी प्रकार युद्ध करने के लिए निकले, जिस प्रकार जृम्भ, वृत्रासुरादि निकले थे। वे महाकाय और महाबलवान राक्षस रथों पर, हाथियों पर और हाथियों के समान ऊँचे घोड़ों पर सवार होकर, लड़ने को गए ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

खरैर्गोभि रथोष्ट्रैश्च शिशुमारैर्भुजङ्गमैः ।
मकरैः कच्छपैर्मीनैर्विहङ्गैर्गरुडोपमैः ॥ ४८ ॥

सिंहैर्व्याघ्रैर्वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि ।
त्यक्त्वा लङ्कां गताः सर्वे राक्षसा बलगर्विताः ॥ ४९ ॥

बहुत से राक्षस गधों, बैलों, ऊँटों, सूसों, साँपों, घड़ियालों, कछुओं, मच्छों और गरुड़ के समान पक्षियों, सिंहों, व्याघ्रों, वराहों, सृमरों व चमरों पर सवार थे। वे बल के अहंकार में चूर, लङ्का से रवाना हुए ॥४८॥४९॥

प्रयाता देवलोकाय योद्धुं दैवतशत्रवः ।
लङ्काविपर्ययं दृष्ट्वा यानि लङ्कालयान्यथ ॥ ५० ॥

---

*पाठान्तरे–"जृम्भवृत्रबला इव"। †पाठान्तरे–"गिरिसन्निभैः"।

ये देवताओं के शत्रु जिस समय लड़ने के लिए देवलोक को रवाना हुए, उस समय लङ्का के अन्य रहने वालों ने वहाँ बड़ी उथल पुथल देखी ॥५०॥

भूतानि भयदर्शीनि विमनस्कानि सर्वशः ।
रथोत्तमैरुह्यमानाः शतशोथ सहस्रशः ॥ ५१ ॥
प्रयाता राक्षसास्तूर्णं देवलोकं प्रयत्नतः ।
रक्षसामेव मार्गेण दैवतान्यपचक्रमुः ॥ ५२ ॥

उस समय लङ्का में जितने भयदर्शी प्राणी थे, वे सब उदास हो गए। श्रेष्ठ रथों पर सवार हो सैकड़ों हजारों राक्षस अति सावधानी से देवलोक की ओर चल पड़े। लङ्कावासी देवता भी उसी मार्ग से चले जिस मार्ग से राक्षस चढ़ाई करने गए थे ॥५१॥५२॥

भौमाश्चैवांतरिक्षाश्च कालाज्ञप्ता भयावहाः ।
उत्पाता राक्षसेन्द्राणामभवाय समुत्थिताः ॥ ५३ ॥

उस समय धरती पर और आकाश में ऐसे बड़े-बड़े उत्पात (अशकुन) हुए, जो बड़े भयङ्कर थे और काल से प्रेरित राक्षसनाथ के नाश की सूचना देने वाले थे ॥५३॥

अस्थीनि मेघा ववृषुरुष्णं शोणितमेव च ।
वेलां समुद्राश्चोत्क्रान्ताश्चेलुश्चाप्यथ भूधराः ॥ ५४ ॥
अट्टहासान्विमुञ्चन्तो घननादसमस्वनाः ।
वाश्यन्त्यश्च शिवास्तत्र दारुणं घोरदर्शनाः ॥ ५५ ॥

बादलों से हड्डियों और गर्म-गर्म लोहू की वर्षा हुई, समुद्र अपनी मर्यादाएँ छोड़, ऊँची-ऊँची लहरों से लहराने लगे।

पहाड़ काँप उठे। भयानक रूप वाली सियारनें मेघगर्जन की तरह अट्टहास करतीं हुईं, बड़े जोर से चिल्लाने लगीं ॥५४॥५५॥

सम्पतन्त्यथ भूतानि दृश्यन्ते च यथाक्रमम् ।
गृध्रचक्रं महाच्चात्र प्रज्वालोद्गारिभिर्मुखैः ॥ ५६ ॥
रक्षोगणस्योपरिष्टात्परिभ्रमति कालवत् ।

भयानक भूत (प्रेत) यथाक्रम एकत्र हो गए अथवा पञ्चभूत—जल, तेज, वायु, आकाश, पृथिवी यथाक्रम विचलित होते हुए से देख पड़े। गीधों के झुंड मुँह से अग्नि की ज्वालाएँ निकालते हुए काल की तरह राक्षसी सेना के ऊपर चारो ओर घूमने लगे। कबूतर, हंस और मैनाएँ घबड़ा कर भाग गईं ॥५६॥५७॥

कपोता रक्तपादाश्च सारिका विद्रुता ययुः ॥ ५७ ॥
काका वाश्यन्ति तत्रैव विडालाय द्विपादिकाः ।
उत्पातांस्ताननादृत्य राक्षसा बलदर्पिताः ॥ ५८ ॥

कौएं चिल्लाने लगे और दो पैर के विडाल (विशेष) प्रकट हुए। किन्तु इन सब अपशकुनों की कुछ भी परवाह न कर, क्योंकि वे तो अपने बल के अहंकार में चूर हो रहे थे ॥५८॥

यान्त्येव न निवर्तन्ते मृत्युपाशावपाशिताः ।
माल्यवांश्च सुमाली च माली च सुमहाबलः ॥५६॥
पुरस्सरा राक्षसानां ज्वलिता इव पावकाः ।
माल्यवन्ततु ते सर्वे माल्यवन्तमिवाचलम् ॥ ६० ॥
निशाचरा आश्रयन्ति धातारमिव देवताः ।
तद्बलं राक्षसेन्द्राणां महाभ्रघननादितम् ॥ ६१ ॥

वे आगे ही बढ़ते चले गये, लौटे नहीं। उनके सिरों पर तो काल मँडरा रहा था। महाबली माल्यवान, सुमाली और माली धधकती हुई आग की तरह सेना के आगे आगे जा रहे थे। पर्वत के समान माल्यवान का ये सब राक्षस अनुसरण वैसे ही कर रहे थे, जैसे देवता लोग ब्रह्मा जी का अनुसरण करते हैं। वह राक्षस वीरों की सेना महामेघ की तरह गर्जती हुई ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥

जयेप्सया देवलोकं ययौ मालिवशे स्थितम् ।
राक्षसानां समुद्योगं तं तु नारायणः प्रभुः ॥ ६२ ॥
देवदूतादुपश्रुत्य चक्रे युद्धे तदा मनः ।
स सज्जायुधतूणीरो वैनतेयोपरि स्थितः ॥ ६३ ॥

माली के अधीन में जय की अभिलाषा से देवताओं के लोक में गई। देवदूत के मुख से राक्षसों की चढ़ाई का वृत्तांत सुन कर, भगवान् नारायण ने भी राक्षसों से युद्ध करने की ठानी। सब आयुधों से सज और तरकस धारण कर, वे गरुड़ के ऊपर सवार हुए ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

*आसाद्य कवचं दिव्यं सहस्रार्कसमद्युति ।
आबध्य शरसम्पूर्णौ इषुधी विमले तदा ॥ ६४ ॥
श्रोणिसूत्रं च खड्गं च विमलं कमलेक्षणः ।
शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गखड्गांश्चैव वरायुधान् ॥ ६५ ॥

उन्होंने सहस्र सूर्य के समान चमचमाता कवच धारण कर और बाणों से भरे दो तरकस लिए। कटिसूत्र धारण किए हुए कमलनयन नारायण ने एक चमचमाता खड्ग लिया। इसके

---

* पाठान्तरे—"आसज्य"।

अतिरिक्त उन्होंने पाञ्चजन्य शङ्ख, सुदर्शनचक्र, कौमोदकी, गदा, नंदकी खड्ग और शार्ङ्ग धनुष लिया। ये उनके आयुध बड़े श्रेष्ठ थे ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

सम्पूर्णं गिरिसङ्काशं वैनतेयमथास्थितः ।
राक्षसानामभावाय ययौ तूर्णतरं प्रभुः ॥ ६६ ॥

फिर पर्वताकार गरुड़ पर सवार हो, समस्त राक्षसों का नाश करने के लिए वे बड़ी शीघ्रता से चले ॥ ६६ ॥

सुपर्णपृष्ठे स बभौ श्यामः पीताम्बरो हरिः
काञ्चनस्य गिरेः शृङ्गे सतडित्तोयदो यथा ॥ ६७ ॥

श्याम स्वरूप, पीताम्बर पहिने और गरुड़ की पीठ पर सवार श्रीनारायण सुमेरुपर्वतस्थित बिजलीसहित मेघ के समान शोभित हो रहे थे ॥ ६७ ॥

स सिद्धदेवर्षिमहोरगैश्च
गन्धर्वयक्षैरुपगीयमानः ।
समाससादासुरसैन्यशत्रु-
श्चक्रासि शार्ङ्गायुधशङ्खपाणिः ॥ ६८ ॥

असुरों की सेना के वैरी भगवान् विष्णु, सुदर्शन चक्र, नंदकी खड्ग धनुष और पाञ्चन्य शङ्ख धारण किए हुए तुरंत वहाँ जा उपस्थित हुए। सिद्ध, देवर्षि, महानाग गंधर्व तथा यक्ष उस समय उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ६८ ॥

सुपर्णपक्षानिलनुन्नपक्षं
भ्रमत्पताकं प्रविकीर्णशस्त्रम् ।

चचाल तद्राक्षसराजसैन्यं
चलोपलं नीलमिवाचलाग्रम् ॥ ६९ ॥

गरुड़ जी के पंखों के पवन से राक्षसी सेना की पताकाएँ फट गईं—सैनिकों के हाथों से हथियार छूट पड़े और राक्षस-राज की सेना के राक्षस वीर वैसे ही काँप उठे, जैसे नीलवर्ण पर्वत का शिखर काँपने लगता है ॥ ६९ ॥

ततः शितैः शोणितमांसरूषितैः
युगान्तवैश्वानरतुल्यविग्रहैः ।
निशाचराः सम्परिवार्य माधवं
वरायुधैर्निर्बिभिदुः सहस्रशः ॥ ७० ॥

इति षष्ठः सर्गः ।

तदनन्तर हजारों राक्षस माधव को, चारों ओर से घेर कर रुधिर और मांस से सने प्रलयकालीन अग्नि के समान चमचमाते, पैने और श्रेष्ठ आयुधों से मारने लगे ॥ ७० ॥

उत्तरकाण्ड का छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:-❀-:—

सप्तमः सर्गः

—:-❀-:—

नारायणगिरिं ते तु गर्जन्तो राक्षसाम्बुदाः ।
अर्दयन्तोऽस्त्रवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ॥ १ ॥

गर्जते हुए मेघरूपी राक्षस, पर्वतीरूपी श्रीनारायण से ऊपर अस्त्ररूपी जल की वैसे ही वर्षा करने लगे, जैसे मेघ जल की वर्षा पर्वत के ऊपर करते हैं ॥ १ ॥

श्यामावदातस्तैर्विष्णुर्नीलैर्नक्तंचरोत्तमैः ।
वृतोऽञ्जनगिरीवायं वर्षमाणैः पयोधरैः ॥ २ ॥

श्याम एवं निर्मलवर्ण वाले श्रीनारायण, नीले रंग की कान्ति वाले राक्षसों से घेरे जा कर, ऐसे जान पड़े, मानों वर्षा करते हुए मेघों द्वारा अंजन का पर्वत ढक गया हो ॥ २ ॥

शलभा इव केदारं मशका इव पावकम् ।
यथाऽमृतघटं दंशा मकरा इव चार्णवम् ॥ ३ ॥
तथा रक्षोधनुर्मुक्ता वज्रानिलमनोजवाः ।
हरिं विशन्ति स्म शरा लोका इव विपर्यये ॥ ४ ॥

जिस प्रकार खेतों के ऊपर टीड़ियाँ, आग के ऊपर मच्छर शहद के घड़े पर डाँस और समुद्र में मगर गिरते हैं, उसी प्रकार राक्षसों के छोड़े हुए वायु और मन के समान वेगवान् और वज्र के तुल्य कठोर बाण, नारायण के शरीर में वैसे ही घुसने लगे, जैसे प्रलयकाल में जीव भगवान् के शरीर में समा जाते हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

स्यन्दनैः स्यन्दनगता गजैश्च गजमूर्धगाः* ।
अश्वारोहास्तथाऽश्वैश्च पादाताश्चाम्बरे स्थिताः ॥५॥
राक्षसेन्द्रा गिरिनिभाः शरैः शक्त्यृष्टितोमरैः ।
निरुच्छ्वासं हरिं चक्रुः प्राणायाम इव द्विजम् ॥ ६ ॥

---

*पाठान्तरे—"गजपृष्ठगाः" ।

राक्षसी सेना के पर्वताकार योद्धाओं ने रथों पर चढ़ कर, हाथियों और घोड़ों पर सवार हो कर, पाँव प्यादे तथा आकाश में खड़े हो कर, बाणों, शक्तियों यष्टियों और तोमरों की वर्षा कर उनसे नारायण को ढक दिया। शस्त्रों से राक्षसों ने नारायण को ऐसा ढका कि, वे वैसे ही श्वास रहित हो गए, जैसे प्राणायाम करते समय ब्राह्मण श्वासरहित सा जान पड़ता है ॥ ५ ॥ ६ ॥

निशाचरैस्ताड्यमाने मीनैरिव महोदधिः ।
शार्ङ्गमायम्य दुर्धर्षो राक्षसेभ्योऽसृजच्छरान् ॥ ७ ॥

श्रीनारायण उनके प्रहारों को वैसे ही सह रहे थे, जैसे मछलियों के वेग को समुद्र सह लेता है। तदनन्तर भगवान् विष्णु ने शार्ङ्ग धनुष हाथ में ले, राक्षसों के ऊपर बाण चलाना आरंभ किया ॥ ७ ॥

शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैर्वज्रकल्पैर्मनोजवैः ।
चिच्छेद विष्णुर्निशितैः शतशोथ सहस्रशः ॥ ८ ॥

वज्र के समान कठोर, और मन के समान वेगवान पैने बाणों से भगवान् विष्णु ने, सैकड़ों हजारों राक्षसों को मार डाला ॥ ८ ॥

विद्राव्य शरवर्षेण वर्षं वायुरिवोत्थितम् ।
पाञ्चजन्यं महाशङ्खं प्रदध्मौ पुरुषोत्तमः ॥ ९ ॥

जैसे पवन बादलों को उड़ाता है, वैसे ही भगवान् विष्णु ने बाणों की मार से सब राक्षसों को भगा कर, अपना पाञ्चजन्य महाशंख बजाया ॥ ९ ॥

सोऽम्बुजो हरिणा ध्मातः सर्वप्राणेन शङ्खराट् ।
ररास भीमनिर्ह्रादस्त्रैलोक्यं व्यथयन्निव ॥ १० ॥

जब जल से निकले हुये उस शंखश्रेष्ठ को भगवान् विष्णु ने बड़े जोर से बजाया, तब उस शंखराज का नाद तीनों लोकों में व्याप्त हो गया और उसने उन तीनों लोकों के रहने वालों को दुःखी सा कर डाला ॥ १० ॥

शङ्खराजरवः सोऽथ त्रासयामास राक्षसान् ।
मृगराज इवारण्ये समदानिव कुञ्जरान् ॥ ११ ॥

उस शंखश्रेष्ठ के नाद को सुन, राक्षस वैसे ही भयभीत हुए, जैसे वन में सिंहनाद से मतवाले हाथी भयभीत होते हैं ॥ ११ ॥

नशेकुरश्वाः संस्थातुं विमदाः कुञ्जराभवन् ।
स्यन्दनेभ्यश्च्युता वीराः शङ्खरावित दुर्बलाः ॥ १२ ॥

उस समय घोड़े वहाँ खड़े न रह सके [भड़के और भाग खड़े हुए] हाथियों की मस्ती दूर हो गई। उस शंखध्वनि को राक्षस बलहीन हो रथों से नीचे गिर पड़े ॥ १२ ॥

शार्ङ्गचापविनिर्मुक्ता वज्रतुल्याननाः शराः ।
विदार्य तानि रक्षांसि सुपुङ्खा विविशुः क्षितिम् ॥ १३ ॥

शार्ङ्ग धनुष से छूटे हुए, वज्र के समान मुखवाले तथा अच्छे फोंकदार बाण, राक्षसों के शरीरों के आर पार हो, पृथ्वी में घुस गए ॥ १३ ॥

भिद्यमानाः शरैः संख्ये नारायणकरच्युतैः ।
निपेतू राक्षसा भूमौ शैला वज्रहता इव ॥ १४ ॥

इस प्रकार उस युद्ध में भगवान् के बाणों से छिन्न भिन्न हो कर, सब राक्षस, वज्राहत पर्वतों की तरह, पृथ्वी पर गिर गए ॥ १४ ॥

व्रणानि परगात्रेभ्यो विष्णुचक्रकृतानि हि ।
असृक्क्षरन्ति धाराभिः स्वर्णधारा इवाचलाः ॥ १५ ॥

राक्षसों के शरीर चक्र के प्रहार से घायल हो गए थे। उन घावों से बहता हुआ रक्त ऐसा जान पड़ता था, मानों पर्वतों से स्वर्ण की धाराएँ बहती हों ॥ १५ ॥

शङ्खराजरवश्चापि शार्ङ्गचापरवस्तथा ।
राक्षसानां रवांश्चापि ग्रसते वैष्णवो रवः ॥ १६ ॥

शङ्खराज की ध्वनि, शार्ङ्ग धनुष की टंकार, तथा भगवान विष्णु के सिंहनाद ने राक्षसों के गर्जन को दबा दिया ॥ १६ ॥

तेषां शिरोधरान् धूताञ्छरध्वजधनूंषि च ।
रथान् पताकास्तूणीरांश्चिच्छेद स हरिः शरैः ॥ १७ ॥

भगवान् विष्णु राक्षसों की काँपती हुई गर्दनों, बाणों, ध्वजाओं, धनुषों, रथों, पताकाओं और तरकसों को अपने पैने बाणों से काट रहे थे ॥ १७ ॥

सूर्यादिव करा घोरा ऊर्मयः सागरादिव ।
पर्वतादिव नागेन्द्रा धारौघा इव चाम्बुदात् ॥ १८ ॥
तथा शार्ङ्गविनिर्मुक्ताः शरा नारायणेरिताः ।
निर्धावन्तीषवस्तूर्णं शतशोथ सहस्रशः ॥ १९ ॥

जैसे सूर्य से प्रकाश की किरनें और समुद्र से जल की तरंगें उठती हैं, वैसे ही भगवान् विष्णु के शार्ङ्गधनुष से सैकड़ों हज़ारों बाण बड़ी तेजी से निकल रहे थे ॥ १८ ॥ १९ ॥

सोम्बुजो हरिणा ध्मातः सर्वप्राणेन शङ्खराट् ।
ररास भीमनिर्ह्रादस्त्रैलोक्यं व्यथयन्निव ॥ १० ॥

जब जल से निकले हुये उस शंखश्रेष्ठ को भगवान् विष्णु ने बड़े जोर से बजाया, तब उस शंखराज का नाद तीनों लोकों में व्याप्त हो गया और उसने उन तीनों लोकों के रहने वालों को दुःखी सा कर डाला ॥ १० ॥

शङ्खराजरवः सोथ त्रासयामास राक्षसान् ।
मृगराज इवारण्ये समदानिव कुञ्जरान् ॥ ११ ॥

उस शंखश्रेष्ठ के नाद को सुन, राक्षस वैसे ही भयभीत हुए, जैसे वन में सिंहनाद से मतवाले हाथी भयभीत होते हैं ॥११॥

नशेकुरश्वाः संस्थातुं विमदाः कुञ्जराभवन् ।
स्यन्दनेभ्यश्च्युता वीराः शङ्खरावित दुर्बलाः ॥ १२॥

उस समय घोड़े वहाँ खड़े न रह सके [भड़के और भाग खड़े हुए] हाथियों की मस्ती दूर हो गई। उस शंखध्वनि को राक्षस बलहीन हो रथों से नीचे गिर पड़े ॥ १२ ॥

शार्ङ्गचापविनिर्मुक्ता वज्रतुल्याननाः शराः ।
विदार्य तानि रक्षांसि सुपुङ्खा विविशुः क्षितिम् ॥१३॥

शार्ङ्ग धनुष से छूटे हुए, वज्र के समान मुखवाले तथा अच्छे फोंखदार बाण, राक्षसों के शरीरों के आर पार हो, पृथ्वी में घुस गए ॥ १३ ॥

भिद्यमानाः शरैः संख्ये नारायणकरच्युतैः ।
निपेतू राक्षसा भूमौ शैला वज्रहता इव ॥ १४ ॥

इस प्रकार उस युद्ध में भगवान् के बाणों से छिन्न भिन्न हो कर, सब राक्षस, वज्राहत पर्वतों की तरह, पृथ्वी पर गिर गए ॥ १४ ॥

व्रणानि परगात्रेभ्यो विष्णुचक्रकृतानि हि ।

असृक्क्षरन्ति धाराभिः स्वर्णधारा इवाचलाः ॥ १५ ॥

राक्षसों के शरीर चक्र के प्रहार से घायल हो गए थे। उन घावों से बहता हुआ रक्त ऐसा जान पड़ता था, मानों पर्वतों से स्वर्ण की धाराएँ बहती हों ॥ १५ ॥

शङ्खराजरवश्चापि शार्ङ्गचापरवस्तथा ।

राक्षसानां रवांश्चापि ग्रसते वैष्णवो रवः ॥ १६ ॥

शङ्खराज की ध्वनि, शार्ङ्ग धनुष की टंकार, तथा भगवान विष्णु के सिंहनाद ने राक्षसों के गर्जन को दबा दिया । १६ ॥

तेषां शिरोधरान् धूतान्छरध्वजधनूंषि च ।

रथान् पताकास्तूणीरांश्चिच्छेद स हरिः शरैः ॥ १७ ॥

भगवान् विष्णु राक्षसों की काँपती हुई गर्दनों, बाणों, ध्वजाओं, धनुषों, रथों, पताकाओं और तरकसों को अपने पैने बाणों से काट रहे थे ॥ १७ ॥

सूर्यादिव करा घोरा ऊर्मयः सागरादिव ।

पर्वतादिव नागेन्द्रा धारौघा इव चाम्बुदात् ॥ १८ ॥

तथा शार्ङ्गविनिर्मुक्ताः शरा नारायणेरिताः ।

निर्धावन्तीषवस्तूर्णं शतशोथ सहस्रशः ॥ १९ ॥

जैसे सूर्य से प्रकाश की किरनें और समुद्र से जल की तरंगे उठती हैं, वैसे ही भगवान् विष्णु के शार्ङ्गधनुष से सैकड़ों हजारों बाण बड़ी तेजी से निकल रहे थे ॥ १८ ॥१९ ॥

शरभेण यथा सिंहाः सिंहेन द्विरदा यथा ।
द्विरदेन यथा व्याघ्रा व्याघ्रेण द्वीपिनो यथा ॥२०॥
द्विपिनेव यथा श्वानः शुना मार्जारका यथा ।
मार्जारेण यथा सर्पाः सर्पेण च यथाऽऽखवः ॥ २१ ॥
तथा ते राक्षसाः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना ।
द्रवन्ति द्राविताश्चान्ये शायिताश्च महीतले ॥ २२ ॥

जैसे शरभ से सिंह, सिंह से हाथी, हाथी से व्याघ्र, व्याघ्र से चीता, चीते से कुत्ता, कुत्ता से बिल्ली, बिल्ली से सर्प और सर्प से चूहे भागते हैं, वैसे ही भगवान् विष्णु से भयभीत हो, वे राक्षस भागे और उनमें से बहुत से निर्जीव हो, पृथ्वी पर सदा के लिए सो गए ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

राक्षसानां सहस्राणि निहत्य मधुसूदनः ।
वारिजं[1] पूरयामास तोयदं सुरराडिव ॥ २३ ॥

इस प्रकार भगवान् मधुसूदन ने वैसे ही हजारों राक्षसों को मार कर अपना शङ्ख बजाया जैसे इन्द्र के बादल गर्जते हैं ॥ २३ ॥

नारायणशरत्रस्तं शङ्खनादसुविह्वलम् ।
ययौ लङ्कामभिमुखं प्रभग्नं राक्षसं बलम् ॥ २४ ॥

भगवान विष्णु के बाणों की मार से भयभीत हो तथा शङ्खध्वनि से घबड़ा कर, राक्षसी सेना लङ्का की ओर मुख कर और तितर बितर हो, भाग खड़ी हुई ॥ २४ ॥

---

१ वारिजं—शङ्खं । (शि०)

प्रभग्ने राक्षसबले नारायणशराहते ।
सुमाली शरवर्षेण निववार रणे हरिम् ॥ २५ ॥

तब अपनी सेना को तितर बितर हो भागते देख, सुमाली ने बाणों की वर्षा कर भगवान् विष्णु को युद्ध से निवृत्त करना चाहा ॥ २५ ॥

स तु तं छादयामास नीहार इव भास्करम् ।
राक्षसाः सत्वसम्पन्नाः पुनर्धैर्यं समादधुः ॥ २६ ॥

उसने बाणों की वर्षा कर, भगवान् विष्णु को ऐसे ढक दिआ, जैसे कुहरा सूर्य को ढक देता है। सुमाली का ऐसा पराक्रम देख, बलवान राक्षस सैनिकों को धीरज बँधा ॥ २६ ॥

अथ सोऽभ्यपतद्रोषाद्राक्षसो बलदर्पितः ।
महानादं प्रकुर्वाणो राक्षसाञ्जीवयन्निव ॥ २७ ॥

सुमाली को अपने बल का बड़ा अहंकार था, अतएव वह राक्षस बड़े ज़ोर से गर्जता हुआ, मानों उन (मृतप्राय) राक्षसों को फिर जिला रहा था ॥ २७ ॥

उत्क्षिप्य लम्बाभरणं धुन्वन्करमिव द्विपः ।
ररास राक्षसो हर्षात् सतडित्तोयदो यथा ॥ २८ ॥

सूँड़ उठाए हुए हाथी की तरह, भूषणों से भूषित हाथ ऊपर को उठाए और हर्षित हो, वह वैसे ही गर्जा, जैसे बिजलीयुक्त मेघ गर्जता है ॥ २८ ॥

सुमालेर्नदतस्तस्य शिरो ज्वलितकुंडलम् ।
चिच्छेद यन्तुरश्वाश्च भ्रान्तास्तस्य तु रक्षसः ॥ २९ ॥

जब सुमाली गर्जने लगा, तब भगवान् विष्णु ने उसके सारथी का कुण्डलों से झलमल करता हुआ सिर काट डाला। सारथी के मारे जाने पर, सुमाली के रथ के घोड़े अपनी इच्छानुसार रथ खींचते हुए, रणभूमि में इधर उधर घूमने लगे ॥ २९ ॥

तैरश्वैर्भ्राम्यते भ्रान्तैः सुमाली राक्षसेश्वरः ।
इन्द्रियाश्वैः परिभ्रान्तैर्धृतिहीनो यथा नरः ॥ ३० ॥

जिस प्रकार असंयमी नर की इन्द्रियाँ उसके वश में न रह कर, यथेष्ट कर्मों में प्रवृत्त हो जाया करती हैं; उसी प्रकार सुमाली के सारथिहीन रथ को घोड़े अपनी इच्छानुसार लिये हुए इधर उधर घूमने लगे। अथवा उन घोड़ों के इधर उधर घूमने से रथ में बैठा सुमाली भी घूमने लगा, जैसे इन्द्रिय रूपी घोड़ों के घूमने से असंयमी पुरुष भ्रान्त हो, इधर उधर घूमा करता है ॥ ३० ॥

ततो विष्णुं महाबाहुं प्रापतन्तं रणाजिरे ।
हृते सुमालेरश्वैश्च रथे विष्णुरथं प्रति ।
माली चाभ्यद्रवद्युक्तः प्रगृह्य सशरासनम् ॥ ३१ ॥

जब सुमाली के घोड़े उसका रथ भगवान् विष्णु के सामने ले गए, तब अत्यन्त तपते हुए महाबाहु भगवान् विष्णु को रणभूमि में देख, सुमाली का भाई माली धनुष ले भगवान विष्णु की ओर झपटा। ३१ ॥

मालेर्धनुश्च्युता बाणाः कार्तस्वरविभूषिताः ।
विविशुर्हरिमासाद्य क्रौञ्चं पत्ररथा इव ॥ ३२ ॥

माली के धनुष से छूटे हुए सुवर्ण भूषित बाण, भगवान् विष्णु के शरीर में घुसने लगे, मानों क्रौंचाचल में पक्षी घुसते हों ॥ ३२ ॥

अर्द्यमानः शरैः सोथ मालिमुक्तैः सहस्रशः ।
चुक्षुभे न रणे विष्णुर्जितेन्द्रिय इवाधिभिः ॥ ३३ ॥

माली के चलाए हजारों बाणों के लगने पर भी भगवान् विष्णु युद्ध में ज़रा भी क्षुब्ध न हुए, जैसे जितेन्द्रिय पुरुष मानसिक चिन्ताओं से कभी क्षुब्ध नहीं होते ॥ ३३ ॥

अथ मौर्वीस्वनं कृत्वा भगवान् भूतभावनः ।
मालिनं प्रति बाणौघान् ससर्जासिगदाधरः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर गदाधारी, खड्गधारी, भूतभावन भगवान् विष्णुने धनुष को टंकार कर, माली के ऊपर बहुत से बाण छोड़े ॥३४॥

ते मालिदेहमासाद्य वज्रविद्युत्प्रभाः शराः ।
पिबन्ति रुधिरं तस्य नागा इव सुधारसम् ॥ ३५ ॥

वे बाण बिजली और वज्र के समान चमचमाते थे। उन बाणों ने माली के शरीर में घुस, उसका रक्त वैसे ही सोख लिया जैसे नाग सुधारस पी जाते हैं ॥ ३५ ॥

मालिनं विमुखं कृत्वा शङ्खचक्रगदाधरः ।
मालिमौलिं ध्वजं चापं वाजिनश्चाप्यपातयत् ॥३६॥

शङ्ख-चक्र-गदा-धारी भगवान् विष्णु ने माली को युद्ध से विमुख कर उसका मुकुट, ध्वजा और धनुष को काट कर, उसके रथ के घोड़ों को भी मार कर गिरा दिया ॥ ३६ ॥

विरथस्तु गदां गृह्य माली नक्तंचरोत्तमः ।
आपुप्लुवे गदापाणिर्गिर्यग्रादिव केसरी ॥ ३७ ॥

रथ के नष्ट हो जाने पर, निशाचरोत्तम माली हाथ में गदा ले रथ से ऐसे कूदा, जैसे पर्वत शिखर से सिंह कूदे या उछले ॥ ३७ ॥

गदया गरुडेशानमीशानमिव चान्तकः ।
ललाटदेशेऽभ्यहनद्वज्रेणेन्द्रो यथाऽचलम् ॥ ३८ ॥

जैसे शिव जी के ऊपर यमराज ने अस्त्रप्रहार किआ था। अथवा जैसे इन्द्र ने पर्वतों पर वज्रप्रहार किआ था, वैसे ही माली ने गरुड़ जी के ललाट पर गदा का प्रहार किआ ॥ ३८ ॥

गदयाभिहतस्तेन मालिना गरुडो भृशम् ।
रणात् पराङ्मुखं देवं कृतवान् वेदनातुरः ॥ ३९ ॥

उस गदा के प्रहार की पीड़ा से विकल हो, गरुड़ जी वहाँ न ठहर सके और भगवान विष्णु को उन्होंने युद्ध से विमुख कर दिआ ॥ ३९ ॥

पराङ्मुखे कृते देवे मालिना गरुडेन वै ।
उदतिष्ठन् महाञ्शब्दो रक्षसामभिनर्दताम् ॥ ४० ॥

माली की गदा के प्रहार से विकल गरुड़ द्वारा, भगवान् विष्णु के युद्ध से विमुख होने पर, राक्षसों ने बड़ा नाद किआ ॥ ४० ॥

रक्षसां रुवतां रावं श्रुत्वा हरिहयानुजः[1] ।
तिर्यगास्थाय संक्रुद्धः पक्षीशे भगवान् हरिः ॥ ४१ ॥

---

1 हयानुजः—इन्द्रानुजः । (गो०)

गर्जते हुए उन राक्षसों का वह सिंहनाद इन्द्रानुज ने सुना और उसे सुन वे क्रुद्ध हुए। तब पक्षिराज गरुड़ की पीठ पर पूँछ की ओर मुख कर भगवान् विष्णु ने ॥ ४१ ॥

पराङ्मुखोऽप्युत्ससर्ज मालेश्चक्रं जिघांसया ।
तत्सूर्यमण्डलाभासं स्वभासा भासयन्नभः ॥ ४२ ॥

गरुड़ जी द्वारा युद्ध से विमुख किए जाने पर भी, माली का वध करने के लिए चक्र चलाया। सूर्य की तरह प्रकाशमान और अपने प्रकाश से आकाश को प्रकाशित करते हुये ॥ ४२ ॥

कालचक्रनिभं चक्रं मालेः शीर्षमपातयत् ।
तच्छिरो राक्षसेन्द्रस्य चक्रोत्कृत्तं विभीषणम् ।
पपात रुधिरोद्गारि पुरा राहुशिरो यथा ॥ ४३ ॥

कालचक्र के समान प्रभावान् सुदर्शन चक्र ने माली का सिर काट कर धड़ से अलग कर दिआ। राक्षसराज का यह अत्यन्त भयङ्कर मस्तक चक्र से कट कर, रुधिर उगलता हुआ भूमि पर वैसे ही गिर पड़ा जैसे पूर्वकाल मे राहु का सिर चक्र से कट कर गिरा था ॥ ४३ ॥

ततः सुरैः सम्प्रहृष्टैः सर्वप्राणसमीरितः ।
सिंहनादरवो मुक्तः साधु देवेतिवादिभिः ॥ ४४ ॥

यह देख देवता अत्यन्त हर्षित हो "धन्य हो महाराज"—कह कर और सब मिल कर बड़े जोर से सिंहनाद करने लगे ॥ ४४ ॥

मालिनं निहतं दृष्ट्वा सुमाली माल्यवानपि ।
सबलौ शोकसन्तप्तौ लङ्कामेव प्रधावितौ ॥ ४५ ॥

माली का इस प्रकार मारा जाना देख, सुमाली और माल्य-वान भी शोकसंतप्त हो, सेनासहित लङ्का की ओर भाग गए ॥४५॥

गरुडस्तु समाश्वस्तः सन्निवृत्य यथा पुरा ।
राक्षसान् द्रावयामास पक्षवातेन कोपितः ॥ ४६ ॥

इतने में गरुड़ जी भी स्वस्थ हो गए पूर्ववत् पुनः रणभूमि में आ कर और क्रोध में भर, अपने पंखों के पवन से राक्षसों को भगाने लगे ॥ ४६ ॥

चक्रकृत्तास्यकमला गदासंचूर्णितोरसः ।
लाङ्गलग्लापितग्रीवा मुसलैर्भिन्नमस्तकाः ॥ ४७ ॥

भगवान् विष्णु ने बहुत से राक्षसों के मुखकमल चक्र से काटे, किसी की छाती को गदा से चूर्ण कर दिया, किसी की गर्दन में हल डाल कर उसे खींचा और उसको मार डाला, बहुतों के सिर मूसल के प्रहार से चूर चूर कर डाले ॥ ४७ ॥

केचिच्चैवासिना छिन्नास्तथान्ये शरताडिताः ।
निपेतुरम्बरात्तूर्णं राक्षसाः सागराम्भसि ॥ ४८ ॥

बहुत को तलवार से काट डाला, बहुतों को बाणों से छेद डाला । इस प्रकार राक्षसों को घायल कर दिया और वे प्राण रहित हो आकाश से तुरंत समुद्र के जल में जा गिरे ॥ ४८ ॥

नारायणोऽपीषुवराशनीभिः
　　विदारयामास धनुर्विमुक्तैः ।
नक्तंचरान् धूतविमुक्तकेशान्
　　यथाशनीभिः सतडिन्महाभ्रः ॥ ४९ ॥

बिजली सहित महामेघ जिस तरह वज्रप्रहार से फट जाता है, उसी तरह भगवान् विष्णु भी अपने धनुष से छोड़े हुए पैने तीरों की मार से सिर के बाल खोले हुए राक्षसों को विदीर्ण करने लगे ॥४९॥

भिन्नातपत्रं पतमानशस्त्र

शरैरपध्वस्तविनीतवेषम् ।

विनिःसृतान्त्रं भयलोलनेत्रं

बलं तदुन्मत्ततरं बभूव ॥ ५० ॥

मरने से बचे हुए राक्षसों की बड़ी दुर्गति हुई । किसी किसी की छाती फट गई, कितनो ही के हाथों से हथियार छूट पड़े, बहुतों की सूरतें ही बिगड़ गईं । बहुतों की आँते निकल पड़ीं और बहुतों की आँखें मारे घबड़ाहट के उलट गईं । सारांश यह कि, राक्षसी सेना पागल सी हो गई ॥५०॥

सिंहार्दितानामिव कुञ्जराणां

निशाचराणां सह कुञ्जराणाम् ।

रवाश्च वेगाश्च समं बभूवुः

[1]पुराणसिंहेन विमर्दितानाम् ॥ ५१ ॥

नृसिंह भगवान् द्वारा मर्दित हाथीरूपी राक्षसों का घोर नाद तथा हाथियों की चिंघार और वेग एक ही साथ उत्पन्न ॥५१॥

ते वार्यमाणा हरिबाणजालैः

स्वबाणजालानि समुत्सृजन्तः ।

१ पुराणसिंह—नृसिंहेन । (गो०)

धावन्ति नक्तंचरकालमेघा

वायुप्रणुन्ना इव कालमेघाः ॥ ५२ ॥

जैसे काली मेघघटा पवन से तितर वितर हो उड़ जाती है, वैसे ही राक्षसरूपी काले बादल भगवान् विष्णु के बाणों से छिन्न-भिन्न हो, अपने बाणों को छोड़ते हुए, (लङ्का की ओर) भागे ॥५२॥

चक्रप्रहारैर्विनिकृत्तशीर्षाः

संचूर्णितांगाश्च गदाप्रहारैः ।

असिप्रहारैर्द्विविधा विभिन्नाः

पतन्ति शैला इव राक्षसेन्द्राः ॥ ५३ ॥

वे राक्षसेन्द्र भागते हुए रास्ते में पहाड़ की तरह गिरे पड़े थे, उनमें से किसी-किसी के सिर चक्र से कट गए थे, किसी किसी के तलवार से दो टुकड़े हो गए थे ॥५३॥

विलम्बमानैर्मणिहारकुण्डलैः

निशाचरैर्नीलबलाहकोपमैः ।

निपात्यमानैर्ददृशे निरन्तरं ।

निपात्यमानैरिव नीलपर्वतैः ।, ५४ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

मणियों, हारों और कुण्डलों से शोभित बड़े-बड़े नील बादलों की तरह, वे विशाल राक्षस, बड़े-बड़े नीलपर्वतों की तरह चूर्ण हो कर निरन्तर गिरते हुए देख पड़ते थे ॥५४॥

उत्तरकाण्ड का सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

अष्टमः सर्गः

—: ० :—

हन्यमाने बले तस्मिन् पद्मनाभेन पृष्ठतः ।
माल्यवान् सन्निवृत्तोऽथ वेलामेत्य इवार्णवः ॥ १ ॥

भगवान् पद्मनाभ जब उस राक्षसी सेना को मारते और खदेड़ते ही चले गए, तब माल्यवान लङ्कापुरी तक पहुँच कर, पुनः वैसे ही लौटा, जैसे समुद्र, अपने तट पर पहुँच कर, पीछे लौटता है ॥ १ ॥

संरक्तनयनः क्रोधाच्चलन् मौलिर्निशाचरः ।
पद्मनाभमिदं प्राह वचनं पुरुषोत्तमम् ॥ २ ॥

माल्यवान राक्षस क्रोध में भर तथा लाल लाल नेत्र कर और सिर कँपाता हुआ भगवान् पुरुषोत्तम पद्मनाभ से यह बोला ॥ २ ॥

नारायण न जानीषे क्षात्रधर्मं पुरातनम् ।
अयुद्धमनसो भीतानस्मान् हन्ति यथेतरः[1] ॥ ३ ॥

हे नारायण ? तुम पुरातन क्षात्रधर्म को नहीं जानते । क्योंकि युद्ध से लौटे हुए और डरे हुए हम लोगों को तुम क्षुद्रजन की तरह मार रहे हो ॥ ३ ॥

पराङ्मुखवधं पापं यः करोति सुरेश्वर ।
स हन्ता न गतः स्वर्गं लभते पुण्यकर्मणाम् ॥ ४ ॥

हे सुरेश्वर ! युद्ध से मुख मोड़े हुए को जो मारता है, वह पाप करता है । उसे पुण्यात्मा लोगों से प्राप्त स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती ॥ ४ ॥

---

1 इतरः—क्षुद्रजन इव । (गो०)

युद्धश्रद्धाऽथवा तेऽस्ति शङ्खचक्रगदाधर।
अहं स्थितोस्मि पश्यामि बलं दर्शय यत्तव॥ ५॥

हे शङ्ख-चक्र-गदा-धारी! यदि तेरी इच्छा लड़ने ही की है तो मैं तेरे सामने खड़ा हूँ। मुझ पर तू अपना बल का प्रयोग करले॥ ५॥

माल्यवन्तं स्थितं दृष्ट्वा माल्यवन्तमिवाचलम्।
उवाच राक्षसेन्द्रं तं देवराजानुजो बली॥ ६॥

माल्यवान पर्वत की तरह माल्यवान राक्षस को खड़ा देख उस राक्षसेन्द्र से भगवान् विष्णु ने कहा॥ ६॥

युष्मत्तो भयभीतानां देवानां वै मयाऽभयम्।
राक्षसोत्सादनं दत्तं तदेतदनुपाल्यते॥ ७॥

तुम लोगों के भय से त्रस्त देवताओं को, मैंने राक्षसनाश रूप अभयदान दिया है, सो मैं इस समय राक्षसों का विनाश कर, उस अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर रहा हूँ। ७॥

प्राणैरपि प्रियं कार्यं देवानां हि सदा मया।
सोहं वो निहनिष्यामि रसातलगतानपि॥ ८॥

क्योंकि मुझे अपने प्राणों को दाँव पर रख कर भी देवताओं का प्रियकार्य करना स्वीकार है। अतः मैं तुम लोगों को अवश्य मारूँगा। भले ही तुम रसातल ही में क्यों न चले जाओ। वहाँ मैं तुम्हारा पीछा करूँगा॥ ८॥

देवदेवं ब्रुवाणं तं रक्ताम्बुरुहलोचनम्।
शक्त्या बिभेद संक्रुद्धो राक्षसेन्द्रो भुजान्तरे॥ ९॥

लाल कमल के समान नेत्र वाले, देवताओं के भी देवता भगवान् विष्णु जी इस प्रकार कह ही रहे थे कि, राक्षसश्रेष्ठ माल्यवान् ने क्रोध में भर उनकी छाती में एक शक्ति मारी ॥९॥

माल्यवद्भुजनिर्मुक्ता शक्तिर्घण्टाकृतस्वना ।
हरेरुरसि बभ्राज मेघस्थेव शतह्रदा ॥ १० ॥

माल्यवान के हाथ से छूटी हुई वह शक्ति घंटियों का शब्द करती हुई, भगवान् विष्णु की छाती में लग ऐसी शोभित हुई, जैसे श्याममेघ में बिजुली शोभित होती है ॥ १० ॥

ततस्तामेव चोत्कृष्य शक्तिं [1]शक्तिधरप्रियः ।
माल्यवन्तं समुद्दिश्य चिक्षेपाम्बुरुहेक्षणः ॥ ११ ॥

सुब्रह्मण्यप्रिय कमलनयन भगवान् ने तत्काल ही उस शक्ति को अपनी छाती से निकाल कर उसीसे माल्यवान को मारा ॥ ११ ॥

स्कन्दोत्सृष्टेव सा शक्तिर्गोविंदकरनिःसृता ।
काङ्क्षन्ती राक्षसं प्रायान् महोल्केवाञ्जनाचलम् ॥१२॥

भगवान् गोविन्द के हाथ से छूटी हुई वह शक्ति स्वामि कार्तिक के समान राक्षस का संहार करने के लिए ऐसी लपकी, मानों कज्जलगिरि पर उल्का झपट कर आई हो ॥ १२ ॥

सा तस्योरसि विस्तीर्णे हारभारावभासिते ।
अपतद्राक्षसेन्द्रस्य गिरिकूट इवाशनिः ॥ १३ ॥

---

१ शक्तिधरप्रियः—सुब्रह्मण्यप्रियः । (गो०)

वह शक्ति माल्यवान की, हार से विभूषित, चौड़ी छाती में वैसे ही जा कर लगी जैसे इन्द्र का चलाया वज्र पर्वत के लगता है ॥ १३ ॥

तया भिन्नतनुत्राणः प्राविशद्विपुलं तमः ।
माल्यवान् पुनराश्वस्तस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

उस शक्ति के लगने से माल्यवान का कवच टूट गया और वह मूर्छित हो गया। कुछ काल पीछे वह सचेत हुआ। वह फिर पर्वत की तरह निश्चल हो सामने खड़ा हो गया ॥ १४ ॥

ततः *कालायसं शूलं कण्टकैर्बहुभिश्चितम्† ।
प्रगृह्याभ्यहनद्देवं स्तनयोरन्तरे दृढम् ॥ १५ ॥

और उसने वहुत काँटेदार लोहे का एकशूल वड़े ज़ोर से भगवान् विष्णु की छाती में मारा ॥ १५ ॥

तथैव रणरक्तस्तु मुष्टिना वासवानुजम् ।
ताडयित्वा धनुर्मात्रमपक्रान्तो निशाचरः ॥ १६ ॥

फिर ऊपर से उस रणप्रिय निशाचर ने भगवान् की छाती में एक घूँसा भी मारा और घूँसा मार कर वह चार हाथ पीछे हट गया ॥ १६ ॥

ततोऽम्बरे महाञ्छब्दः साधु साध्विति चोत्थितः ।
आहत्य राक्षसो विष्णुं गरुडं चाप्यताडयत् ॥ १७ ॥

उसका ऐसा साहस देख कर आकाश में "वाह वाह" का बड़ा शब्द हुआ अर्थात् सुन पड़ा। माल्यवान् ने भगवान् विष्णु पर प्रहार कर गरुड़ जी पर भी प्रहार किया ॥ १७ ॥

---

* पाठान्तरे—"कार्ष्णायस" । † पाठान्तरे—"वृत्तम्" ।

वैनतेयस्ततः क्रुद्धः पक्षवातेन राक्षसम् ।
व्यपोहद्बलवान्वायुः शुष्कपर्णचयं यथा ॥ १८ ॥

तब बलवान गरुड़ जी ने क्रोध में भर, उस राक्षस को वहाँ से अपने पंखों के पवन के झोंकों से ऐसा उड़ाया; जैसे पवन सूखे पत्तों के ढेर को सहज से उड़ा देता है ॥१८॥

द्विजेन्द्रपक्षवातेन द्रावितं दृश्य पूर्वजम् ।
सुमाली स्वबलैः सार्धं लङ्कामभिमुखो ययौ ॥ १९ ॥

गरुड़ जी के पंखों के पवन से अपने बड़े भाई माल्यवान को भगाया हुआ देख, सुमाली अपनी सेना को साथ ले लङ्का को भाग गया ॥१९॥

पक्षवातबलोद्धूतो माल्यवानपि राक्षसः ।
स्वबलेन समागम्य ययौ लङ्कां ह्रिया वृतः ॥ २० ॥

गरुड़ जी के पंखों के पवन से उड़ाया हुआ राक्षस माल्यवान भी लज्जित हो, अपनी सेना को साथ लिए हुए लङ्का में लौट कर चला गया ॥२०॥

एवं ते राक्षसा राम हरिणा कमलेक्षण ।
बहुशः संयुगे भग्ना हतप्रवरनायकाः ॥ २१ ॥

हे राम ! इस प्रकार कमलनयन भगवान् विष्णु ने युद्ध में उन राक्षसों को अनेक बार मारा और उनके मुखियों का नाश किया ॥२१॥

अशक्नुवन्तस्ते विष्णुं प्रतियोद्धुं बलार्दिताः* ।
त्यक्त्वा लङ्कां गता वस्तुं पातालं सहपत्नयः ॥२२॥

* पाठान्तरे—"भयार्दिताः ।"

जब वे राक्षस भगवान् विष्णु का सामना न कर सके और सताए गए, तब वे अपने बाल-बच्चों को साथ ले और लङ्का का निवास त्याग; पाताल में जा बसे ॥२२॥

सुमालिनं समासाद्य राक्षसं रघुसत्तम ।
स्थिताः प्रख्यातवीर्यास्ते वंशे सालकटङ्कटे ॥ २३ ॥

हे रघुश्रेष्ठ ! समस्त प्रसिद्ध पराक्रमी राक्षस, सुमाली को राजा बना, वहीं सालकटंकटा के वंश में रहने लगे। अथवा विख्यात बलवीर्य वाले राक्षस, सालकटंकटा के वंश वाले सुमाली के आश्रय में समय बिताने लगे ॥२३॥

ये त्वया निहतास्ते तु पौलस्त्या नाम राक्षसाः ।
सुमाली माल्यवान् माली ये च तेषां पुरःसराः ।
सर्व एते महाभागा रावणाद्बलवत्तराः ॥ २४ ॥

हे राम ! तुमने पुलस्त्य वंश वाले जिन समस्त राक्षसों का संहार किया है उन सब से महाभाग सुमाली, माल्यवान और माली प्रधान थे। अधिक क्या कहें—ये सब रावण से भी अधिक बलवान थे ॥२४॥

न चान्यो राक्षसान् हन्ता सुरारीन् देवकण्टकान् ।
ऋते नारायणं देवं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ २५ ॥

शङ्ख-चक्र गदाधारी भगवान् विष्णु को छोड़ और कोई भी देवताओं को सताने वाले इन सुरशत्रु राक्षसों का नाश नहीं कर सकता था ॥२५॥

भवान्नारायणो देवश्चतुर्बाहुः सनातनः ।
राक्षसान् हन्तुमुत्पन्नो ह्यजय्यः प्रभुरव्ययः ॥ २६ ॥

सो तुम ही चार भुजाओं वाले, सनातन, अजेय, अविनाशी और साक्षात् नारायण हो। राक्षसों का नाश करने के लिए तुमने अवतार लिआ है ॥ २६ ॥

*नष्टधर्मव्यवस्थानां कालेकाले प्रजाकरः ।
उत्पद्यते दस्युवधे शरणागतवत्सलः ॥ २७ ॥

जब कभी धर्म की अव्यवस्था होती है, तब आप उसकी सुव्यवस्था करने तथा प्रजा की रक्षा के लिए तथा डाकुओं को मारने के लिए शरणागतवत्सलतावश जन्म लेते हैं ॥ २७ ॥

एषा मया तव नराधिप राक्षसाना-
मुत्पत्तिरद्य कथिता सकला यथावत् ।
भूयो निबोध रघुसत्तम रावणस्य
जन्मप्रभावमतुलं ससुतस्य सर्वम् ॥ २८ ॥

हे नरनाथ! आज मैंने तुमको समस्त राक्षसों की उत्पत्ति की कथा ज्यों की त्यों सुनाई। हे रघुश्रेष्ठ! अब मैं तुमको रावण और उसके पुत्रों का जन्मवृत्तांत एवं अतुल प्रभाव का समस्त वृत्तांत सुनाता हूँ ॥ २८ ॥

चिरात्सुमाली व्यचरद्रसातलं
सराक्षसो विष्णु भयार्दितस्तदा ।
पुत्रैश्च पौत्रैश्च समन्वितो बली
ततस्तु लङ्कामवसद्धनेश्वरः ॥ २९ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

---

*पाठान्तरे—"नष्टधर्मव्यवस्थाता ।"

जब श्रीविष्णु भगवान् के भय से पीड़ित हो, पुत्र पौत्रों व परिवारसहित सुमाली बहुत दिनों तक रसातल में विचरता रहा, तब कुबेर जी लङ्का में जा कर रहने लगे ॥ २६ ॥

उत्तरकाण्ड का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:-&-:—

नवमः सर्गः

—:-&-:—

कस्यचित्त्वथ कालस्य सुमाली नाम राक्षसः ।
रासातलान् मर्त्यलोकं सर्वं वै विचचार ह ॥ १ ॥

कुछ दिनों बाद वह सुमाली नामक राक्षस रसातल से निकल कर मनुष्य लोक में सर्वत्र घूमने लगा ॥ १ ॥

नीलजीमूतसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
कन्यां दुहितरं गृह्य विना पद्ममिव श्रियम् ॥ २ ॥

नीले बादल की तरह उसके शरीर का श्यामवर्ण था; वह विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल कानों में पहिनेहुए था और कमल को त्यागे हुए लक्ष्मी के समान अपनी कुंवारी पुत्री को अपने साथ लिए हुए था ॥ २ ॥

राक्षसेन्द्रः स तु तदा विचरन् वै महीतले ।
तदा पश्यत् स गच्छन्तं पुष्पकेण धनेश्वरम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार पृथिवी पर घूमते घूमते उस राक्षसराज सुमाली ने पुष्पकविमान पर सवार कुबेर जी को देखा ॥ ३ ॥

गच्छन्तं पितरं द्रष्टुं पुलस्त्यतनयं विभुम् ।
तं दृष्ट्वाऽमरसङ्काशं गच्छन्तं पावकोपमम् ॥ ४ ॥

कुवेर जी अपने पिता और पुलस्त्य जी के पुत्र विश्रवा मुनि के दर्शन करने को जा रहे थे। देवता के समान और अग्नि की तरह उन्हें जाते देख ॥ ४ ॥

रसातलं प्रविष्टः सन् मर्त्यलोकात् सविस्मयः ।
इत्येवं चिन्तयामास राक्षसानां महामतिः ॥ ५ ॥

सुमाली विस्मित हो मर्त्यलोक छोड़, रसातल में चला गया। वह महामति राक्षस वहाँ जा कर, अपने मन में सोचने लगा ॥ ५ ॥

किं कृतं श्रेय इत्येवं वर्धेमहि कथं वयम् ।
नीलजीमूत सङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ॥ ६ ॥
राक्षसेन्द्रः स तु तदा चिन्तयत्सु महामतिः ।
अथाब्रवीत्सुतां रक्षः कैकसीं नाम नामतः ॥ ७ ॥

हम कौनसा ऐसा श्रेष्ठ कर्म करें, जिससे हम लोगों की बढ़ती हो। नीले बादल के समान और विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए महामति राक्षसराज इस प्रकार सोचता हुआ अपनी कैकसी नामक बेटी से कहने लगा ॥ ६ ॥ ७ ॥

पुत्रि प्रदानकालोऽयं यौवनं व्यतिवर्तते ।
प्रत्याख्यानाच्च भीतैस्त्वं न वरैः परिगृह्यसे ॥ ८ ॥

हे बेटी! अब तुम्हारे विवाह का समय हो चुका है। तुम्हारी यौवनावस्था निकली जा रही है। मैं कहीं नाहीं न कर

दूँ, इस भय से कोई विवाहार्थी तुमको माँगने के लिए मेरे पास नहीं आता ॥ ८ ॥

त्वत्कृते च वयं सर्वे यन्त्रिता धर्मबुद्धयः ।
त्वं हि सर्वगुणोपेता श्रीः साक्षादिव पुत्रिके ॥ ९ ॥

हे बेटी ! तू साक्षात् लक्ष्मी की तरह समस्त गुणों से भूषित है; अतः हम सब धर्मबुद्धि से बँध रहे हैं और तेरे योग्य वर की खोज में हैं ॥ ९ ॥

कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकाङ्क्षिणाम् ।
न ज्ञायते च कः कन्यां वरयेदिति कन्यके ॥ १० ॥

मानी लोगों के लिए कन्या बड़े दुःख का कारण होती है। क्योंकि पहिले से कोई नहीं जान सकता कि, कन्या का विवाह कैसे वर से होगा ॥१०॥

मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते ।
कुलत्रयं सदा कन्या संशये स्थाप्य तिष्ठति ॥ ११ ॥

माता के कुल को, पिता के कुल को, ससुर के कुल को— इन तीन कुलों को कन्या सदा संशय में डाले रहती है ॥११॥

सा त्वं मुनिवरं श्रेष्ठं प्रजापतिकुलोद्भवम् ।
भज विश्रवसं पुत्रि पौलस्त्यं वरय स्वयम् ॥ १२ ॥

अतः अब तू ब्रह्मा के कुल में उत्पन्न पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा मुनि को स्वयं जाकर वर ले ॥१२॥

ईदृशास्ते भविष्यन्ति पुत्राः पुत्रि न संशयः ।
तेजसा भास्करसमो यादृशोऽयं धनेश्वरः ॥ १३ ॥

हे बेटी ! विश्रवामुनि को पति बनाने से जैसे कुबेर है, वैसे ही सूर्य से समान तेजस्वी तेरे पुत्र होंगे ॥ १३ ॥

सा तु तद्वचनं श्रुत्वा कन्यका पितृगौरवात् ।
*तत्र गत्वा च सा तस्थौ विश्रवा यत्र तप्यते ॥१४॥

वह कन्या अपने पिता के इन वचनों को सुन और पिता का गौरव मान, वह वहाँ जाकर खड़ी हो गई, जहाँ विश्रवा मुनि तपस्या कर रहे थे ॥ १४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम पुलस्त्यतनयो द्विजः ।
अग्निहोत्रमुपातिष्ठच्चतुर्थ इव पावकः ॥ १५ ॥

हे राम ! उस समय पुलस्त्यपुत्र ब्राह्मणश्रेष्ठ विश्रवामुनि चतुर्थ अग्नि की तरह, सायङ्काल को अग्निहोत्र कर रहे थे ॥१५॥

अविचिन्त्य तु तां वेलां दारुणां पितृगौरवात् ।
उपसृत्याग्रतस्तस्य चरणाधोमुखी स्थिता ॥ १६ ॥

कैकसी उस दारुण प्रदोषकाल का कुछ विचार न कर, पिता के गौरव के मारे, मुनि के सामने जा खड़ी हुई और अपने पैरों की ओर देखती हुई, ॥ १६ ॥

विलिखन्ती मुहुर्भूमिमंगुष्ठाग्रेण भामिनी ।
स तु तां वीक्ष्य सुश्रोणीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥१७॥

वह भामिनी बारंबार अपने पैर के अंगूठे के अग्रभाग से जमीन कुरेदने लगी । उस समय पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुखवाली परम सुंदरी को देख ॥ १७ ॥

* पाठान्तरे – "ततोपागम्य सा तस्थौ ।"

अब्रवीत्परमोदारो दीप्यमानां स्वतेजसा ।
भद्रे कस्यासि दुहिता कुतो वा त्वमिहागता ।
किं कार्यं कस्य वा हेतोस्तत्त्वतो ब्रूहि शोभने ॥१८॥

परम-उदार-स्वभाव वाले और अपने तेज से दीप्तिमान् विश्रवा मुनि उस कन्या से बोले कि, हे भद्रे! तू किसकी बेटी है और यहाँ किस लिए आई है ॥ १८ ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या कृताञ्जलिरथाब्रवीत् ।
आत्मप्रभावेन मुने ज्ञातुमर्हसि मे मतम् ॥ १९ ॥

जब मुनि ने यह पूछा, तब वह लड़की हाथ जोड़ कर बोली—हे महाराज! तुम तो अपने तपःप्रभाव ही से मेरे मन की बात जान सकते हो ॥ १९ ॥

किन्तु मां विद्धि ब्रह्मर्षे शासनात् पितुरागताम् ।
कैकसी नाम नाम्नाऽहं शेषं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥

किन्तु हे महर्षे! इतना मैं बतलाए देती हूँ कि, मैं अपने पिता की आज्ञा से यहाँ आई हूँ और मेरा नाम कैकसी है। शेष वृत्तान्त आप स्वयं जान सकते हैं [अथवा मेरा यहाँ आने का जो अभिप्राय है, उसे मैं अपने मुंह से न कहूँगी। उसे आप स्वयं जान लें] ॥ २० ॥

स तु गत्वा मुनिर्ध्यानं वाक्यमेतदुवाच ह ।
विज्ञातं ते मया भद्रे कारणं यत् मनोगतम् ॥ २१ ॥

तब मुनि विश्रवा ने ध्यान किया और उसके आने का प्रयोजन जान, उससे कहा—हे भद्रे! मैंने तेरे मन की बात जान ली ॥ २१ ॥

सुताभिलाषो मत्तस्ते मत्तमातङ्गगामिनि ।
दारुणायां तु वेलायां यस्मात्त्वं मामुपस्थिता ॥ २२ ॥

हे मत्तगजेन्द्रगामिनी ! मुझसे पुत्रोत्पादन कराने की तेरी अभिलाषा है, किन्तु तू दारुण समय (कुसमय) में मेरे पास आई है ॥ २२ ॥

शृणु तस्मात् सुतान् भद्रे यादृशाञ्जनयिष्यसि ।
दारुणान् दारुणाकारान् दारुणाभिजनप्रियान् ॥२३॥

अतः हे भद्रे ! अब तू सुन कि, तू किस प्रकार के पुत्र जनेगी । तेरे पुत्र बड़े क्रूर कर्म करने वाले होंगे, उन भयङ्कर राक्षसों की सूरत भी भयानक होगी और उनकी प्रीति भी क्रूर-कर्म करने वाले बन्धुबान्धवों ही से होगी ॥ २३ ॥

प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मणः ।
सा तु तद्वचनं श्रुत्वा प्रणिपत्याब्रवीद्वचः ॥ २४ ॥

हे सुश्रोणि ! तू क्रूरकर्म करने वाले राक्षसों को जनेगी । विश्रवा मुनि के ये वचन सुन, कैकसी उनको प्रणाम कर बोली ॥ २४ ॥

[टिप्पणी—दारुण समय में गर्भ स्थापन से ऐसे ही सन्तान होते हैं । वर्त्तमान काल में लोगों ने इस शास्त्रीय एवं अनुभूत निर्देश को सर्वथा भुला दिया है—अतः राक्षसाकलिमाश्रित्यजायन्ते ब्रह्मयोनि पुष्ट आज प्रत्यक्ष देख पड़ रहा है । अच्छे कुलीन घरों में उत्पन्न ब्राह्मणों की मति गति भ्रष्ट हो रही है ।]

भगवन्नीदृशान् पुत्रांस्त्वत्तोऽहं ब्रह्मवादिनः ।
नेच्छामि सुदुराचारान् प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ २५॥

हे भगवन् ! आप जैसे ब्रह्मवादी द्वारा मैं ऐसे दुराचारी पुत्रों को नहीं चाहती । अतः आप मेरे ऊपर कृपा कीजिए ॥२५॥

कन्यया त्वेवमुक्तस्तु विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
उवाच कैकसीं भूयः पूर्णेन्दुरिव रोहिणीम् ॥ २६ ॥

मुनिश्रेष्ठ विश्रवा जी इस कन्या के ये वचन सुन कर कैकसी से फिर वैसे ही कहने लगे; जैसे चन्द्रमा रोहिणी से कहता है ॥ २६ ॥

पश्चिमो यस्तव सुतो भविष्यति शुभानने ।

मम वंशानुरूपः स धर्मात्मा च* न संशयः ॥२७॥

हे शुभानने ! अच्छा तेरा पिछला पुत्र मेरे वंशानुरूप धर्मात्मा होगा—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २७ ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या राम कालेन केनचित् ।

जनयामास बीभत्सं रक्षोरूपं सुदारुणम् ॥ २८ ॥

हे राम ! विश्रवामुनि ने उस कन्या से इस प्रकार कहा । तदनन्तर कुछ काल बाद उसने बड़ा भयङ्कर और बीभत्स राक्षसरूपी पुत्र जना ॥ २८ ॥

दशग्रीवं महादंष्ट्रं नीलाञ्जनचयोपमम् ।

ताम्रोष्ठं विंशतिभुजं महास्यं दीप्तमूर्धजम् ॥ २९ ॥

उसके सिर दस थे और दाँत बड़े बड़े थे । उसके शरीर का रंग काला और आकार पहाड़ के समान था । उसके ओंठ लाल थे, उसके बीस भुजाएँ थीं । उसका मुँह बड़ा और सिर के बाल चमकीले, थे ॥ २९ ॥

तस्मिञ्जाते ततस्तस्मिन् सज्वालकवलाः शिवाः ।

क्रव्यादाश्चापसव्यानि मण्डलानि प्रचक्रमुः ॥ ३० ॥

उसके जन्मते ही गीदड़ियाँ मुख से ज्वाला उगलने लगीं, माँसाहारी जीवजन्तु बाईं ओर को प्रदक्षिणा करते हुए मँडराने लगे ॥ ३० ॥

* पाठान्तरे—"भविष्यति" ।

ववर्ष रुधिरं देवो मेघाश्च खरनिस्वनाः ।
प्रबभौ न च सूर्यो वै महोल्काश्चापतन् भुवि ॥ ३१॥

देवताओं ने रक्त की वर्षा की। मेघ बड़े ज़ोर से गर्जे, सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया। आकाश से बड़े बड़े उल्का पृथ्वी पर गिरने लगे ॥ ३१ ॥

चकम्पे जगती चैव ववुर्वाताः सुदारुणाः ।
अक्षोभ्यः क्षुभितश्चैव समुद्रः सरितां पतिः ॥ ३२॥

पृथिवी हिलने लगी, दारुण हवा चलने लगी, अचल नदी-पति समुद्र भी खलबला उठा। ३२ ॥

अथ नामाकरोत्तस्य पितामहसमः पिता ।
दशग्रीवः प्रसूतोऽयं दशग्रीवो भविष्यति ॥ ३३ ॥

तदनन्तर पितामह ब्रह्मा जी के समान उसके पिता ने उसका नामकरण (संस्कार) किया। (नामकरण संस्कार करते समय उसके पिता ने कहा) यह लड़का दस सिर वाला उत्पन्न हुआ है, अतः इसका नाम दशग्रीव होगा ॥ ३३ ॥

तस्य त्वनन्तरं जातः कुम्भकर्णो महाबलः ।
प्रमाणाद्यस्य विपुलं प्रमाणं नेह विद्यते ॥ ३४ ॥

तदनन्तर कैकसी के गर्भ से कुम्भकर्ण का जन्म हुआ। उसके समान लंबा और चौड़ा दूसरा कोई प्राणी न था ॥ ३४ ॥

ततः शूर्पणखा नाम संजज्ञे विकृतानना ।
विभीषणश्च धर्मात्मा कैकस्याः पश्चिमः सुतः ॥ ३५॥

मुनि श्रेष्ठ विश्रवा जी उस कन्या के ये वचन सुन कर कैकसी से फिर ऐसे ही कहने लगे; जैसे चन्द्रमा रोहिणी से कहता है ॥ २६ ॥

पश्चिमो यस्तव सुतो भविष्यति शुभानने ।
मम वंशानुरूपः स धर्मात्मा च न संशयः ॥२७॥

हे शुभानने! अच्छा, तेरा पिछला पुत्र मेरे वंशानुरूप धर्मात्मा होगा—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २७ ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या राम कालेन केनचित् ।
जनयामास बीभत्सं रक्षोरूपं सुदारुणम् ॥ २८ ॥

हे राम! विश्रवामुनि ने उस कन्या से इस प्रकार कहा। तदनन्तर कुछ काल बाद उसने बड़ा भयङ्कर और बीभत्स राक्षस-रूपी पुत्र जना ॥ २८ ॥

दशग्रीवं महादंष्ट्रं नीलाञ्जनचयोपमम् ।
ताम्रोष्ठं विंशतिभुजं महास्यं दीप्तमूर्धजम् ॥ २९ ॥

उसके सिर दस थे और दाँत बड़े बड़े थे। उसके शरीर का रंग काला और आकार पहाड़ के समान था। उसके ओंठ लाल थे, उसके बीस भुजाएँ थीं। उसका मुँह बड़ा और सिर के बाल चमकीले थे ॥ २९ ॥

तस्मिञ्जाते ततस्तस्मिन् सज्वालकवलाः शिवाः ।
क्रव्यादाश्चापसव्यानि मण्डलानि प्रचक्रमुः ॥ ३० ॥

उसके जन्मते ही गीदड़ियाँ मुख से ज्वाला उगलने लगीं, मांसाहारी जीव जन्तु बाईं ओर को प्रदक्षिणा करते हुए मँड-राने लगे ॥ ३० ॥

* पाठान्तरे—"शब्दध्वनि" ।

ववर्ष रुधिरं देवो मेघाश्च खरनिस्वनाः ।
प्रबभौ न च सूर्यो वै महोल्काश्चापतन् भुवि ॥३१॥

देवताओं ने रक्त की वर्षा की । मेघ बड़े ज़ोर से गर्जे, सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया । आकाश से बड़े बड़े उल्का पृथ्वी पर गिरने लगे ॥ ३१ ॥

चकम्पे जगती चैव ववुर्वाताः सुदारुणाः ।
अक्षोभ्यः क्षुभितश्चैव समुद्रः सरितां पतिः ॥ ३२॥

पृथिवी हिलने लगी, दारुण हवा चलने लगी, अचल नदी-पति समुद्र भी खलबला उठा । ३२ ॥

अथ नामाकरोत्तस्य पितामहसमः पिता ।
दशग्रीवः प्रसूतोऽयं दशग्रीवो भविष्यति ॥ ३३ ॥

तदनन्तर पितामह ब्रह्मा जी के समान उसके पिता ने उसका नामकरण (संस्कार) किया । (नामकरण संस्कार करते समय उसके पिता ने कहा) यह लड़का दस सिर वाला उत्पन्न हुआ है, अतः इसका नाम दशग्रीव होगा ॥ ३३ ।

तस्य त्वनन्तरं जातः कुम्भकर्णो महाबलः ।
प्रमाणाद्यस्य विपुलं प्रमाणं नेह विद्यते ॥ ३४ ॥

तदनन्तर कैकसी के गर्भ से कुम्भकर्ण का जन्म हुआ । उसके समान लंबा और चौड़ा दूसरा कोई प्राणी न था ॥ ३४ ॥

ततः शूर्पणखा नाम संजज्ञे विकृतानना ।
विभीषणश्च धर्मात्मा कैकस्याः पश्चिमः सुतः ॥३५॥

तदनन्तर बुरी सूरत की सूपनखा उत्पन्न हुई। सब के पीछे कैकसी के सब से छोटे पुत्र धर्मात्मा विभीषण का जन्म हुआ ॥ ३५ ॥

तस्मिञ्जाते महासत्त्वे पुष्पवर्षं पपात ह ।
नभःस्थाने दुन्दुभयो देवानां प्राणदंस्तथा ।
वाक्यं चैवान्तरिक्षे च साधु साध्विति तत्तदा ॥ ३६ ॥

धर्मात्मा विभीषण जिस समय उत्पन्न हुए, उस समय आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई और देवताओं ने दुन्दभी बजाई और आकाश में वारंवार धन्य धन्य का शब्द सुन पड़ा ॥ ३६ ॥

तौ तु तत्र महारण्ये ववृधाते महौजसौ ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ लोकोद्वेगकरौ तदा ॥ ३७ ॥

अब लोको कों विकल करने वाले रावण और कुम्भकर्ण उस वन में धीरे धीरे बढ़ने लगे ॥ ३७ ॥

कुम्भकर्णः प्रमत्तस्तु महर्षीन् धर्मवत्सलान् ।
त्रैलोक्यं भक्षयन्नित्यासन्तुष्टो विचचार ह ॥ ३८ ॥

कुम्भकर्ण प्रमत्त हो, धर्मात्मा महर्षियों को पकड़ पकड़ कर खा जाता था और जहाँ चाहता वहाँ घूमा करता था; किन्तु उसका पेट कभी नहीं भरता था ॥ ३८ ॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा नित्यं धर्मे व्यवस्थितः ।
स्वाध्यायनियताहार उवास विजितेन्द्रियः ॥ ३९ ॥

विभीषण सदा धर्म पर आरूढ़, स्वाध्याय और नियताहार में तत्पर रहते तथा जितेन्द्रिय हो कर समय बिताया करते थे ॥ ३९ ॥

आगतः पितरं द्रष्टुं पुष्पकेण धनेश्वरः ॥ ४० ॥

अथ वैश्रवणो देवस्तत्र कालेन केनचित् ।

कुछ दिनों बाद एक दिन पुष्पकविमान में बैठ कर वैश्रवण कुबेर जी अपने पिता विश्रवा जी के दर्शन करने आए थे ॥४०॥

तं दृष्ट्वा कैकसी तत्र ज्वलन्तमिव तेजसा ।

आगम्य राक्षसी तत्र दशग्रीवमुवाच ह ॥ ४१ ॥

कुवेर जी को अपने तेज से प्रकाशित देख कैकसी ने अपने पुत्र दशग्रीव से कहा ॥ ४१ ॥

पुत्र वैश्रवणं पश्य भ्रातरं तेजसावृतम् ।

भ्रातृभावे समे चापि पश्यात्मानं त्वमीदृशम् ॥४२॥

हे पुत्र ! अपने भाई वैश्रवण कुबेर को देखो, वह तेज से कैसा प्रज्वलित है। तुम भी एक उसके भाई ही हो, किन्तु देखो तुममें और उसमें कितना अन्तर है ॥ ४२ ॥

दशग्रीव तथा यत्नं कुरुष्वामितविक्रम ।

यथा त्वमपि मे पुत्र भव वैश्रवणोपमः ॥ ४३ ॥

अतः हे दशग्रीव ! तू ऐसा यत्न कर जिससे तू भी वैश्रवण के समान हो जाय ॥ ४३ ॥

मातुस्तद्वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ।

अमर्षमतुलं लेभे प्रतिज्ञां चाकरोत्तदा ॥ ४४ ॥

प्रतापी दशग्रीव को माता के ये वचन सुन, भाई के ऐश्वर्य से बड़ा डाह हुआ और उसने उसी समय यह प्रतिज्ञा की ॥४४॥

सत्यं ते प्रतिजानामि भ्रातुस्तुल्योऽधिकोऽपि वा ।
भविष्याम्योजसा चैव सन्तापं त्यज हृद्गतम् ॥४५॥

हे माता ! मैं तुमसे सच सच कहता हूँ कि, मैं भी अपने पराक्रम से वैश्रवण के समान अथवा उससे भी अधिक हो जाऊँगा । अतः तुम अपने मन का सन्ताप दूर कर दो ॥ ४५॥

ततः क्रोधेन तेनैव दशग्रीवः सहानुजः ।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म तपसे धृतमानसः ॥ ४६ ॥

अब उसी क्रोध के कारण मन में तप करने की ठान, दशग्रीव अपने छोटे भाइयों को साथ ले, कठिन तप करने के लिए उद्यत हुआ ॥ ४६ ॥

प्राप्स्यामि तपसा काम-
मिति कृत्वाऽध्यवस्य च ।
आगच्छदात्मसिद्ध्यर्थं
गोकर्णस्याश्रमं शुभम् ॥ ४७ ॥

उसने अपने मन में यह निश्चय कर लिआ कि, मै तप द्वारा अपने अभीष्ट को प्राप्त करूँगा । अतः सिद्धिप्राप्ति के लिए वह गोकर्ण नामक शुभ आश्रम में आया ॥ ४७ ॥

स राक्षसस्तत्र सहानुजस्तदा
तपश्चचारातुलमुग्रविक्रमः ।
अतोषयच्चापि पितामहं विभुं
ददौ स तुष्टश्च वराञ्जयावहान् ॥ ४८ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

दशग्रीव ने भाइयों सहित बड़ा उग्र तप किया और अपने तप के बल से ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया, जिससे ब्रह्मा जी ने उसे जय देने वाले अभीष्ट वरदान दिए ॥ ४८ ॥

उत्तरकाण्ड का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ

—※—

दशमः सर्गः

—:o:—

अथाब्रवीन् मुनिं रामः कथं ते भ्रातरो वने ।
कीदृशं तु तदा ब्रह्मंस्तपस्तेपुर्महाबलाः ॥ १ ॥

इतना सुन श्रीरामचन्द्र जी अगस्त्य जी से बोले—हे ब्रह्मन्! उन तीनों महाबली भाइयों ने कैसी तपस्या की, सो कहिए ॥१॥

अगस्त्यस्त्वब्रवीत्तत्र रामं सुप्रीतमानसम् ।
तांस्तान् धर्मविधींस्तत्र भ्रातरस्ते समाविशन् ॥ २ ॥

यह सुन, अगस्त्य जी प्रसन्न हो कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोले कि, उन तीनों भाइयों ने वहाँ (गोकर्णाश्रम में) जा, तप के समस्त विधान किए ॥ २ ॥

कुम्भकर्णस्ततो यत्तो नित्यं धर्मपथे स्थितः ।
ततोप ग्रीष्मकाले तु पंचाग्नीन् परितः स्थितः ॥ ३ ॥

कुम्भकर्ण तपःधर्म के नियमानुसार (अथवा धर्ममार्ग पर स्थित हो,) गर्मी में अपने चारों ओर आग जला कर, पञ्चाग्नि तापता था ॥ ३ ॥

(टिप्पणी—चारों ओर चार अग्नियाँ और ऊपर से पाँचवाँ सूर्य-पञ्चाग्नि हैं ।)

मेघाम्बुसिक्तो वर्षासु वीरासनमसेवत ।
नित्यं च शिशिरे काले जलमध्यप्रतिश्रयः ॥ ४ ॥

वर्षाऋतु में वीरासन से बैठकर जल की वृष्टि को झेलता और शीत काल में जल में बैठता था ॥ ४ ॥

एवं वर्षसहस्राणि दश तस्यातिचक्रमुः ।
धर्मे प्रयतमानस्य सत्पथे निष्ठितस्य च ॥ ५ ॥

इस प्रकार तप करते करते उसने दस हज़ार वर्ष बिता डाले। इतने दिनों तक वह सदैव तपःधर्म के नियमानुसार तथा धर्म-मार्ग पर आरूढ़ रहा और केवल तप ही करता रहा ॥ ५ ॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा नित्यं धर्मपरः शुचिः ।
पञ्च वर्षसहस्राणि पादेनैकेन तस्थिवान् ॥ ६ ॥

धर्मात्मा विभीषण नित्य धर्म में तत्पर और पवित्र हो पाँच हज़ार वर्षों तक एक पैर से भूमि पर खड़ा रह कर, तप करता रहा ॥ ६ ॥

समाप्ते नियमे तस्य ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
पपात पुष्पवर्षं च *तुष्टुवुश्चापि देवताः ॥ ७ ॥

जब विभीषण जी का अनुष्ठान पूरा हुआ, तब अप्सराएँ नाचने लगीं, फूलों की वर्षा हुई और देवता स्तुति करने लगे ॥७॥

पंच वर्षसहस्राणि सूर्यं चैवान्ववर्तत ।
तस्थौ चोर्ध्वं शिरोबाहुः स्वाध्याये धृतमानसः ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—"क्षुभिताश्चापि"।

फिर विभीषण पाँच हज़ार वर्षों तक ऊपर को दोनों भुजाएँ उठाए और ऊपर को सिर कर, सूर्य नारायण को देखता रहा और वेदपाठ करता रहा ॥ ८ ॥

एवं विभीषणस्यापि स्वर्गस्थस्येव नन्दने ।
दश वर्षसहस्राणि गतानि नियतात्मनः ॥ ९ ॥

इस प्रकार तप करते हुए विभीषण के दस सहस्र (हज़ार) वर्ष वैसे ही बीते, जैसे स्वर्ग निवासी के नन्दनवन में बीतते हैं ॥ ९ ॥

दश वर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्चाग्नौ जुहाव सः ॥ १० ॥

दशग्रीव ने भी निराहार रह कर, दस सहस्र वर्षों तक तप किया। जब तप करते उसे एक सहस्र वर्ष पूरे होते, तब वह अपना एक सिर काट कर आग में होम देता था ॥ १० ॥

एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः ।
शिरांसि नव चाप्यस्य प्रविष्टानि हुताशनम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार तप करते करते उसने नौ सहस्र वर्ष बिता दिए और अपने नौ सिर भी आग में होम दिए ॥ ११ ॥

अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः ।
छेत्तुकामे दशग्रीवे प्राप्तस्तत्र पितामहः ॥ १२ ॥

जब दसवाँ सहस्र वर्ष पूरा हुआ; तब उसने अपना दसवाँ सिर भी काट कर अग्नि में होमना चाहा, तब उसके सामने ब्रह्मा जी प्रकट हुए ॥ १२ ॥

पितामहस्तु सुप्रीतः सार्धं देवैरुपस्थितः ।
तत्र तावद्दशग्रीव प्रीतोऽस्मीत्यस्यभाषत ॥ १३ ॥

ब्रह्मा जी प्रसन्न होकर सब देवताओं के साथ लिए उसके पास जा बोले—हे दशग्रीव ! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ ॥ १३ ॥

शीघ्रं वरय धर्मज्ञ वरो यस्तेऽभिकाङ्क्षितः ।
कं ते कामं करोम्यद्य न वृथा ते परिश्रमः ॥ १४ ॥

हे धर्मज्ञ ! तुझे जो वर माँगना हो शीघ्र माँग । हम तेरे लिए क्या करें, जिससे तेरा परिश्रम व्यर्थ न जाय ॥ १४ ॥

अथाब्रवीद्दशग्रीवः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
प्रणम्य शिरसा देवं हर्षगद्गदया गिरा ॥ १५ ॥

यह सुन कर रावण हर्षित हुआ और सीस नवा कर एवं प्रणाम कर हर्ष से गद्गद हो, बोले ॥ १५ ॥

भगवन् प्राणिनां नित्यं नान्यत्र मरणाद्भयम् ।
नास्ति मृत्युसमः शत्रुरमरत्वमहं वृणे ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! प्राणियों को सदा मृत्यु का भय जितना सताया करता है, उतना कोई भय उन्हें नहीं सताता, क्योंकि मृत्यु से बढ़ कर प्राणियों का और दूसरा शत्रु नहीं है । अतः मृत्यु भय से बचने के लिए मुझे आप वरदान में अमरत्व दें ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तदा ब्रह्मा दशग्रीवमुवाच ह ।
नास्ति सर्वामरत्वं ते वरमन्यं वृणीष्व मे ॥ १७ ॥

यह सुन कर ब्रह्मा जी बोले कि, ऐसा नहीं हो सकता अर्थात् पूरा पूरा अमरत्व तुझे नहीं मिल सकता। अतः तू और कोई वरदान माँग ॥ १७ ॥

एवमुक्तो तदा राम ब्रह्मणा लोककर्तृणा।
दशग्रीव उवाचेदं कृताञ्जलिरथाग्रतः ॥ १८ ॥

हे राम ! लोककर्त्ता ब्रह्मा जी ने जब यह कहा; तब, रावण उनके सामने खड़ा हो और हाथ जोड़ कर, बोला ॥ १८ ॥

सुपर्णनागयक्षाणां दैत्यदानवरक्षसाम् ।
अवध्योहं प्रजाध्यक्ष देवतानां च शाश्वत ॥ १९ ॥

हे प्रजाध्यक्ष ! गरुड़, सर्प, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस और देवताओं से सदा के लिए मुझे अवध्य कर दीजिए ॥ १९ ॥

न हि चिन्ता ममान्येषु प्राणिष्वमरपूजित ।
तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादयः ॥ २० ॥

हे देवपूजित ! इनके अतिरिक्त अन्य प्राणियों की मुझे चिन्ता या भय नहीं है। मनुष्यादि को तो मैं तृणवत् समझता हूँ ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दशग्रीवेण रक्षसा ।
उवाच वचनं देवः सह देवैः पितामहः ॥ २१ ॥

जब राक्षस दशग्रीव ने यह कहा, तब देवताओं सहित बैठे हुए पितामह ब्रह्मा जी बोले ॥ २१ ॥

भविष्यत्येवमेतत्ते वचो राक्षसपुङ्गव ।
एवमुक्त्वा तु तं राम दशग्रीवं पितामहः ॥ २२ ॥

हे राक्षसश्रेष्ठ ! अच्छा ऐसा ही होगा। हे राम ! ब्रह्मा जी दशग्रीव से यह कह कर ॥ २२ ॥

शृणु चापि वरो भूयः प्रीतस्येह शुभो मम ।
हुतानि यानि शीर्षाणि पूर्वमग्नौ त्वयाऽनघ ॥ २३ ॥

उससे फिर बोले—हे अनघ ! मैं तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ, अतः मैं अपनी ओर से भी तुझे वर देता हूँ कि जिन अपने सिरों को काट कर, तूने आग में होम दिआ है ॥ २३ ॥

पुनस्तानि भविष्यन्ति तथैव तव राक्षस ।
वितरामीह ते सौम्य वरं चान्यं दुरासदम् ॥ २४ ॥

हे राक्षस ! वे सिर फिर तेरे पूर्ववत हो जाँयगे। हे सौम्य ! एक और भी दुर्लभ वर मैं तुझको देता हूँ ॥ २४ ॥

छन्दतस्तव रूपं च मनसा यद्यथेप्सितम् ।
एवं पितामहोक्तं च दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २५ ॥

(वह यह है कि) जिस समय तू जैसा रूप धारण करना चाहेगा, वैसा ही रूप तेरा हो जायगा। ब्रह्मा जी के यह कहते ही राक्षस दशग्रीव के ॥ २५ ॥

अग्नौ हुतानि शीर्षाणि पुनस्तान्युत्थितानि वै ।
एवमुक्त्वा तु तं राम दशग्रीवं पितामहः ॥ २६ ॥

आग में होमे हुए सिर पूर्ववत् निकल आए। हे राम ! ब्रह्मा जी इस प्रकार दशग्रीव से कह कर ॥ २६ ॥

विभीषणमथोवाच वाक्यं लोकपितामहः ।
विभीषण त्वया वत्स धर्मसंहितबुद्धिना ॥ २७ ॥

परितुष्टोस्मि धर्मात्मन् वरं वरय सुव्रत ।
विभीषणस्तु धर्मात्मा वचनं प्राह साञ्जलिः ॥ २८ ॥

ब्रह्मा जी विभीषण से बोले—हे वत्स विभीषण ! मैं तेरी धर्मबुद्धि देख तुझ पर प्रसन्न हूँ। अतः हे धर्मात्मन् ! हे सुव्रत ! तू वर माँग। तब धर्मात्मा विभीषण ने हाथ जोड़ कर कहा ॥२७॥२८॥

वृतः सर्वगुणैर्नित्यं चन्द्रमा रश्मिभिर्यथा ।
भगवन् कृतकृत्योहं यन् मे लोकगुरुः स्वयम् ॥ २९ ॥

हे भगवन् ! जब सब लोकों के गुरु ब्रह्मा जी, मुझ पर स्वयं सन्तुष्ट हुए हैं, तब मैं कृतार्थ हो गया और वैसे ही सर्वगुणों से युक्त हो गया जैसे चन्द्रमा किरणों से युक्त होता है ॥२९॥

प्रीतेन यदि दातव्यो वरो मे शृणु सुव्रत ।
परमापद्गतस्यापि धर्मे मम मतिर्भवेत् ॥ ३० ॥

हे सुव्रत ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझे वर ही देना चाहते हैं, तो आप मुझे यह वर दें कि, दारुण विपत्ति पड़ने पर भी, मेरी बुद्धि धर्म ही में बनी रहे ॥३०॥

अशिक्षितं च ब्रह्मास्त्रं भगवन् प्रतिभातु मे ।
या या मे जायते बुद्धिर्येषु येष्वाश्रमेषु च ॥ ३१ ॥
सा सा भवतु धर्मिष्ठा तं तु धर्मं च पालये ।
एष मे परमोदार वरः परमको मतः ॥ ३२ ॥

और हे भगवन् ! विना किसी के सिखलाए ही मुझे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना आ जाय और जिस आश्रम में मैं रहूँ, उस आश्रमोचित धर्मों के पालन में मेरी निष्ठा बढ़े अथवा मैं उनका

यथाविधि पालन करूँ। हे परमोदार ! अर्थात् परमदाता ! यही मेरा सर्वोत्कृष्ट अभीष्ट है ॥३२॥३२॥

न हि धर्माभिरक्तानां लोके किञ्चन दुर्लभम् ।
पुनः प्रजापतिः प्रीतो विभीषणमुवाच ह ॥ ३३ ॥

क्योंकि जिनका धर्म में अनुराग है या जो धर्मनिष्ठ हैं उनके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है। यह सुन ब्रह्मा जो प्रसन्न हो, फिर विभीषण से बोले ॥३३॥

धर्मिष्ठस्त्वं यथा वत्स तथा चैतद्भविष्यति ।
यस्माद्राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रनाशन ॥ ३४ ॥

हे वत्स ! धर्मिष्ठ तो तुम हो ही ! इसके अतिरिक्त तुम जैसा होना चाहते, हो, वैसे ही हो जाओगे। हे शत्रुनाशी ! राक्षसकुल में उत्पन्न हो कर भी ॥३४॥

नाधर्मे जायते बुद्धिरमरत्वं ददामि ते ।
इत्युक्त्वा कुम्भकर्णाय वरं दातुमुपस्थितम् ॥ ३५ ॥

तुम्हारी अधर्म में बुद्धि नहीं है। अतः मैं तुमको अमर होने का भी वर देता हूँ। विभीषण से इस प्रकार कह, ब्रह्मा जी कुम्भकर्ण को वरदान देने को तैयार हुए ॥३५॥

प्रजापतिं सुराः सर्वे वाक्यं प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ।
न तावत् कुम्भकर्णाय प्रदातव्यो वरस्त्वया ॥ ३६ ॥

उस समय उनके साथ जो देवता थे, वे हाथ जोड़कर उनसे बोले—हे ब्रह्मन् ! आप कुम्भकर्ण को वर न दें ॥३६॥

जानीषे हि यथाऽलोकांस्त्रासयत्येष दुर्मतिः ।
नन्दनेऽप्सरसः सप्त महेन्द्रानुचरा दश ॥ ३७ ॥

क्योंकि आप जानते ही हैं कि, वर पाए बिना ही यह दुष्ट तीनों लोकों को सताया करता है। नन्दनवन में सात अप्सराओं और इन्द्र के दस टहलुओं को ॥३७॥

अनेन भक्षिता ब्रह्मन् ऋषयो मानुषास्तथा ।
अलब्धवरपूर्वेण यत्कृतं राक्षसेन तु ॥ ३८ ॥

इसने खा डाला है। इसके खाए हुए ऋषियों और मनुष्यों की तो गिनती हो ही नहीं सकती। बिना वर पाए ही जब इसकी ऐसी करतूतें देखने में आती हैं ॥३८॥

यद्येष वरलब्धः स्याद्भक्षयेद्भुवनत्रयम् ।
वरव्याजेन मोहोऽस्मै दीयताममितप्रभ ॥ ३९ ॥

तब वर पाने पर तो यह तीनों भुवनों को खा डालेगा। अतः हे अमितप्रभ! वर के बहाने इसे अज्ञान प्रदान कीजिए ॥३९॥

लोकानां स्वस्ति चैवं स्याद्भवेदस्य च सम्मतिः ।
एवमुक्तः सुरैर्ब्रह्माऽचिन्तयत्पद्मसम्भवः ॥ ४० ॥

इससे लोकों का कल्याण होगा और इसका भी मान बना रहेगा। जब देवताओं ने इस प्रकार कहा, तब पद्मसम्भव ब्रह्मा जी ने सरस्वती देवी का स्मरण किया ॥४०॥

चिन्तिता चोपतस्थेऽस्य पार्श्वं देवी सरस्वती ।
प्राञ्जलिः सा तु पार्श्वस्था प्राह वाक्यं सरस्वती ॥४१॥

स्मरण करते ही सरस्वती जी ब्रह्मा जी के पास आ उपस्थित हुई और पास खड़ी हो, हाथ जोड़े हुए ब्रह्मा जी से बोलीं ॥४१॥

इयमस्म्यागता देव किं कार्यं करवाण्यहम् ।
प्रजापतिस्तु तां प्राप्तां प्राह वाक्यं सरस्वतीम् ॥४२॥

हे देव! मैं यहाँ आ गई हूँ, कहिए क्या आज्ञा है? सरस्वती को उपस्थित देख, ब्रह्मा जी ने उनसे कहा ॥४२॥

वाणि त्वं राक्षसेन्द्रस्य भव वाग्देवतेप्सिता* ।
तथेत्युक्त्वा प्रविष्टा सा प्रजापतिरथाब्रवीत् ॥ ४३ ॥

हे भारती! देवताओं की कामना के अनुसार, तुम इस राक्षस की जिह्वा पर बैठ कर इससे कहलाओ। "जो आज्ञा" कह कर, देवी सरस्वती कुम्भकर्ण के मुख में पैठ गई। तब ब्रह्मा जी ने कुम्भकर्ण से कहा ॥४३॥

कुम्भकर्ण महाबाहो वरं वरय यो मतः ।
कुम्भकर्णस्तु तद्वाक्यं श्रुत्वा वचनमब्रवीत् ॥ ४४ ॥

स्वप्तुं वर्षाण्यनेकानि देवदेव ममेप्सितम् ।
एवमस्त्विति तं चोक्त्वा प्रायाद्ब्रह्मा सुरैस्समम् ॥४५॥

हे महाबलवान कुम्भकर्ण! तुम जो वर चाहते हो सो माँग लो। ब्रह्मा जी का यह वचन सुन कुम्भकर्ण बोला ॥४४॥

हे देवदेव! मैं यह चाहता हूँ कि, मैं अनेक वर्षों तक सोया करूँ। ब्रह्मा जी ने कहा "तथास्तु" (अर्थात् ऐसा ही होगा) और वे देवताओं को साथ ले चल दिए ॥४५॥

---

*पाठान्तरे—"वाणित्वं राक्षसेन्द्र भवा या देवतेप्सिता।"

देव सरस्वती चैव राक्षसं तं जहौ पुनः ।
ब्रह्मणा सह देवेषु गतेषु च नभःस्थलम् ॥ ४६ ॥

सरस्वती देवी भी उसके मुख से निकल आई देवताओं के साथ ब्रह्मा जी भी आकाशमंडल में चले गए ॥ ४६ ॥

विमुक्तोसौ सरस्वत्या स्वां संज्ञां च ततो गतः ।
कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा चिन्तयामास दुःखितः ॥ ४७ ॥

जब सरस्वती ने कुम्भकर्ण को छोड़ दिआ, तब उसे चेत हुआ । तब तो वह दुष्ट कुम्भकर्ण दुःखी हो सोचने लगा ॥४७॥

ईदृशं किमिदं वाक्यं ममाद्य वदनाच्च्युतम् ।
अहं व्यामोहितो देवैरिति मन्ये तदागतैः ॥ ४८ ॥

कि हाय मेरे मुख से ऐसा वचन क्यों निकला । मुझे जान पड़ता है कि, उस समय देवताओं ने आ कर मुझे मोहित कर दिआ था ॥ ४८ ॥

एवं लब्धवराः सर्वे भ्रातरो दीप्ततेजसः ।
श्लेष्मान्तकवनं गत्वा तत्र ते न्यवसन् सुखम् ॥४९॥

इस प्रकार तेजस्वी सब भाई वर प्राप्त कर, उस श्लेष्मान्तक* वन में, जहाँ उनके पिता तप किआ करते थे, चले गए और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ४९ ॥

उत्तरकाण्ड का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:ॐ:—

* श्लेष्मान्तक—लसोड़ा अथवा बहेड़ा का वन ।

एकादशः सर्गः

—:o:—

सुमाली वरलब्धांस्तु ज्ञात्वा चैतान्निशाचरान् ।
उदतिष्ठद्भयं त्यक्त्वा सानुगः स रसातलात् ॥ १ ॥

उधर सुमाली इन तीनों भाइयों के वर पाने का समाचार सुन, निर्भय हो अपने अनुचरों सहित पाताल से निकला ॥१॥

मारीचश्च प्रहस्तश्च विरूपाक्षो महोदरः ।
उदतिष्ठन् सुसंरब्धाः सचिवास्तस्य रक्षसः ॥ २ ॥

मारीच, महोदर, प्रहस्त, विरूपाक्ष—ये सुमाली के सचिव थे। ये भी उसके साथ अत्यन्त उत्साहित हो निकले ॥ २ ॥

सुमाली सचिवैः सार्धं वृतो राक्षसपुङ्गवैः ।
अभिगम्य दशग्रीवं परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

सुमाली अपने राक्षसश्रेष्ठ मंत्रियों को साथ ले, दशग्रीव के निकट गया और उसे गले लगा उससे बोला ॥ ३ ॥

दिष्ट्या ते वत्स सम्प्राप्तश्चिन्तितोऽयं मनोरथः ।
यस्त्वं त्रिभुवनश्रेष्ठाल्लब्धवान् वरमुत्तमम् ॥ ४ ॥

हे वत्स। बड़े सौभाग्य की बात है कि, यह वाञ्छित मनोरथ पूरा हुआ। तुमने त्रिभुवन नाथ से उत्तम वर पा लिया ॥४॥

यत्कृते च वयं लङ्कां त्यक्त्वा याता रसातलम् ।
तद्गतं नो महाबाहो महद्विष्णुकृतं भयम् ॥ ५ ॥

जिस भय से हम सब को लङ्का को छोड़ कर रसातल में भाग जाना पड़ा था, हे महाबाहो! वह विष्णु का बड़ा भय दूर हो गया ॥ ५ ॥

असकृत्तद्भयाद्भग्नाः* परित्यज्य स्वमालयम् ।
विद्रुताः सहिताः सर्वे प्रविष्टाः स्म रसातलम् ॥ ६ ॥

उनके भय से हम सब लोगों को अनेक बार दुखी हो अपना घर द्वार छोड़ कर, भागना पड़ा और रसातल में जाना पड़ा ॥ ६ ॥

अस्मदीया च लङ्केयं नगरी राक्षसोचिता ।
निवेशिता तव भ्रात्रा धनाध्यक्षेण धीमता ॥ ७ ॥

यह लङ्का हमारी ही है, हम सब राक्षस उसी में रहते थे। किन्तु अब उसे तुम्हारे बुद्धिमान् भाई कुबेर ने अपने अधिकार में कर लिआ है ॥ ७ ॥

यदि नामात्र शक्यं स्यात्साम्ना दानेन वाऽनघ ।
तरसा वा महाबाहो प्रत्यानेतुं कृतं भवेत् ॥ ८ ॥

हे अनघ! हे महावीर! यदि कहीं साम, दाम, अथवा युद्ध द्वारा ही लङ्का अपने अधिकार में तुम कर सको, तो बड़ा काम बन जाय ॥ ८ ॥

त्वं तु लङ्केश्वरस्तात भविष्यसि न संशयः ।
त्वया राक्षसवंशोयं निमग्नोपि समुद्धृतः ॥ ९ ॥

हे तात! तुम निस्सन्देह लङ्केश्वर होगे और इस प्रकार डूबे हुए राक्षसकुल का तुम उद्धार करोगे ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"भीताः" ।

सर्वेषां नः प्रभुश्चैव भविष्यसि महाबल ।
अथाब्रवीद्दशग्रीवो मातामहमुपस्थितम् ॥ १० ॥

तथा हम सब के तुम स्वामी होगे। इतना सुन रावण अपने नाना सुमाली से बोला ॥ १० ॥

वित्तेशो गुरुरस्माकं नार्हसे वक्तुमीदृशम् ।
साम्ना हि राक्षसेन्द्रेण प्रत्याख्यातो गरीयसा ॥ ११ ॥

ज्येष्ठ भ्राता कुबेर जी मेरे पूज्य है, अतः तुम ऐसी बात न कहो। जब रावण ने अपने नाना को इस तरह समझा दिआ ॥ ११ ॥

किञ्चिन्नाह तदा रक्षो ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य वसन्तं रावणं ततः ॥ १२ ॥

तब सुमाली उसके मन की बात जान, कुछ न बोला। कुछ काल बाद वहाँ रहते हुए रावण से ॥ १२ ॥

प्रहस्तः प्रश्रितं वाक्यमिदमाह स रावणम्* ।
दशग्रीव महाबाहो नार्हसे वक्तुमीदृशम् ॥ १३ ॥

प्रहस्त ने रावण से विनम्र भाव से यह कहा—हे महबाहो! हे दशग्रीव! तुमको ऐसा न कहना चाहिए ॥ १३ ॥

सौभ्रात्रं नास्ति शूराणां शृणु चेदं वचो मम ।
अदितिश्च दितिश्चैव भगिन्यौ सहिते हिते ॥ १४ ॥

शूरों के लिए भाईपन का विचार कोई विचार नहीं। सुनो मै तुम्हें इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त सुनाता हूँ। अदिति व दिति दोनों बहनें थीं, जो एक दूसरे की हितैषिणी थीं ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"सकारणम्"।

भार्ये परमरूपिण्यौ कश्यपस्य प्रजापतेः ।
अदितिर्जनयामास देवांस्त्रिभुवनेश्वरान् ॥ १५ ॥
दितिस्त्वजनयद्दैत्यान् कश्यपस्यात्मसम्भवान् ।
दैत्यानां किल धर्मज्ञ पुरेयं सवनार्णवा ॥ १६ ॥
सपर्वता मही वीर तेऽभवन् प्रभविष्णवः
निहत्य तांस्तु समरे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १७ ॥

ये दोनों बड़ी रूपवती थीं और कश्यप प्रजापति को ब्याही थीं। अदिति ने त्रिभुवन के स्वामी देवताओं को जना और दिति ने कश्यप जी के औरस से दैत्यों को। हे धर्मज्ञ! पूर्वकाल में सागर, कानन और पर्वतों समेत यह सारी पृथिवी दैत्यों के अधिकार में थी। किन्तु प्रभावशाली विष्णु ने युद्ध में समस्त दैत्यों का संहार कर ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

देवानां वशमानीतं त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ।
नैतदेको भवानेव करिष्यति विपर्ययम् ॥ १८ ॥

ये अविनाशी तीनों लोक देवताओं के अधीन कर दिए। अतः आप विचार कर देखें कि, आप ही अपने भाई के साथ वैर भाव करेंगे सो बात नहीं है। अथवा आप ही ऐसा उलट पलट करने वाले अनोखे न समझे जायगे ॥ १८ ॥

सुरासुरैराचरितं तत्कुरुष्व वचो मम ।
एवमुक्तो दशग्रीवः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

जो काम आज तक सुर और असुर सदा से करते चले आए हैं, वही काम आप भी मेरा कहना मान कर कीजिये।

जब प्रहस्त ने इस प्रकार समझाया, तब तो रावण ने हर्षित अन्तः करण से ॥ १६ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तं वै बाढमित्येव सोऽब्रवीत् ।
सतु तेनैव हर्षेण तस्मिन्नहनि वीर्यवान् ॥ २० ॥
वनं गतो दशग्रीवः सह तैः क्षणदाचरैः ।
त्रिकूटस्थः स तु तदा दशग्रीवो निशाचरः ॥ २१ ॥

एक मुहूर्त्त तक कुछ सोचा विचारा। तदनन्तर उसने कहा—बहुत अच्छा। अर्थात् प्रहस्त के कहने से वह सम्मत हो गया। ऐसा कह हर्ष के मारे वीर्यवान् दशग्रीव उसी दिन निशाचरों के साथ लङ्का के समीप वाले वन में गया और त्रिकूट पर्वत पर टिक गया। फिर राक्षस दशग्रीव ने ॥२०॥२१॥

प्रेषयामास*दौत्येन प्रहस्तं वाक्यकोविदम् ।
प्रहस्त शीघ्रं गच्छ त्वं ब्रूहि नैर्ऋतपुङ्गवम् ॥ २२ ॥
वचसा मम वित्तेशं सामपूर्वमिदं वचः ।
इयं लङ्कापुरी राजन् राक्षसानां महात्मनाम् ॥ २३ ॥

वाक्यविशारद प्रहस्त को अपना दूत बना कर कुबेर के पास भेजा। (उसने प्रहस्त से कहा कि)—हे प्रहस्त! तुम शीघ्र कुबेर के पास जाओ और उनसे मेरी ओर से समझा कर यह कहना कि—"हे राजन्! यह लङ्कापुरी महाबलवान् राक्षसों की है ॥ २३ ॥२४॥

त्वया निवेशिता सौम्य नैतद्युक्तं तवानघ ।
तद्भवान् यदि नोह्यद्य दद्यादतुलविक्रम ॥ २४ ॥

---

*पाठान्तरे—"दूत्येन"।

कृता भवेन् मम प्रीतिर्धर्मश्चैवानुपालितः ।
स तु गत्वा पुरीं लङ्कां धनदेन सुरक्षिताम् ॥ २५ ॥

सो हे सौम्य ! हे अनघ ! तुम्हरा इसमें रहना उचित नहीं है । हे अतुल विक्रमकारी ! यदि लङ्कापुरी आप हमें लौटा दें, तो आप यह काम हमारी परम प्रसन्नता का करेंगे और ऐसा करने से धर्म की रक्षा भी होगी" । कुवेरपालित लङ्का में प्रहस्त गया ॥ २४ ॥ २५ ॥

अब्रवीत् परमोदारं वित्तपालमिदं वचः ।
प्रेषितोऽहं तव भ्रात्रा दशग्रीवेण सुव्रत ॥ २६ ॥
त्वत्समीपं महाबाहो सर्वशस्त्रभृतांवर ।
वचनं मम वित्तेश यद्ब्रवीति दशाननः ॥ २७ ॥

और वहाँ जा कर परमोदार धनपाल कुवेर से यह बोला — हे सुव्रत ! मुझे तुम्हारे भाई रावण ने तुम्हारे पास भेजा है । हे महाबाहो ! हे शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ ! दशग्रीव ने जो संदेसा कहा है, उसे तुम मेरे मुख से सुनो ॥ २६ ॥ २७ ॥

इयं किल पुरी रम्या सुमालिप्रमुखैः पुरा ।
भुक्तपूर्वा विशालाक्ष राक्षसैर्भीमविक्रमैः ॥ २८ ॥

हे विशालाक्ष ! पूर्वकाल में यह रमणीक सुप्रसिद्ध लङ्कापुरी घोर पराक्रमी सुमाली आदि राक्षसों के अधिकार में थी ॥२८ ॥

तेन विज्ञाप्यते सोयं साम्प्रतं विश्रवात्मज ।
तदेषा दीयतां तात याचतस्तस्य सामतः ॥ २९ ॥

हे तात ! हे विश्रवात्मज ! अतः इसे अब तुम दे दो। हम तुमसे प्रार्थनापूर्वक याचना करते हैं॥ २६॥

प्रहस्तादपि संश्रुत्य देवो वैश्रवणो वचः ।
प्रत्युवाच प्रहस्तं तं वाक्यं वाक्यविदां वरः ॥ ३० ॥

वचन बोलने में चतुर धननाथ कुबेर ने प्रहस्त के ऐसे वचन सुन कर कहा ॥ ३० ॥

दत्ता ममेयं पित्रा तु लङ्का शून्या निशाचरैः ।
निवेशिता च मे रक्षो दानमानादिभिर्गुणैः ॥ ३१ ॥

यह लङ्का नगरी खाली पड़ी थी। इसमें कोई भी राक्षस नहीं रहता था। इसे खाली देख कर पिता ने मुझे यह रहने के लिए दी है। मैंने दान मानादि से अनेक लोगों को इसमें बसा इसे आबाद किया है॥ ३१ ॥

ब्रूहि गच्छ दशग्रीवं पुरी राज्यं च यन्मम ।
तवाप्येतन्महाबाहो भुंक्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ३२ ॥

सो तुम मेरी ओर से जा कर दशग्रीव से कह देना कि, यह नगरी और राज्य जो कुछ मेरे पास है, सो सब तुम्हारा ही है, अतः तुम चाहो तो हे महाबाहो ! अकण्टक राज्य भोगो ॥ ३२ ॥

अविभक्तं त्वया सार्धं राज्यं यच्चापि मे वसु ।
एवमुक्त्वा धनाध्यक्षो जगाम पितुरन्तिकम् ॥ ३३ ॥

क्योंकि यह राज्य और धनादि ऐश्वर्य हमारा और तुम्हारा अलग अलग नहीं है, एक ही है। प्रहस्त से इस प्रकार कह कर, कुबेर जी अपने पिता के निकट गए । ३३ ॥

अभिवाद्य गुरुं प्राह रावणस्य यदीप्सितम् ।
एष तात दशग्रीवो दूतं प्रेषितवान् मम ॥ ३४ ॥

और पूज्य पिता जी को प्रणाम कर, दशग्रीव के अभीष्ट को जानते हुए कहा । हे पिता ! दशग्रीव ने अपना एक दूत मेरे पास भेजा है ॥ ३४ ॥

दीयतां नगरी लङ्का पूर्वं रक्षोगणोषिता ।
मयात्र यदनुष्ठेयं तन्ममाचक्ष्व सुव्रत ॥ ३५ ॥

और उसके द्वारा मुझसे कहलाया है कि लङ्का मुझे दे दो क्योंकि पहले इसमें राक्षस ही रहा करते थे । हे सुव्रत ! इस समय मुझे क्या करना चाहिए सो आप आज्ञा करें ॥ ३५ ॥

ब्रह्मर्षिस्त्वेवमुक्तोऽसौ विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
प्राञ्जलिं धनदं प्राह शृणु पुत्र वचो मम ॥ ३६ ॥

इस पर मुनिपुङ्गव ब्रह्मर्षि विश्रवा जी, हाथ जोड़े सामने खड़े हुए कुबेर से बोले, हे पुत्र ! मैं जो कहता हूँ सो सुनो ॥३६॥

दशग्रीवो महाबाहुरुक्तवान् मम सन्निधौ ।
मया निर्भर्त्सितश्चासीद्बहुशोक्तः सुदुर्मतिः ॥ ३७ ॥

दशग्रीव ने यह बात मुझसे भी कही थी, परन्तु मैंने तो उस दुष्ट को बहुत फटकारा था ॥ ३७ ॥

स क्रोधेन मया चोक्तो ध्वंससे च पुनः पुनः ।
श्रेयोभियुक्तं धर्म्यं च शृणु पुत्र वचो मम ॥ ३८ ॥

और रोष में भर मैंने बार बार (यह कह कर उसको धमकाया भी) कि तू नष्ट हो जायगा। हे पुत्र! अब तुम मेरे कल्याणकारी धर्म युक्त वचन सुनो॥ ३८॥

वरप्रदानसंमूढो मान्यामान्यं सुदुर्मतिः।
न वेत्ति मम शापाच्च प्रकृतिं दारुणां गतः॥३९॥

जब से उसे वर मिला है तब से वह बड़ा ही दुष्टबुद्धि हो गया है। उसके लेखे मान्य और अमान्य कुछ है ही नहीं। मेरे शाप से उसका स्वभाव बड़ा दारुण हो गया है॥ ३९॥

तस्माद्गच्छ महाबाहो कैलासं धरणीधरम्।
निवेशय निवासार्थं त्यक्त्वा लङ्कां सहानुगः॥४०॥

अतएव अब तुम अपने अनुयायियों सहित कैलासपर्वत पर जा कर बसो और वहीं अपने लिए पुरी बनाओ। लङ्का को खाली कर दो॥ ४०॥

तत्र मन्दाकिनी रम्या नदीनामुत्तमा नदी।
काञ्चनैः सूर्यसङ्काशैः पङ्कजैः संवृतोदका॥ ४१॥

कैलास पर सब नदियों से उत्तम और रम्य मन्दाकिनी नदी बहती है। उसके जल में सूर्य जैसे चमकीले कमल के फूल खिल रहे हैं॥ ४१॥

कुमुदैरुत्पलैश्चैव अन्यैश्चैव सुगन्धिभिः।
तत्र देवाः सगन्धर्वाः साप्सरोरगकिन्नराः॥ ४२॥
विहारशीलाः सततं रमन्ते सर्वदाश्रिताः।
नहि क्षमं त्वयानेन वैरं धनद रक्षसा।
जानीषे हि यथानेन लब्धः परमको वरः॥ ४३॥

कुइं, सफेद कमल तथा अन्य महकदार फूलों से वह स्थान सुवासित है। वहाँ विहारशील देवता, गन्धर्व अप्सराएँ और किन्नर सदैव बने रहते हैं और विहार किया करते हैं। हे धनद! इस राक्षस से तुम्हारा वैर करना उचित नहीं है। क्योंकि यह तो तुम्हें मालूम ही है कि, इसे सर्वोत्कृष्ट वर प्राप्त हो चुका है॥ ४२ ॥ ४३ ॥

एवमुक्तो गृहीत्वा तु तद्वचः पितृगौरवात् ।
सदारपुत्रः सामात्यः सवाहनधनो गतः ॥ ४४ ॥

यह सुन कुबेर जी पिता की आज्ञा मान अपने बाल-बच्चों, मंत्रियों वाहन और धन को साथ ले, कैलास पर्वत पर चले गए॥ ४४ ॥

प्रहस्तोऽथ दशग्रीवं गत्वा वचनमब्रवीत् ।
प्रहृष्टात्मा महात्मानं सहामात्यं सहानुजम् ॥ ४५ ॥

प्रहस्त ने हर्षित अन्तःकरण से अनुज और मंत्रियों के साथ बैठे हुए महाबली दशग्रीव के पास जाकर कहा ॥ ४५ ॥

शून्या सा नगरी लङ्का त्यक्त्वैनां धनदो गतः ।
प्रविश्य तां सहास्माभिः स्वधर्मं तत्र पालय ॥ ४६ ॥

कुबेर लङ्का को खाली कर चले गए हैं। अब वह खाली पड़ी है। अतः अब आप हम लोगों के साथ वहाँ चलिए और राज्य कीजिए॥ ४६ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवः प्रहस्तेन महाबलः ।
विवेश नगरीं लङ्कां भ्रातृभिः सबलानुगैः ॥ ४७ ॥

महाबलवान रावण प्रहस्त के ऐसे वचन सुन कर अति हर्षित हुआ और अपने भाई, सेना और अनुचरों सहित उसने लङ्का में प्रवेश किया ॥ ४७ ॥

धनदेन परित्यक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।
आरुरोह स देवारिः स्वर्गं देवाधिपो यथा ॥ ४८ ॥

कुबेर की त्यागी हुई और सुन्दर सड़कों से युक्त लङ्कापुरी में देवताओं के शत्रु रावण ने उसी प्रकार प्रवेश किया; जिस प्रकार इन्द्र स्वर्ग में प्रवेश करते हैं ॥ ४८ ॥

स चाभिषिक्तः क्षणदाचरैस्तदा
निवेशयामास पुरीं दशाननः ।
निकामपूर्णा च बभूव सा पुरी
निशाचरैर्नीलबलाहकोपमैः ॥ ४९ ॥

लङ्कापुर में पहुँचते ही राक्षसों ने रावण के राजतिलक किया। फिर रावण ने पुरी को बसाया। नीले मेघों के समान देह वाले निशाचरों के झुण्ड लङ्कापुरी में बस गये ॥ ४९ ॥

धनेश्वरस्त्वथ पितृवाक्यगौरवात्
न्यवेशयच्छशिविमले गिरौ पुरीम् ।
स्वलंकृतैर्भवनवरैर्विभूषितां
पुरन्दरः स्वरिव यथामरावतीम् ॥ ५० ॥

इति एकादशः सर्गः

कुबेर ने भी अपने पिता की आज्ञा मान, कैलास पर्वत पर अति सुंदर एवं शोभायमान मन्दिरों सहित अति मनोहर अलकापुरी बसाई, जो इन्द्र की अमरावती पुरी के समान थी ॥ ५० ॥

उत्तरकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:-:—

द्वादशः सर्गः

—:-:—

राक्षसेन्द्रोऽभिषिक्तस्तु भ्रातृभिः सहितस्तदा ।
ततः प्रदानं राक्षस्या भगिन्याः समचिन्तयत् ॥ १ ॥

रावण अभिषिक्त हो, अपने भाइयों सहित, अपनी बहिन सूपनखा के विवाह के लिए चिन्तित हुआ ॥ १ ॥

*ददौ तां कालकेन्द्राय दानवेन्द्राय राक्षसीम् ।
स्वसां शूर्पणखां नाम विद्युज्जिह्वाय राक्षसः ॥ २ ॥

तदनन्तर रावण ने कालकेयवंशी दानवेन्द्र विद्युज्जिह्व के साथ अपनी बहिन सूपनखा का विवाह कर दिया ॥ २ ॥

अथ दत्त्वा स्वयं रक्षो मृगयामटते स्म तत्र ।
तत्रापश्यत्ततो राम मयं नाम दितेः सुतम् ॥ ३ ॥

हे राम ! इस प्रकार अपनी बहिन का विवाह कर दशग्रीव रावण ने शिकार खेलते खेलते, दिति के पुत्र मय को देखा ।३।

कन्यासहायं तं दृष्ट्वा दशग्रीवो निशाचरः ।
अपृच्छत् को भवानेको निर्मनुष्यमृगे वने ॥ ४ ॥

---

*पाठान्तरे—"स्वसारं कालकेयाय दानवेन्द्राय राक्षसीम् ददौ । शूर्पणखा विद्युज्जिह्वाय नामतः ।"

रावण ने मय को एक कन्या सहित देख कर पूछा—आप कौन हैं ? और इस मनुष्यरहित एवं नाना प्रकार के जंगली जीवों से भरे हुए वन में आप अकेले क्यों घूम रहे हैं ॥ ४ ॥

अनया मृगशावाक्ष्या किमर्थं सह तिष्ठसि ।
मयस्तदाब्रवीद्राम पृच्छन्तं तं निशाचरम् ॥ ५ ॥

और इस मृगनयनी को अपने साथ क्यों लिए हुए हैं ? हे राम ! रावण ने जब इस प्रकार पूँछा, तब मय ने उत्तर देते हुए कहा ॥ ५ ॥

श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये यथावृत्तमिदं तव* ।
हेमा नामाप्सरास्तत्र श्रुतपूर्वा यदि त्वया ॥ ६ ॥

मैं अपना समस्त वृत्तान्त तुमको ज्यों का त्यों सुनाता हूँ । तुम सुनो । कदाचित् तुमने हेमा नाम की अप्सरा का नाम सुना हो ॥ ६ ॥

दैवतैर्मम सा दत्ता पौलोमीव शतक्रतोः ।
तस्यां सक्तमना ह्यासं दशवर्षशतान्यहम् ॥ ७ ॥

जैसे इन्द्र को शची मिली थी, वैसे ही देवताओं ने उस हेमा को मुझे दिआ । मैं हजार वर्षों तक उसमें आसक्त रहा ॥ ७ ॥

सा च दैवतकार्येण त्रयोदश समागताः ।
वर्षं चतुर्दशं चैव ततो हेममयं पुरम् ॥ ८ ॥

जब वह देवताओं का कार्य करने के लिए देवलोक को चली गई, तब मैं उसके विरह में कातर हो, चौदह वर्षों तक अपनी सुवर्णमयी पुरी में रहा ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—"मम ।"

वज्रवैदूर्यचित्रं च मायया निर्मितं मया ।
तत्राहमवसं दीनस्तया हीनः सुदुःखितः ॥ ९ ॥

यह पुरी मैंने अपनी विचित्र निर्माणशक्ति से हीरों और पन्नों से जड़ कर बनाई थी। उस स्त्री के वियोग में मैं दीन और अत्यन्त दुःखी हो कर, उसी अपने बनाए हुए नगर में रहने लगा ॥ ९ ॥

तस्मात् पुराद्दुहितरं गृहीत्वा वनमागतः ।
इयं ममात्मजा राजंस्तस्याः कुक्षौ विवर्धिता ॥ १० ॥

मैं उसी नगर से इस लड़की को अपने साथ ले, यहाँ आया हूँ। हे राजन्! यह लड़की उसी अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न हुई है ॥ १० ॥

भर्तारमनया सार्धमस्याः प्राप्तोऽस्मि मार्गितुम् ।
कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकांक्षिणाम् ॥११॥

मैं इसको साथ लिए हुए, इसके लिए वर खोजने आया हूँ। प्रायः सभी मानी पुरुषों के लिए कन्या दुःखरूपिणी हुआ करती है ॥ ११ ॥

कन्या हि द्वे कुले नित्यं संशये स्थाप्य तिष्ठति ।
पुत्रद्वयं ममाप्यस्यां भार्यायां सम्बभूव ह ॥ १२ ॥

क्योंकि वे मातृकुल और पितृकुल दोनों को सन्देह में डाले रहती हैं। हे भद्र! हेमा से मेरे दो पुत्र भी उत्पन्न हुए हैं ॥१२॥

मायावी प्रथमस्तात दुन्दुभिस्तदनन्तरः ।
एवं ते सर्वमाख्यातं यथातथ्येन पृच्छतः ॥ १३ ॥

उनमें से ज्येष्ठ का नाम मायावी है और छोटे का नाम दुन्दुभी है। हे तात! तुम्हारे पूँछने पर जो यथार्थ बात थी सो मैंने तुमसे कह दी॥ १३॥

त्वामिदानीं कथं तात जानीयां को भवानिति।
एवमुक्तं तु तद्वचो विनीतमिदमब्रवीत्॥ १४॥

हे तात! आप कौन हैं? यह बात मुझे क्यों कर मालूम हो सकती है? जब दानवेन्द्र ने इस प्रकार कहा तब रावण ने विनीत भाव से कहा॥ १४॥

अहं पौलस्त्यतनयो दशग्रीवश्च नामतः।
मुनेर्विश्रवसो यस्तु तृतीयो ब्रह्मणोऽभवत्॥ १५॥

मेरा दशग्रीव नाम है। मै पुलस्त्य मुनि के वंश में उत्पन्न हुआ हूँ और विश्रवा का पुत्र हूँ। ये विश्रवा जी ब्रह्मा के पौत्र हैं॥ १५॥

एवमुक्तस्तदा राम राक्षसेन्द्रेण दानवः।
महर्षेस्तनयं ज्ञात्वा मयो दानवपुङ्गवः॥ १६॥
दातुं दुहितरं तस्मै रोचयामास तत्र वै।
करेण तु करं तस्या ग्राहयित्वा मयस्तदा॥ १७॥
प्रहसन् प्राह दैत्येन्द्रो राक्षसेन्द्रमिदं वचः॥
इयं ममात्मजा राजन् हेमयाऽप्सरसा धृता॥ १८॥

जब राक्षसेन्द्र दशग्रीव ने इस प्रकार कहा, तब दानवश्रेष्ठ मय, यह जान कि, दशग्रीव एक महर्षि का पुत्र है, अपनी कन्या उसे देने को तैयार हो गया। दशग्रीव के हाथ में अपनी कन्या का हाथ थमा, दैत्येन्द्र मय ने मुसक्याते हुए दशग्रीव से यह कहा—

हे राजन् ! यह मेरी कन्या है और हेमा नाम की अप्सरा के गर्भ से यह उत्पन्न हुई है ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

कन्या मन्दोदरी नाम पत्न्यर्थं प्रतिगृह्यताम् ।
बाढमित्येव तं राम दशग्रीवोऽभ्यभाषत ॥ १६ ॥

इसका नाम मन्दोदरी है। इसे आप पत्नी रूप से ग्रहण कीजिए। इस पर हे राम! दशग्रीव ने कहा "बहुत अच्छा" ॥१६॥

प्रज्वाल्य तत्र चैवाग्निमकरोत्पाणिसङ्ग्रहम् ।
स हि तस्य मयो राम शापाभिज्ञस्तपोधनात् ॥ २० ॥
विदित्वा तेन सा दत्ता तस्य पैतामहं कुलम् ।
अमोघां तस्य शक्तिं च प्रददौ परमाद्भुताम् ॥२१॥

और वहीं अग्नि जला उसने मन्दोदरी का पाणिग्रहण किया। हे राम ! यद्यपि मय को यह विदित था कि, तपस्वी विश्रवा जी दशग्रीव को शाप दे चुके हैं, तथापि उसे ब्रह्मा के कुल का समझ, उसने उसके साथ अपनी लड़की का विवाह कर दिया और दशग्रीव को एक परम अद्भुत और अमोघ शक्ति भी दी ॥ २० ॥ २१ ॥

परेण तपसा लब्धां जघ्निवाँल्लक्ष्मणं यया ।
एवं स कृत्वा दारान् वै लङ्काया ईश्वरः प्रभुः ॥२२॥

वह शक्ति उसे तप करने पर मिली थी और दशग्रीव ने उसी शक्ति से लक्ष्मण पर प्रहार किया था। इस प्रकार भार्या-ग्रहण कर राक्षसराज दशग्रीव लङ्का को चला गया ॥ २२ ॥

गत्वा तु नगरीं भार्ये भ्रातृभ्यां समुपाहरत् ।
वैरोचनस्य दौहित्रीं वज्रज्वालेति नामतः ॥ २३ ॥

तां भार्यां कुम्भकर्णस्य रावणः समकल्पयत् ।
गन्धर्वराजस्य सुतां शैलूषस्य महात्मनः ॥ २४ ॥
सरमां नाम धर्मज्ञां लेभे भार्यां विभीषणः ।
तीरे तु सरसो वै तु संजज्ञे मानसस्य हि ॥ २५ ॥

अपनी पत्नी के सहित लङ्का में जा, दशग्रीव ने अपने दोनों भाइयों का भी विवाह किया । वैरोचन की पौत्री अर्थात् बलि की बेटी की बेटी, जिसका नाम वज्रज्वाला था, कुम्भकर्ण को व्याही । गन्धर्वराज शैलूष की लड़की विभीषण को व्याही । उसका नाम सरमा था और वह बड़ी धर्मज्ञा थी । सरमा मानसरोवर के तट पर पैदा हुई थी ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

सरस्तदा मानसं तु ववृधे जलदागमे ।
मात्रा तु तस्याः कन्यायाः स्नेहेनाक्रन्दितं वचः ॥२६॥

वर्षाकाल में जब मानसरोवर का जल बढ़ने लगा, तब सरमा की माता ने स्नेहवश चिल्ला कर यह कहा ॥ २६ ॥

सरो मा वर्धतेत्युक्तं ततः सा सरमाऽभवत् ।
एवं ते कृतदारा वै रेमिरे तत्र राक्षसाः ॥ २७ ॥
स्वां स्वां भार्यामुपादाय गन्धर्वा इव नन्दने ।
ततो मन्दोदरी पुत्रं मेघनादमजीजनत् ॥ २८ ॥

"सरो मा वर्धत !" हे सर ! तू मत बढ़ । इसीसे उस लड़की का नाम सरमा पड़ा । हे राम ! इस प्रकार वे राक्षस विवाह कर अपनी अपनी पत्नियों के साथ वैसे ही विहार करने लगे, जैसे नन्दनवन में गन्धर्व विहार करते हैं । काल पा कर मन्दोदरी के गर्भ से मेघनाद उत्पन्न हुआ ॥ २७ ॥ २८ ॥

स एष इन्द्रजिन्नाम युष्माभिरभिधीयते ।
जातमात्रेण हि पुरा तेन रावणसूनुना ॥ २९ ॥
रुदता सुमहान्मुक्तो नादो जलधरोपमः ।
जडीकृता च सा लङ्का तस्य नादेन राघव ॥ ३० ॥

उसी मेघनाद को आप सब लोग इन्द्रजीत के नाम से पुकारते हैं। हे राम ! इस रावणपुत्र ने जन्म लेते ही मेघ के समान गर्जना की थी, जिससे समस्त लङ्कानिवासी स्तम्भित हो गये थे ॥ २९ ॥ ३० ॥

पिता तस्याकरोन्नाम मेघनाद इति स्वयम् ।
सोऽवर्धत तदा राम रावणान्तःपुरे शुभे ॥ ३१ ॥

अतएव उसके पिता दशग्रीव ने स्वयं उसका नाम मेघनाद रखा। हे राम ! मेघनाद रावण के शुभ रनवास में बढ़ने लगा ॥ ३१ ॥

रक्ष्यमाणो वरस्त्रीभिश्छन्नः काष्ठैरिवानलः ।
मातापित्रोर्महाहर्षं जनयन् रावणात्मजः ॥ ३२ ॥

इति द्वादशः सर्गः

श्रेष्ठ स्त्रियों द्वारा मेघनाद का लालन पालन हुआ। वह ईंधन लकड़ियों से ढकी हुई आग की तरह, माता-पिता को अत्यन्त हर्ष उपजाता हुआ, बढ़ने लगा ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

त्रयोदशः सर्गः

—:o:—

अथ लोकेश्वरोत्सृष्टा तत्र कालेन केनचित् ।
निद्रा समभवत्तीव्रा कुम्भकर्णस्य रूपिणी ॥ १ ॥

कुछ दिनों के बाद ब्रह्मा जी के वरदान के अनुसार कुम्भकर्ण को मूर्तिमती घोर नींद ने आ घेरा ॥ १ ॥

ततो भ्रातरमासीनं कुम्भकर्णोऽब्रवीद्वचः ।
निद्रा मां बाधते राजन् कारयस्व ममालयम् ॥ २ ॥

उस समय समीप बैठे हुए अपने भाई रावण से कुम्भकर्ण ने कहा—हे राजन्! मुझे नींद सता रही है। अतएव मेरे सोने के लिए मकान बनवा दीजिए ॥ २ ॥

विनियुक्तास्ततो राज्ञा शिल्पिनो विश्वकर्मवत् ।
विस्तीर्णं योजनं स्निग्धं ततो द्विगुणमायतम् ॥ ३ ॥

यह सुन रावण ने विश्वकर्मा के समान चतुर थवइयों (मेमारों) को आज्ञा दी। उन लोगों ने एक योजन चौड़ा और दो योजन लम्बा एक बड़ा सुन्दर घर बना कर तैयार कर दिया ॥ ३ ॥

दर्शनीयं निराबाधं कुम्भकर्णस्य चक्रिरे ।
स्फाटिकैः काञ्चनैश्चित्रैः स्तम्भैः सर्वत्र शोभितम् ॥४॥

कुम्भकर्ण के सोने का यह मकान देखने योग्य था और उसमें किसी प्रकार की बाधा पड़ने का भी खटका न था। उसमें सर्वत्र स्फटिक और सुवर्ण के रंगबिरंगे खंभे बने हुए थे ॥ ४ ॥

वैदूर्यकृतसोपानं किङ्किणीजालकं तथा ।
दान्ततोरणविन्यस्तं वज्रस्फटिकवेदिकम् ॥ ५ ॥

उस भवन की सीढ़ियों पर पन्ने जड़े हुए थे। उसके द्वारों में हाथीदाँत की बनी चौखटें जड़ी हुई थीं और उनमें छोटी छोटी घंटियाँ लगी हुई थीं। उस भवन में हीरों और स्फटिक के चबूतरे बने हुए थे ॥ ५ ॥

मनोहरं सर्वसुखं कारयामास राक्षसः ।
सर्वत्र सुखदं नित्यं मेरोः पुण्यां गुहामिव ॥ ६ ॥

रावण का बनवाया हुआ यह भवन मेरु पर्वत की स्वच्छ गुफा की तरह सब ऋतुओं में सब के लिए, सुखदाई और सुन्दर था ॥ ६ ॥

तत्र निद्रां समाविष्टः कुम्भकर्णो महाबलः ।
बहून्यब्दसहस्राणि शयानो न च बुध्यते ॥ ७ ॥

महाबली कुम्भकर्ण नींद में भरा, सहस्रों वर्षों तक वहाँ पड़ा पड़ा सोता रहा, जागा नहीं ॥ ७ ॥

निद्राभिभूते तु तदा कुम्भकर्णो दशाननः ।
देवर्षियक्षगन्धर्वान् संजघ्ने हि निरङ्कुशः ॥ ८ ॥

जिन दिनों कुम्भकर्ण सो रहा था, उन दिनों रावण निरंकुश हो, देवताओं, ऋषियों, यक्षों और गन्धर्वों को मारता फिरता था ॥ ८ ॥

उद्यानानि विचित्राणि नन्दनादीनि यानि च ।
तानि गत्वा सुसंक्रुद्धो भिनत्ति स्म दशाननः ॥ ९ ॥

क्रोध में भर रावण अच्छे अच्छे बाग़ बगीचों और देवताओं के नन्दन आदि उद्यानों में जा कर उनको उजाड़ डालता था ॥ ९ ॥

नदीं गज इव क्रीडन् वृक्षान् वायुरिव क्षिपन् ।
नगान् वज्र इवोत्सृष्टो विध्वंसयति राक्षसः ॥ १० ॥

उन दिनों रावण नदी के तटों को हाथी की तरह, वृक्षों को वायु की तरह और पर्वतो को वज्र की तरह ध्वंस करता हुआ घूमता फिरता था ॥ १० ॥

यथावृत्तं तु विज्ञाय दशग्रीवं धनेश्वरः ।
कुलानुरूपं धर्मज्ञो वृत्तं संस्मृत्य चात्मनः ॥ ११ ॥
सौभ्रात्रदर्शनार्थं तु दूतं वैश्रवणस्तदा ।
लङ्कां सम्प्रेषयामास दशग्रीवस्य वै हितम् ॥ १२ ॥

किन्तु धर्मज्ञ धनेश्वर ने, रावण के इन करतूतों को सुन कर, अपने कुल की चाल और रीति भाँति का स्मरण कर, भाईपना दिखलाने के लिए लङ्का में रावण के समीप अपना दूत भेजा ॥ ११ ॥ १२ ॥

स गत्वा नगरीं लङ्कामाससाद विभीषणम् ।
मानितस्तेन धर्मेण पृष्टश्चागमनं प्रति ॥ १३ ॥

धनेश्वर का दूत लङ्का में जा, सबसे प्रथम विभीषण से मिला । विभीषण ने शिष्टाचारपूर्वक उसका सत्कार किया । तदनन्तर उस से आने का कारण पूँछा ॥ १३ ॥

पृष्ट्वा च कुशलं राज्ञो ज्ञातीनां च विभीषणः
सभायां दर्शयामास तमासीनं दशाननम् ॥ १४ ॥

तथा धनपति कुबेर जी के परिवार का कुशल मङ्गल पूँछा। फिर उसे राजसभा में ले जा कर सिंहासन पर बैठे हुए रावण से मिलाया ॥ १४ ॥

स दृष्ट्वा तत्र राजानं दीप्यमानं स्वतेजसा ।
जयेति वाचा सम्पूज्य तूष्णीं समभिवर्तत ॥ १५ ॥

धनेश्वर के दूत ने तेज से दीप्त रावण को देख, कहा—"महाराज की जय हो।" तदनन्तर वह चुपचाप खड़ा रहा ॥ १५ ॥

स तत्रोत्तमपर्यङ्के वरास्तरणशोभिते ।
उपविष्टं दशग्रीवं दूतो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १६ ॥

बहुमूल्य विस्तरों से आच्छादित शय्या पर बैठे हुए, दशग्रीव से वह दूत बोला ॥ १६ ॥

राजन् वदामि ते सर्वं भ्राता तव यदब्रवीत् ।
उभयोः सदृशं वीर वृत्तस्य च कुलस्य च ॥ १७ ॥

हे राजन् तुम्हारे भाई कुबेर ने माता और पिता के कुलों की रीति भाँति के अनुरूप, जो संदेसा तुम्हारे लिए भेजा है, सो मैं तुमसे कहता हूँ ॥ १७ ॥

साधु पर्याप्तमेतावत्कृतश्चारित्रसंग्रहः ।
साधु धर्मे व्यवस्थानं क्रियतां यदि शक्यते ॥ १८ ॥

आपने अब तक जो कुछ किया है, वह बहुत है। अब बस कीजिए और आगे जो कीजिए सो अच्छे ही काम कीजिए, जिससे आपका चरित्र सुधरे। आप धर्म के कामों में यथाशक्ति मन लगावें ॥ १८ ॥

दृष्टं मे नन्दनं भग्नमृषयो निहताः श्रुताः ।
देवतानां समुद्योगस्त्वत्तो राजन् मया श्रुतः ॥ १६ ॥

हे राजन्! आपके द्वारा उजड़े हुए नन्दनवन को मैंने अपने नेत्रों से देखा है, और ऋषियों के वध का संवाद सुना है। साथ ही मैंने आपके विरुद्ध देवताओं के उद्योग का समाचार भी सुना है ॥ १६ ॥

निराकृतश्च बहुशस्त्वयाहं राक्षसाधिप ।
सापराधोऽपि बालो हि रक्षितव्यः स्वबान्धवैः ॥२०॥

हे राक्षसाधिप! यद्यपि तुमने बारंबार मेरा निरादर किया है, तथापि निरादर करने वाले उस बालक की रक्षा करना ही उसके बन्धुओं को उचित है ॥ २० ॥

अहं तु हिमवत्पृष्ठं गतो धर्ममुपासितुम् ।
रौद्रं व्रतं समास्थाय नियतो नियतेन्द्रियः ॥ २१ ॥

मैं तो हिमालय पर्वत पर जितेन्द्रिय हो तथा तप के नियमों का पालन कर के, महादेव जी को प्रसन्न करने का व्रत धारण कर अपने काम में लगा हुआ था ॥ २१ ॥

तत्र देवो मया दृष्ट उमया सहितः प्रभुः ।
सव्यं चक्षुर्मया दैवात्तत्र देव्यां निपातितम् ॥ २२ ॥

वहाँ मुझे पार्वती सहित शिव जी के दर्शन हुए। दैवयोग से पार्वती जी ने मेरे दहिने नेत्र को फोड़ डाला ॥ २२ ॥

कान्वेषेति महाराज न खल्वन्येन हेतुना ।
रूपं चानुपमं कृत्वा रुद्राणी तत्र तिष्ठति ॥ २३ ॥

उस नेत्र से मैंने केवल यह देखना चाहा था कि, यह कौन है, इतना ही मेरा अपराध है। इसके अतिरिक्त मैंने कोई अपराध नहीं किया। वहाँ पर पार्वती देवी अनुपम रूप बना वास करती हैं॥ २३॥

देव्या दिव्यप्रभावेण दग्धं सव्यं ममेक्षणम्।
रेणुध्वस्तमिव ज्योतिः पिङ्गलत्वमुपागतम्॥ २४॥

उन देवी के दिव्य प्रभाव से मुझे अपनी बांईं आँख से हाथ धोने पड़े। धूल से ढके नक्षत्र की तरह मेरी वह आँख पीली पड़ गयी है॥ २४॥

ततो हमन्यद्विस्तीर्णं गत्वा तस्य गिरेस्तटम्।
तूष्णीं वर्षशतान्यष्टौ समधारं महाव्रतम्॥ २५॥

तदनन्तर मैं उस पहाड़ के एक लंबे चौड़े स्थान में, आठ सौ वर्षों तक मौन महाव्रत धारण कर बैठा रहा॥ २५॥

समाप्ते नियमे तस्मिंस्तत्र देवो महेश्वरः।
ततः प्रीतेन मनसा प्राह वाक्यमिदं प्रभुः॥ २६॥

जब मेरा नियम पूरा हुआ, तब भगवान् शिव जी ने प्रसन्न हो कर मुझसे यह कहा॥ २६॥

प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञ तपसानेन सुव्रत।
मया चैतद् व्रतं चीर्णं त्वया चैव धनाधिप॥ २७॥

हे धर्मज्ञ! हे सुव्रत! मैं तुम्हारे इस तप से तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। हे धनाधिप! या तो मैंने इस व्रत को पूर्ण किया या तुमने इसका निर्वाह किया॥ २७॥

तृतीयः पुरुषो नास्ति यश्चरेद्व्रतमीदृशम् ।
व्रतं सुदुष्करं ह्येतन्न मयैवोत्पादितं पुरा ॥ २८ ॥

मुझे तीसरा कोई भी ऐसा पुरुष नहीं देख पड़ता, जो ऐसा व्रत पालन करने में समर्थ हो । पूर्वकाल में मैंने ही इस दुष्कर व्रत को निबाहा था ॥ २८ ॥

तत्सखित्वं मया सौम्य रोचयस्व धनेश्वर ।
तपसा निर्जितश्चैव सखा भव ममानघ ॥ २९ ॥

हे सौम्य ! हे धनेश्वर ! आज से तुम मेरे साथ मैत्री कर लो । हे अनघ ! तप द्वारा तुमने मुझे जीत लिया है । अब तुम मेरे मित्र हो जाओ ॥ २९ ॥

देव्या दग्धं प्रभावेण यच्च सव्यं तवेक्षणम् ।
पैङ्गल्यं यदवाप्तं हि देव्या रूपनिरीक्षणात् ॥ ३० ॥
एकाक्षिपिङ्गलीत्येव नाम स्थास्यति शाश्वतम् ।
एवं तेन सखित्वं च प्राप्यानुज्ञां च शङ्करात् ॥ ३१ ॥

पार्वती जी ने अपने प्रभाव से तुम्हारी जो बांई आँख दग्ध कर डाली है, और उनका रूप अवलोकन करने के कारण वह जो पीली पड़ गई है; अतः तुम्हारा एकाक्ष पिङ्गली नाम सदैव विख्यात होगा । इस प्रकार मेरी और शिव जी की मैत्री हो गई और तब मैंने अपने घर के लिए शिव जी से अनुमति माँगी ॥ ३० ॥ ३१ ॥

आगतेन मया चैवं श्रुतस्ते पापनिश्चयः ।
तदधर्मिष्ठसंयोगान्निवर्त कुलदूषणात् ॥ ३२ ॥

घर लौटने पर मैंने तुम्हारी पापकथाएँ सुनीं। अब तुम ऐसे काम मत करो जिनसे कुल में धब्बा लगे। अथवा तुम कुलकलङ्क अधर्मियों का साथ छोड़ दो ॥ ३२ ॥

चिन्त्यते हि वधोपायः सर्पिसङ्घैः सुरैस्तव।
एवमुक्तो दशग्रीवः कोपसंरक्तलोचनः ॥ ३३ ॥

निश्चय जान रखो कि, देवता और देवर्षि लोग मिल कर तुम्हारे मार डालने का उपाय सोच रहे हैं। कुबेर जी का यह संदेसा सुन कर, रावण के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गए ॥३३॥

हस्तान् दन्तांश्च संपिष्य वाक्यमेतदुवाच ह।
विज्ञातं ते मया दूत वाक्यं यत्त्वं प्रभाषसे ॥ ३४ ॥

वह दाँत कटकटाता और हाथों को मलता हुआ क्रोध में बोला कि, रे दूत ! जो कुछ तू कह रहा है, वह सब मैं समझ गया ॥ ३४ ॥

नैव त्वमसि नैवासौ भ्राता येनासि चोदितः।
हितं नैष ममैतद्धि ब्रवीति धनरक्षकः ॥ ३५ ॥

अब न तो तू स्वयं और न वह मेरा भाई, जिसने तुझे भेजा है बच सकते हैं। धन की चौकीदारी करने वाले उस कुबेर ने जो कुछ कहा है उससे मेरी कुछ भी भलाई नहीं हो सकती ॥३५॥

महेश्वरसखित्वं तु मूढः श्रावयते किल।
नैवेदं क्षमणीयं मे यदेतद्भाषितं त्वया ॥ ३६ ॥

वह मूर्ख मुझे शिव जी के साथ अपनी मैत्री होने की बात सुनाता है। तूने जो कहा है, उसे मैं क्षमा नहीं कर सकता ॥३६॥

यदेतावन् मया कालं दूत तस्य तु मर्पिततम् ।
न हन्तव्यो गुरुर्ज्येष्ठो मयायमिति मन्यते ॥ ३७ ॥

हे दूत! इतने दिनों तक जो मैं चुप रहा और उसे क्षमा करता रहा इसका कारण यह है कि, वह मेरा बड़ा भाई है। इसीसे मैं उसका मारना अनुचित समझ चुप रहा ॥ ३७ ॥

तस्य त्विदानीं श्रुत्वा मे वाक्यमेषा कृता मतिः।
त्रीँल्लोकानपि जेष्यामि बाहुवीर्यमुपाश्रितः ॥ ३८ ॥

किन्तु इस समय उसकी इन बातों को सुन, मैंने अपने मन में यही ठान ठाना है कि, मैं अपने बाहुबल से तीनों लोकों को सर करूँगा ॥ ३८ ॥

एतन् मुहूर्तमेवाहं तस्यैकस्य तु वै कृते ।
चतुरो लोकपालांस्तान्नयिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३९ ॥

और, एक मात्र उसी के कारण मैं चारों लोकपालों को मार कर इसी मुहूर्त यमराज के घर भेज दूँगा ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा तु लङ्केशो दूतं खड्गेन जघ्निवान् ।
ददौ भक्षयितुं ह्येनं राक्षसानां दुरात्मनाम् ॥ ४० ॥

यह कह कर रावण ने खड्ग का प्रहार कर उस दूत को मार डाला और उस दूत की लोथ को खा डालने के लिए दुष्ट राक्षसों को आज्ञा दी ॥ ४० ॥

ततः कृतस्वस्त्ययनो रथमारुह्य रावणः ।
त्रैलोक्यविजयकाङ्क्षी ययौ यत्र धनेश्वरः ॥ ४१ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

तदनन्तर रावण त्रिलोकी को जीतने की इच्छा से स्वस्त्ययनादि कर्म पूर्वक, रथ पर सवार हो वहाँ गया जहाँ कुबेर जी रहते थे ॥ ४१ ॥

उत्तरकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

चतुर्दशः सर्गः

—:०:—

ततः स सचिवैः सार्धं षड्भिर्नित्यबलोद्धतः।
महोदरप्रहस्ताभ्यां मारीचशुकसारणैः ॥ १ ॥
धूम्राक्षेण च वीरेण नित्यं समरगृध्निना।
वृतः सम्प्रययौ श्रीमान् क्रोधाँल्लोकान् दहन्निव ॥ २ ॥
पुराणि स नदीः शैलान् वनान्युपवनानि च।
अतिक्रम्य मुहूर्तेन कैलासं गिरिमागमत् ॥ ३ ॥

सदा बल से दर्पित रावण, क्रोध में भर समरप्रिय महोदर, प्रहस्त, मारीच, शुक, सारण और धूम्राक्ष नामक अपने छः मंत्रियों को साथ ले तथा लोकों को भस्म करता हुआ सा एवं नगरों, नदियों, पर्वतों, वनों और उपवनों को पार करता हुआ मुहूर्त्त भर में कैलास पर्वत पर जा पहुँचा ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

सन्निविष्टं गिरौ तस्मिन् राक्षसेन्द्रं निशम्य तु।
युद्धेप्सुं तं कृतोत्साहं दुरात्मानं समन्त्रिणम् ॥ ४ ॥

जब यक्षों ने सुना कि, दुर्मति राक्षसेन्द्र रावण, मन्त्रियों सहित समर की वासना से उत्साहित हो, उस पर्वत के शिखर पर जा पहुँचा है ॥ ४ ॥

यक्षा न शेकुः संस्थातुं प्रमुखे तस्य रक्षसः ।
राज्ञो भ्रातेति विज्ञाय गता यत्र धनेश्वरः ॥ ५ ॥

तब वे यक्ष डर गए और उसका सामना तक न कर सके। रावण को कुबेर का भाई जान वे वहाँ गए जहाँ कुबेर थे ॥५॥

ते गत्वा सर्वमाचख्युर्भ्रातुस्तस्य चिकीर्षितम् ।
अनुज्ञाता ययुर्हृष्टा युद्धाय धनदेन ते ॥ ६ ॥

वहाँ जा यक्षों ने कुबेर जी से उनके भाई रावण का सारा वृत्तान्त कहा। तब सारा हाल जान कर कुबेर ने उन यक्षों को लड़ने की आज्ञा दी। यक्ष आज्ञा पा हर्षित अन्तःकरण से युद्ध करने के लिए निकले ॥ ६ ॥

ततो बलानां संक्षोभो व्यवर्धत इवोदधेः ।
तस्य नैर्ऋतराजस्य शैलं सञ्चालयन्निव ॥ ७ ॥

उस समय राक्षसराज की सेना में ऐसी खलबली मची मानों समुद्र खलबला उठा हो। ऐसा जान पड़ा मानों वह पर्वत थरथरा उठा हो ॥ ७ ॥

ततो युद्धं समभवद्यक्षराक्षससङ्कुलम् ।
व्यथिताश्चाभवंस्तत्र सचिवा राक्षसस्य ते ॥ ८ ॥

तदनन्तर यक्षों और राक्षसों का महाभयङ्कर युद्ध हुआ। उस युद्ध में थोड़ी ही देर में रावण के मंत्री व्यथित हो गए ॥ ८ ॥

स दृष्ट्वा तादृशं सैन्यं दशग्रीवो निशाचरः ।
[1]हर्षनादान् बहून् कृत्वा स क्रोधादभ्यधावत* ॥ ९ ॥

---

१ हर्षनादं - सिंहनादं। (गो०) * पाठान्तरे—"भ्यगात।"

जब राक्षस दशग्रीव ने यह देखा, तब वह क्रोध में भर, सिंहनाद करता हुआ दौड़ा ॥ ९ ॥

ये तु ते राक्षसेन्द्रस्य सचिवा घोरविक्रमाः ।
तेषां सहस्रमेकैको यक्षाणां समयोधयत् ॥ १० ॥

राक्षसराज रावण के जो घोर पराक्रमी मन्त्री थे, उनमें से प्रत्येक मंत्री एक एक सहस्र यक्षों के साथ युद्ध करने लगा ॥ १० ॥

ततो गदाभिर्मुसलैरसिभिः शक्तितोमरैः ।
हन्यमानो दशग्रीवस्तत्सैन्यं समगाहत ॥ ११ ॥

गदाओं, मूसलों, खड्गों, शक्तियों और तोमरों के प्रहार सहता हुआ रावण यक्षों की सेना में घुस पड़ा ॥ ११ ॥

स निरुच्छ्वासवत्तत्र वध्यमानो दशाननः ।
वर्षद्भिरिव जीमूतैर्धाराभिरवरुध्यत ॥ १२ ॥

मेघ से बरसते हुए जल की तरह शस्त्रों की वृष्टि से निरन्तर घायल हो, रावण को दम लेने तक का अवकाश न मिला ॥ १२ ॥

न चकार व्यथां चैव यक्षशस्त्रैः समाहतः ।
महीधर इवांभोदैर्धाराशतसमुक्षितः ॥ १३ ॥

मेघ जिस प्रकार जलवृष्टि करके पर्वत को भिगो देते हैं, उसी प्रकार रावण भी रुधिर से नहा गया था, तिस पर भी वह यक्षों के असंख्य शस्त्रों के प्रहार की कुछ भी परवाह नहीं करता था ॥ १३ ॥

स महात्मा समुद्यम्य कालदण्डोपमां गदाम् ।
प्रविवेश ततः सैन्यं नयन् यक्षान् यमक्षयम् ॥ १४ ॥

महाबली रावण ने कालदण्ड के समान अपनी गदा उठा और शत्रुसैन्य में प्रवेश कर, अनेक यक्षों को मार डाला ॥१४॥

स कक्षमिव विस्तीर्णं शुष्केंधनमिवाकुलम् ।
वातेनाग्निरिवादीप्तो यक्षसैन्यं तदाहतत् ॥ १५ ॥

तेज हवा से धधक कर आग जिस प्रकार सूखे तिनकों और लकड़ियों को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार रावण भी यक्षों की सेना को भस्म करने लगा ॥ १५ ॥

तैस्तु तत्र महामात्यैर्महोदरशुकादिभिः ।
अल्पावशेषास्ते यक्षाः कृता वातैरिवाम्बुदाः ॥ १६ ॥

पवन के चलने से जैसे बादल तितर बितर हो जाते हैं, वैसे ही महोदर और शुकादि मंत्रियों ने यक्षों को छिन्न-भिन्न कर, उनकी संख्या बहुत थोड़ी कर दी ॥ १६ ॥

केचित्समाहता भग्नाः पतिताः समरे क्षितौ ।
ओष्ठांश्च दशनैस्तीक्ष्णैरदशन् कुपिता रणे ॥ १७ ॥

उनमें से कुछ तो शस्त्रों के प्रहारों से कटकुट गए, बहुत से पृथिवी पर गिर पड़े और बहुत से मारे क्रोध के दाँतों से ओठों को चबाने लगे ॥ १७ ॥

श्रान्ताश्चान्योन्यमालिंग्य भ्रष्टशस्त्रा रणाजिरे ।
सीदन्ति च तदा यक्षाः कूला इव जलेन ह ॥ १८ ॥

यक्ष लड़ते लड़ते इतने थक गए कि, रणभूमि में वे एक दूसरे के शरीर में लिपटने लगे। उनके हथियार हाथों से छूट छूट कर गिर पड़े। वे चोट खा खा कर, ऐसे भहरा पड़े जैसे जल की टक्कर खा कर नदी के किनारे भहरा पड़ते हैं ॥ १८ ॥

हतानां गच्छतां स्वर्गं युध्यतामथ धावताम् ।
प्रेक्षतामृषिसङ्घानां बभूव न तदान्तरम् ॥ १९ ॥

बहुत से यक्ष रणक्षेत्र में दौड़ रहे थे, बहुत से लड़ रहे थे, और बहुत से शत्रुओं द्वारा मारे जा कर स्वर्ग को गमन कर रहे थे। युद्ध देखने वाले ऋषियों की भीड़ के कारण आकाश में खड़े रहने को भी स्थान नहीं रह गया था ॥ १९ ॥

भग्नांस्तु तान् समालक्ष्य यक्षेन्द्रांस्तु महाबलान् ।
धनाध्यक्षो महाबाहुः प्रेषयामास यक्षकान् ॥ २० ॥

पहिले भेजे हुए यक्षों का राक्षसों द्वारा सर्वनाश देख, महाबलवान कुवेर जी ने और भी बहुत से यक्षों को राक्षसों से लड़ने के लिए भेजा ॥ २० ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम विस्तीर्णबलवाहनः ।
प्रेषितो न्यपतद्यक्षो नाम्ना संयोधकण्टकः ॥ २१ ॥

हे राम ! इसी बीच में कुवेर का भेजा हुआ संयोधकण्टक नामक यक्ष, एक बड़ी भारी सेना और वाहनों को साथ लिए हुए रणभूमि में आया ॥ २१ ॥

तेन चक्रेण मारीचो विष्णुनेव रणे हतः ।
पतितो भूतले शैलात् क्षीणपुण्य इव ग्रहः ॥ २२ ॥

विष्णु के सुदर्शन चक्र के समान, उस यक्ष के चक्र के प्रहार से, मारीच राक्षस आकाश से गिरे हुए पुण्यक्षीणनक्षत्र की तरह पहाड़ से पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २० ॥

ससंज्ञस्तु मुहूर्तेन स विश्रम्य निशाचरः ।
तं यक्षं योधयामास स च भग्नः प्रदुद्रुवे ॥ २३ ॥

थोड़ी देर बाद सचेत और विश्राम कर [मारीच ने यक्ष से लड़ना पुनः आरम्भ किआ और लड़ कर उस यक्ष को मार कर भगा दिआ ॥ २३ ॥

ततः काञ्चनचित्राङ्गं वैदूर्यरजतोक्षितम् ।
मर्यादां प्रतिहाराणां तोरणान्तरमाविशत् ॥ २४ ॥

तदनन्तर रावण सोने चाँदी और पन्ने आदि मणियों के जड़ाऊ रंगविरंगे सुन्दर उस फाटक में घुसा जिसके ऊपर द्वारपाल रहा करते थे ॥ २४ ॥

तं तु राजन् दशग्रीवं प्रविशन्तं निशाचरम् ।
सूर्यभानुरिति ख्यातो द्वारपालो न्यवारयत् ॥ २५ ॥

हे राजन् ! जब रावण उस फाटक में घुसने लगा, तब सूर्यभानु नामक द्वारपाल ने उसको रोका ॥ २५ ॥

स वार्यमाणो यक्षेण प्रविवेश निशाचरः ।
यदा तु वारितो राम न व्यतिष्ठत्स राक्षसः ॥२६॥

किन्तु रोकने पर भी रावण न रुका और द्वार के भीतर घुसने लगा । हे राम ! द्वारपाल के रोकने पर भी रावण जब न रुका ॥ २६ ॥

ततस्तोरणमुत्पाट्य तेन यक्षेण ताडितः ।
रुधिरं प्रस्रवन् भाति शैलो धातुस्रवैरिव ॥ २७ ॥

तब वह द्वारपाल यक्ष द्वार का तोरण उखाड़ कर, उससे रावण को पीटने लगा। उस समय तोरण की चोट खाने से रावण रुधिर से नहाया हुआ ऐसा देख पड़ता था, जैसा गेरू से पुता हुआ पहाड़ ॥ २७ ॥

स शैलशिखराभेण तोरणेन समाहतः ।
जगाम न क्षतिं वीरो वरदानात् स्वयंभुवः ॥ २८ ॥

यद्यपि पर्वत के शिखर के आकार के तोरण से वह रावण खूब पीटा गया था, तथापि ब्रह्मा के वरदान से वह वीर धराशायी न हुआ ॥ २८ ॥

तेनैव तोरणेनाथ यक्षस्तेनाभिताडितः ।
नादृश्यत तदा यक्षो भस्मीकृत तनुस्तदा ॥ २९ ॥

वल्कि उसने उसी तोरण से उस द्वारपाल यक्ष को मारा। तोरणप्रहार से यक्ष ऐसा चूर चूर हो गया कि उसका नाम निशान तक शेष न रह गया ॥ २९ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे दृष्ट्वा रक्षःपराक्रमम् ।
ततो नदीर्गुहाश्चैव विविशुर्भयपीडिताः ।
त्यक्तप्रहरणाः श्रान्ता विवर्णवदनास्तदा ॥ ३० ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ।

रावण का ऐसा पराक्रम देख, वहाँ से सब यक्ष भाग गए। भय के मारे उनमें से कोई पहाड़ की गुफाओं में और कोई

कोई नदी के भीतर जा छिपे। उन लोगों ने हथियार डाल दिए और लड़ते लड़ते थक जाने के कारण उनके चेहरों का रंग फीका पड़ गया ॥ ३० ॥

उत्तरकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:-०-:—

पञ्चदशः सर्गः

—:-०-:—

ततस्ताँल्लक्ष्य वित्रस्तान् यक्षेन्द्रांश्च सहस्रशः।
धनाध्यक्षो महायक्षं १माणिचारमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

सहस्रों पराक्रमी यक्षों को भयभीत देख कुबेर ने माणिभद्र नामक महायक्ष से कहा ॥ १ ॥

रावणं जहि यक्षेन्द्र दुर्वृत्तं पापचेतसम्।
शरणं भव वीराणां यक्षाणां युद्धशालिनाम् ॥ २ ॥

हे यक्षेन्द्र! तुम इस दुष्ट और पापी रावण को मार कर युद्धप्रिय वीर यक्षों की रक्षा करो ॥ २ ॥

एवमुक्तो महाबाहुर्माणिभद्रः सुदुर्जयः।
वृतो यक्षसहस्रैस्तु चतुर्भिः समयोधयत् ॥ ३ ॥

यह वचन सुन दुर्जय महावीर माणिभद्र यक्ष चार हजार यक्षों की सेना को साथ ले राक्षसों से युद्ध करने लगा ॥ ३ ॥

---

१ माणिचार—माणिभद्र। (गो०)

ते गदामुसलप्रासैः शक्तितोमरमुद्गरैः ।
अभिघ्नन्तस्तदा यक्षा राक्षसान् समुपाद्रवन् ॥ ४ ॥

यक्ष लोग गदाओं, मूसलों, प्रासो शक्तियों और मुगदरो का प्रहार करते हुए, राक्षसों के ऊपर आक्रमण करने लगे ॥ ४ ॥

कुर्वन्तस्तुमुलं युद्धं चरन्तः श्येनवल्लघु ।
बाढं प्रयच्छ नेच्छामि दीयतामिति भाषिणः ॥ ५ ॥

उन लोगों ने महाभयङ्कर युद्ध किया। "बहुत अच्छा, युद्ध (अर्थात् मेरे साथ लड़) दे," "नहीं चाहता, दे" आदि वीरोचित भाषण करते यक्ष और राक्षस शीघ्रगामी बाज पक्षी की तरह मँडरा मँडरा कर लड़ने लगे ॥ ५ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयो ब्रह्मवादिनः ।
दृष्ट्वा तत्तुमुलं युद्धं परं विस्मयमागमत् ॥ ६ ॥

ब्रह्मवादी ऋषि, देवता और गन्धर्व उस तुमुल युद्ध को देख कर अत्यन्त विस्मित हुए ॥ ६ ॥

यक्षाणां तु प्रहस्तेन सहस्रं निहतं रणे ।
महोदरेण चानिद्यं सहस्रमपरं हतम् ॥ ७ ॥

क्रुद्धेन च तदा राजन् मारीचेन युयुत्सुना ।
निमेषान्तरमात्रेण द्वे सहस्रे निपातिते ॥ ८ ॥

किन्तु प्रहस्त ने हज़ार यक्षों को तथा महोदर ने भी एक हज़ार यक्षों को मार डाला। हे राजन् ! निमेषमात्र में क्रोध में भर और युद्ध करते हुए मारीच ने दो हज़ार यक्षों को मार गिराया ॥ ७ ॥ ८ ॥

क च यक्षार्जवं युद्धं क च माया बलाश्रयम् ।
रक्षसां पुरुषव्याघ्र तेन तेऽभ्यधिका युधि ॥ ९ ॥

हे पुरुषव्याघ्र! राक्षसों का युद्ध माया के बल से होता था और यक्षों का युद्ध सरलता से युक्त था। अतएव इन दोनो के युद्ध में राक्षस लोग यक्षों से प्रबल थे ॥ ९ ॥

धूम्राक्षेण समागम्य माणिभद्रो महारणे ।
मुसलेनोरसि क्रोधात्ताडितो न च कम्पितः ॥ १० ॥

कुछ ही देर बाद धूम्राक्ष ने क्रोध में भर माणिभद्र की छाती में एक मूसल मारा; किन्तु वह उस चोट से काँपा तक नहीं ॥ १० ॥

ततो गदां समाविध्य माणिभद्रेण राक्षसः ।
धूम्राक्षस्ताडितो मूर्ध्नि विह्वलः स पपात ह ॥ ११ ॥

प्रत्युत उसने भी गदा उठा कर धूम्राक्ष के सिर पर मारी, जिसके प्रहार से धूम्राक्ष विह्वल हो गिर पड़ा ॥ ११ ॥

धूम्राक्षं ताडितं दृष्ट्वा पतितं शोणितोक्षितम् ।
अभ्यधावत संग्रामे माणिभद्रं दशाननः ॥ १२ ॥

गदाप्रहार से ताड़ित और रुधिर से नहाए हुए धूम्राक्ष को पृथ्वी पर गिरते देख, रावण माणिभद्र के सामने लड़ने को गया ॥ १२ ॥

संक्रुद्धमभिधावन्तं माणिभद्रो दशाननम् ।
शक्तिभिस्ताडयामास तिसृभिर्यक्षपुङ्गवः ॥ १३ ॥

तब यक्षश्रेष्ठ माणिभद्र ने क्रोध में भर अपने ऊपर झपटने रावण के तीन शक्तियाँ मारीं ॥ १३ ॥

ताडितो माणिभद्रस्य मुकुटे प्राहरद्रणे ।
तस्य तेन प्रहारेण मुकुटं पार्श्वमागतम् ॥ १४ ॥

रावण ने उन शक्तियों के प्रहार से पीड़ित हो, माणिभद्र के मुकुट पर प्रहार किया। उस प्रहार से यक्ष का मुकुट एक ओर नीचे गिर पड़ा ॥ १४ ॥

ततः प्रभृति यक्षोऽसौ पार्श्वमौलिरभूत्किल ।
तस्मिंस्तु विमुखीभूते माणिभद्रे महात्मनि ।
संनादः सुमहान् राजंस्तस्मिन्शैले व्यवर्धत ॥ १५ ॥

उसी समय से वह यक्ष "पार्श्वमौलि" कहलाने लगा। उस महाबलवान माणिभद्र के युद्ध से विमुख होने पर, हे राजन्! कैलास पर्वत पर राक्षसों ने सिंहनाद किया ॥१५॥

ततो दूरात्प्रददृशे धनाध्यक्षो गदाधरः ।
शुक्रप्रौष्ठपदाभ्यां च [1]पद्मशङ्खसमावृतः ॥ १६ ॥

इतने में हाथ में गदा लिए कुबेर भी दिखाई पड़े। उनके साथ खजाने की रक्षा करने वाले शुक्र और प्रौष्ठपद नाम के दो मन्त्री भी थे। पद्म और शङ्ख नामक दो खजाने के देवता भी उनके साथ थे ॥ १६ ॥

स दृष्ट्वा भ्रातरं संख्ये शापाद्विभ्रष्ट[2] गौरवम् ।
उवाच वचनं धीमान् युक्तं पैतामहे कुले ॥ १७ ॥

---

१ शङ्खपद्मसमावृतः—शङ्खपद्मनिध्यभिमानिदेवै. संवृतः । (गो०)

२ विभ्रष्टगौरवः—वन्दनादिप्रयोजकज्येष्टगौरवरहितः । (गो०)

उन्होंने अपने छोटे भाई उस रावण को देखा जो अपने पिता के शाप से शापित था तथा जिसने ज्येष्ठ भ्राता को प्रणामादि करने का शिष्टाचार परित्याग कर दिआ था। रावण को देख, कुबेर जी ने पितामह-कुलोचित कथनानुसार उससे कहा॥ १७॥

यन्मया वार्यमाणस्त्वं नावगच्छसि दुर्मते।
पश्चादस्य फलं प्राप्य ज्ञास्यसे निरयं गतः॥ १८॥

हे दुर्मते! मेरे बरजने पर भी तू नहीं मानता। इसका फल पा कर जब तू नरक में जायगा तब तुझे सूझ पड़ेगा॥ १८॥

यो हि मोहाद्विषं पीत्वा नावगच्छति दुर्मतिः।
स तस्य परिणामान्ते जानीते कर्मणः फलम्॥ १९॥

विशेष कर जो दुर्बुद्धि अज्ञानवश विषपान कर लेता है, उसको पीछे से उस कर्म का फल प्राप्त होता है अथवा उसको पीछे कर्म का फल जान पड़ता है॥ १९॥

दैवतानि न नन्दन्ति धर्मयुक्तेन केनचित्।
येन त्वमीदृशं भावं नीतस्तच्च न बुद्धयसे॥ २०॥

इन दिनों तू कोई भी अच्छा कर्म नहीं कर रहा, है इसीसे तेरे ऊपर देवता लोग अप्रसन्न हैं। अतः तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो रही है और स्वभाव में क्रूरता आ रही है। तुझे स्वयं ये बातें नहीं जान पड़तीं॥ २०॥

मातरं पितरं विप्रमाचार्यं चावमन्य वै।
स पश्यति फलं तस्य प्रेतराजवशं गतः॥ २१॥

जो पुरुष माता पिता, ब्राह्मण और आचार्य का अपमान करता है, वह जब प्रेतराज यमराज के वश में पड़ता है, तब उसे अपने किए का फल प्राप्त होता है॥ २१॥

अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोर्जनम् ।
स पश्चात्तप्यते मूढो मृतो गत्वात्मनो गतिम् ॥ २२ ॥

जो इस नाशवान शरीर से तप नहीं करता, वह मूढ़जन मरने पर अपने कर्म से प्राप्त अपनी गति को पा कर, सन्तापित होता है ॥ २२ ॥

कस्यचिन्नहि दुर्बुद्धेश्छन्दतो जायते मतिः ।
यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते ॥ २३ ॥

किसी भी दुर्बुद्धि जन को आप ही आप सुमति नहीं उपजती। वह जैसे कर्म करता है वैसा ही उसे फल भी मिलता है ॥ २३ ॥

ऋद्धिं रूपं बलं पुत्रान् वित्तं शूरत्वमेव च ।
प्राप्नुवन्ति नरा लोके निर्जितं पुण्यकर्मभिः ॥ २४ ॥
एवं निरयगामी त्वं यस्य ते मतिरीदृशी ।
न त्वां समभिभाषिष्येऽसद् वृत्तेष्वेष निर्णयः ॥ २५ ॥

सब लोग अपने ही पुण्यकर्मों से धन, रूप, बल, पुत्र, सम्पत्ति और शूरता पाते हैं। किन्तु तू तो नरकगामी है। क्योंकि तेरी बुद्धि ही ऐसी है। अतः मैं तुझसे अधिक बातचीत नहीं करूँगा। क्योंकि बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि, मूर्ख के साथ अधिक वार्तालाप न करना चाहिए ॥ २४ ॥ २५ ॥

एवमुक्तस्ततस्तेन तस्यामात्याः समाहताः ।
मारीचप्रमुखाः सर्वे विमुखा विप्रदुद्रुवुः ॥ २६ ॥

यह कह कर, कुबेर ने रावण के मारीचादि मन्त्रियों पर ऐसा प्रहार किया कि, वे घायल हो, रण छोड़ भाग गए ॥ २६ ॥

ततस्तेन दशग्रीवो यक्षेन्द्रेण महात्मना ।
गदयाभिहतो मूर्ध्नि न च स्थानात्प्रकम्पितः ॥ २७ ॥

जब मन्त्री लोग भाग गए, तब महाबलवान कुबेर जी ने रावण के मस्तक पर गदा से प्रहार किया; किन्तु रावण अपने स्थान से चलायमान न हुआ ॥ २७ ॥

ततस्तौ राम निघ्नन्तौ तदान्योन्यं महामृधे ।
न विह्वलौ न च श्रान्तौ तावुभौ यक्षराक्षसौ ॥ २८ ॥

हे राम ! उस समय यक्ष और राक्षस दोनों परस्पर प्रहार करने लगे । लड़ते-लड़ते उन दोनों में से एक भी न तो घबड़ाया ही और न थका ही ॥ २८ ॥

आग्नेयमस्त्रं तस्मै स मुमोच धनदस्तदा ।
राक्षसेन्द्रो वारुणेन तदस्त्रं प्रत्यवारयत् ॥ २९ ॥

तब कुबेर ने रावण के ऊपर आग्नेयास्त्र चलाया । इसे राक्षसराज रावण ने वारुणास्त्र चला कर शान्त कर दिया ॥ २९ ॥

ततो मायां प्रविष्टोऽसौ राक्षसीं राक्षसेश्वरः ।
रूपाणां शतसाहस्रं विनाशाय चकार च ॥ ३० ॥

तदनन्तर रावण ने राक्षसी माया फैलाई और कुबेर का नाश करने के लिए सैकड़ों सहस्रों रूप धारण किए ॥ ३० ॥

व्याघ्रो वराहो जीमूतः पर्वतः सागरो द्रुमः ।
यक्षो दैत्यस्वरूपी च सोऽदृश्यत दशाननः ॥ ३१ ॥

रावण उस समय व्याघ्र, शूकर, मेघ, पर्वत, सागर, वृक्ष, यक्ष और दैत्य के रूपों में दिखलाई पड़ने लगा । ३१ ॥

बहूनि च करोति स्म दृश्यन्ते न त्वसौ ततः ।
प्रतिगृह्य ततो राम महदस्त्रं दशाननः ।
जघान मूर्ध्नि धनदं व्याविद्ध्य महतीं गदाम् ॥३२॥

उस समय रावण के इस प्रकार के बहुत से रूप दिखलाई
ते थे, किन्तु उसका असली रूप अदृश्य था। हे राम!
नन्तर रावण ने बड़ा भारी अस्त्र ले, उससे कुवेर की बड़ी
को विद्ध किया और उनके मस्तक पर प्रहार किया ॥३२॥

एवं स तेनाभिहतो विह्वलः शोणितोक्षितः ।
कृतमूल इवाशोको निपपात धनाधिपः ॥ ३३ ॥

कुवेर उसके उस प्रहार से विह्वल हो गए और रक्त की
बहाते हुए, जड़ कटे हुए अशोक वृक्ष की तरह पृथिवी
धड़ाम से गिर पड़े ॥ ३३ ॥

ततः पद्मादिभिस्तत्र निधिभिः स तदा वृतः ।
धनदोच्छ्वासितस्तैस्तु वनमानीय नन्दनम् ॥ ३४ ॥

तव पद्मादि निधि देवताओं ने कुवेर को उठा कर नन्दन-
में पहुँचाया और वहाँ उनको सचेत किया ॥ ३४ ॥

निर्जित्य राक्षसेन्द्रस्तं धनदं हृष्टमानसः ।
पुष्पकं तस्य जग्राह विमानं जयलक्षणम् । ३५ ॥

इस प्रकार रावण ने धनेश्वर कुवेर को पराजित कर,
हर्षित अन्तःकरण से जय का स्मारक स्वरूप, उनका पुष्पक-
विमान छीन लिया ॥ ३५ ॥

काञ्चनस्तम्भसंवीतं वैदूर्यमणितोरणम् ।
मुक्ताजालप्रतिच्छन्नं सर्वकालफलद्रुमम् ॥ ३६ ॥

पुष्पक विमान में सोने के खंभे थे और वह पन्नों के तोरणों से सुशोभित था। मोतियों का उचार उसके ऊपर पड़ा हुआ था। उसमें ऐसे फलदार वृक्ष भी थे, जो सब ऋतुओं में फला करते थे ॥ ३६ ॥

मनोजवं कामगमं कामरूं विहङ्गमम् ।
मणिकाञ्चनसोपानं तप्तकाञ्चनवेदिकम् ॥ ३७ ॥

मन जैसी उसकी तेज चाल थी। वह इच्छानुसार चलने वाला और कामरूपी पक्षी की तरह उड़ने वाला था। उसकी सोने की मणियों से जड़ी हुई सीढ़ियाँ थीं और सोने की उसमें बैठकें बनी हुई थीं ॥ ३७ ॥

देवोपवाह्यमक्षय्यं सदा दृष्टिमनःसुखम् ।
बह्वाश्चर्यं भक्तिचित्रं ब्रह्मणा[१] परिनिर्मितम् ॥ ३८ ॥

वह देवताओं के बैठने योग्य नाशरहित तथा मन और नेत्रों को सुखदायी था। उसमें बड़ी अद्भुत कारीगरी की गई थी और ब्रह्मा जी की आज्ञा से विश्वकर्मा ने उसे बनाया था ॥ ३८ ॥

निर्मितं सर्वकामैस्तु मनोहरमनुत्तमम् ।
न तु शीतं न चोष्णं च सर्वर्तुसुखदं शुभम् ॥ ३९ ॥

वह विमान समस्त मनोरथों को पूरा करनेवाला और उपमा रहित था। न उसमें विशेष सर्दी थी और न विशेष गर्मी ही—प्रत्युत वह शुभ विमान सब ऋतुओं में सुखदायी था ॥ ३९ ॥

---

१ ब्रह्मणा—विश्वकर्मणा। (गो०)

स तं राजा समारुह्य कामगं वीर्यनिर्जितम् ।
जितं त्रिभुवनं मेने दर्पोत्सेकात्सुदुर्मतिः ।
जित्वा वैश्रवणं देवं कैलासात् समवातरत् ॥ ४० ॥

उस पर सवार हो दुर्मति राक्षसराज रावण ने गर्व के वश में हो अपने मन में निश्चय कर लिया कि, अब मैंने तीनों लोक जीत लिए। रावण, इस प्रकार वैश्रवण (कुबेर) को जीत कर, कैलास पर्वत से उतर कर नीचे आया ॥ ४० ॥

स्वतेजसा विपुलमवाप्य तं जयं
प्रतापवान् विमलकिरीटहारवान् ।
रराज वै परमविमानमास्थितो
निशाचरः सदसि गतो यथाऽनलः ॥ ४१ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

प्रतापी राक्षस रावण अपने बल पराक्रम से उस बड़ी भारी जीत को पा, विमल किरीट और हार से शोभायमान हो और उत्तम विमान पर सवार हो, वेदी पर स्थित अग्नि के समान सुशोभित हुआ ॥ ४१ ॥

उत्तरकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:-:—

षोडशः सर्गः

—:-o-:—

स जित्वा धनदं राम भ्रातरं राक्षसाधिपः ।
महासेनप्रसूतिं तद्ययौ शरवणं महत् ॥ १ ॥

हे राम ! रावण अपने भाई कुबेर को इस तरह जीत कर, वह स्वामिकार्तिक के उत्पत्तिस्थान, सरहरी के जङ्गल में घुस गया ॥ १ ॥

अथापश्यद्दशग्रीवो रौक्मं शरवणं महत् ।
गभस्तिजालसंवीतं द्वितीयमिव भास्करम् ॥ २ ॥

वहाँ जा, उसने देखा कि, वह सोने की सरहरी का वन बड़ा विचित्र है और किरणों से युक्त एक दूसरे सूर्य की तरह चमचमा रहा है ॥ २ ॥

स पर्वतं समारुह्य कञ्चिद्रम्यं वनान्तरम् ।
प्रेक्षते पुष्पकं तत्र राम विष्टम्भितं तदा ॥ ३ ॥

हे राम ! उस रमणीय वनयुक्त पर्वत पर चढ़ कर, रावण ने देखा कि, वहाँ पुष्पक विमान की गति रुक गई है ॥ ३ ॥

विष्टब्धं किमिदं कस्मान्नागमत्कामगं कृतम् ।
अचिन्तयद्राक्षसेन्द्रः सचिवैस्तैः समावृतः ॥ ४ ॥
किन्निमित्तं चेच्छया मे नेदं गच्छति पुष्पकम् ।
पर्वतस्योपरिष्ठस्य कर्मेदं कस्यचिद्भवेत् ॥ ५ ॥

तब तो राक्षसराज रावण बड़ा विस्मित हुआ और विचारने लगा कि, यह विमान तो कामगामी है, तिस पर भी यह आगे क्यों नहीं बढ़ता—इसका कारण क्या है ? वह अपने मंत्रियों के साथ परामर्श कर कहने लगा कि, यह विमान अभी तक तो मेरी इच्छा के अनुसार चला आता था, पर अब नहीं चलता—सो इसका क्या कारण है ? मेरी जान में तो इस पर्वत पर रहनेवाले किसी का यह काम है ॥ ४ ॥ ५ ॥

ततोऽब्रवीत्तदा राम मारीचो बुद्धिकोविदः ।
नेदं निष्कारणं राजन् पुष्पकं यन्न गच्छति ॥ ६ ॥
अथवा पुष्पकमिदं धनदान्नान्यवाहनम् ।
अतो निस्पन्दमभवद्धनाध्यक्षविनाकृतम् ॥ ७ ॥

हे राम! तब बुद्धिमान् मारीच ने कहा कि, 'हे राजन्! बिना किसी कारण के तो यह रुक नहीं सकता। सम्भव है यह कुबेर को छोड़ दूसरे को न ले जा सकता हो। इसी कारण से इसकी चाल रुक गई हो ॥ ६ ॥ ७ ॥

इति वाक्यान्तरे तस्य करालः कृष्णपिङ्गलः ।
वामनो विकटो मुण्डी नन्दी ह्रस्वभुजो बली ॥ ८ ॥
ततः पार्श्वमुपागम्य भवस्यानुचरोऽब्रवीत् ।
नन्दीश्वरो वचश्चेदं राक्षसेन्द्रमशङ्कितः ॥ ९ ॥

इधर रावणादि इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि, अति कराल रूप, काले-पीले रंगों वाले बहुत छोटे डीलडौल के नन्दीश्वर देख पड़े। वे बड़े विकट थे, मूँड मुंडाए थे और छोटी छोटी उनकी भुजाएँ थीं। वे भगवान् शिव की सेवा में सदा लगे रहते थे। उन्होंने रावण के निकट जा कर निर्भीक हो उससे कहा ॥ ८ ॥ ९ ॥

निवर्तस्व दशग्रीव शैले क्रीडति शङ्करः ।
सुपर्णनागयक्षाणां देवगन्धर्वरक्षसाम् ॥ १० ॥
सर्वेषामेव भूतानामगम्यः पर्वतः कृतः ।
इति नन्दिवचः श्रुत्वा क्रोधात् कम्पितकुण्डलः ॥ ११ ॥

रोषाच्च ताम्रनयनः पुष्पकादवरुह्य सः ।
कोयं शङ्कर इत्युक्त्वा शैलमूलमुपागतः ॥ १२ ॥

हे दशग्रीव ! शिव जी यहाँ क्रीड़ा कर रहे हैं । अतः तू यहाँ से चला जा । गरुड़, नाग, यक्ष, देवता, गन्धर्व और राक्षस कोई भी जीवधारी इस पर्वत पर नहीं जा सकता । नन्दी । के इन वचनों को सुन रावण मारे क्रोध के आग बबूला हो गया, उसके नेत्र लाल हो गए । वह अपने कुण्डलों को हिलाता हुआ पुष्पक विमान से उतर पड़ा और यह कहता हुआ कि, "यह कौन शंकर है ? पहाड़ के नीचे आया ॥१०॥११॥१२॥

सोऽपश्यन्नन्दिनं तत्र देवस्यादूरतः स्थितम् ।
दीप्तं शूलमवष्टभ्य द्वितीयमिव शङ्करम् ॥ १३ ॥

रावण ने देखा कि, वहाँ नन्दी चमचमाता शूल उठाए दूसरे महादेव की तरह शङ्कर जी के निकट ही खड़े हैं ॥ १३ ॥

तं दृष्ट्वा वानरमुखमवज्ञाय स राक्षसः ।
प्रहासं मुमुचे तत्र सतोय इव तोयदः ॥ १४ ॥

वानर जैसा नन्दीश्वर का मुख देख, रावण उनका अपमान करता हुआ, अट्टहास कर ऐसा हँसा मानो बादल गरजता हो ॥ १४ ॥

तं क्रुद्धो भगवान्नन्दी शंकरस्यापरा तनुः ।
अब्रवीत्तत्र तद्रक्षो दशाननमुपस्थितम् ॥ १५ ॥

शिव जी की साक्षात् दूसरी मूर्ति नन्दीश्वर, रावण को हँसते देख, बड़े कुपित हुए और वहाँ उपस्थित रावण से बोले ॥१५॥

यस्माद्वानररूपं मामवज्ञाय दशानन ।
अशनीपातसङ्काशमपहासम्प्रमुक्तवान् ॥ १६ ॥

हे दशानन ! मेरे वानर रूप की अवज्ञा कर, वज्राघात के समान तूने जो अट्टहास किया है ॥ १६ ॥

तस्मान्मद्वीर्यसंयुक्ता मद्रूपसमतेजसः ।
उत्पत्स्यन्ति वधार्थं हि कुलस्य तव वानराः ॥ १७ ॥

सो मेरे समान पराक्रमी और तुल्य रूप वाले और तेजस्वी वानर तेरे वश का मूलोच्छेद करने के लिए उत्पन्न होंगे ॥१७॥

नखदंष्ट्रायुधाः क्रूरा मनःसम्पातरंहसः ।
युद्धोन्मत्ता बलोद्रिक्ताः शैला इव विसर्पिणः ॥ १८ ॥

वे नखों और दाँतों को आयुध बनाए हुए वानर, मन की तरह शीघ्रगामी, रणोन्मत्त, पर्वत की तरह विशाल शरीरधारी और बलवान होंगे ॥ १८ ॥

ते तव प्रबलं [1]दर्पमुत्सेधं[2] च पृथग्विधम् ।
व्यपनेष्यन्ति सम्भूय सहामात्यसुतस्य च ॥ १९ ॥

तेरे इस प्रबल अहङ्कार और शारीरिक बल के घमण्ड को वे ही दूर करेंगे । वे तेरा ही नहीं; बल्कि तेरे मन्त्रियों और पुत्रों का भी दर्प खर्व करेंगे ॥ १९ ॥

किंत्विदानीं मया शक्यं हन्तुं त्वां हे निशाचर ।
न हन्तव्यो हतस्त्वं हि पूर्वमेव स्वकर्मभिः ॥ २० ॥

---

१ दर्पः—आन्तरः । (रा०) २ उत्सेध.—शारीर । (रा०)

हे राक्षस ! यद्यपि मैं तुझे इसी समय मार डालता, तथापि मैं तुझे मारना नहीं चाहता। क्योंकि तू अपने बुरे कर्मों से पहिले ही मर चुका है। मरे को मारना उचित नहीं ॥ २० ॥

इत्युदीरितवाक्ये तु देवे तस्मिन् महात्मनि ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ॥ २१ ॥

महात्मा नन्दीश्वर ने ज्योंही ये वचन कहे, त्योंही देवताओं ने नगाड़े बजाए और आकाश से फूलों की वर्षा हुई ॥ २१ ॥

अचिन्तयित्वा स तदा नन्दिवाक्यं महाबलः ।
पर्वतं तु समासाद्य वाक्यमाह दशाननः ॥ २२ ॥

महाबलवान रावण नन्दीश्वर के इस शाप की कुछ भी परवाह न कर और पर्वत के निकट जा, ये वचन बोला ॥२२।

पुष्पकस्य गतिश्छिन्ना यत्कृते मम गच्छतः ।
तमिमं शैलमुन्मूलं करोमि तव गोपते[1] । २३ ॥

हे वृषभपते रुद्र ! तुम्हारे जिस पर्वत के कारण मेरे पुष्पक विमान की चाल बन्द हो गई है, उसे मैं उखाड़ कर फैंके देता हूँ ॥ २३ ॥

केन प्रभावेण भवो नित्यं क्रीडति राजवत् ।
विज्ञातव्यं न जानीते भयस्थानमुपस्थितम् ॥ २४ ॥

शिव किस बलबूते पर नित्य राजाओं की तरह क्रीड़ा किया करता है ? क्या उसको यह नहीं मालूम कि, उसके लिए भय

---

[1] गोपते—हे वृषभपते रुद्र । (गो०)

का कारण उपस्थित है। यह तो उनको जान ही लेना उचित है (अथवा यह बात मुझे उनको जना देना आवश्यक है) ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा ततो राम भुजान् विक्षिप्य पर्वते ।
तोलयामास तं *शीघ्रं स शैलः समकम्पत ॥ २५ ॥

हे राम ! यह कह कर, दशानन ने तुरन्त अपनी भुजाएं पर्वत के नीचे घुसेड़ दीं और वह पर्वत को उठाने लगा। तब वह पर्वत काँपने लगा अथवा हिला ॥ २५ ॥

चालनात्पर्वतस्यैव गणा देवस्य कम्पिताः ।
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम् ॥ २६ ॥

पर्वत के हिलने से महादेव जी के समस्त गण काँप गए। पार्वती जी भी घवड़ा कर महादेव जी के शरीर से लिपट गईं ॥ २६ ॥

ततो राम महादेवो देवानां प्रवरो हरः ।
पादाङ्गुष्ठेन तं शैलं पीडयामास लीलया ॥ २७ ॥

हे राम ! तब तो देवताओं में अतिश्रेष्ठ महादेव जी ने बिना किसी प्रयास के अपने पैर के अंगूठे से उस पर्वत को दबा दिया ॥ २७ ॥

पीडितास्तु ततस्तस्य शैलस्तंभोपमा भुजाः ।
विस्मताश्चाभवंस्तत्र सचिवास्तस्य रक्षसः ॥ २८ ॥

पर्वत के दबाते ही रावण की खंभों की तरह भुजाएं, जो उस पर्वत के नीचे थीं, पिचने लगीं। यह देख दशग्रीव के मंत्रिगण विस्मित हुए ॥ २८ ॥

* पाठान्तरे —"शैलं स शैलः"।

रक्षसा तेन रोषाच्च भुजानां पीडनात्तथा ।
मुक्तो विरावः सहसा त्रैलोक्यं येन कम्पितम् ॥ २६ ॥

तब क्रोध से तथा भुजाओं के पिचने से दशग्रीव इतनी जोर से चिल्लाया कि, उसके उस चीत्कार से तीनों लोक थर्रा उठे ॥ २: ॥

मेनिरे वज्रनिष्पेषं तस्यामात्या युगक्षये ।
तदा वर्त्मसु चलिता देवा इन्द्रपुरोगमाः । ३० ॥

दशानन के मंत्रियों ने इस शब्द को सुन कर समझा कि, मानों प्रलयकाल में वज्रपात होने जैसा शब्द हुआ । इन्द्रादि देवता अपने मार्ग से विचलित हो गए ॥ ३० ॥

समुद्राश्चापि संक्षुब्धाश्चलिताश्चापि पर्वताः ।
यक्षा विद्याधराः सिद्धाः किमेतदिति चाब्रुवन् ॥३१॥

समुद्र खलबला उठे और पर्वत काँप उठे । यक्ष, विद्याधर और सिद्ध विस्मित हो कहने लगे—"यह क्या हुआ ?" ॥३१॥

तोषयस्व महादेवं नीलकण्ठमुमापतिम् ।
तमृते शरणं नान्यं पश्यामोऽत्र दशानन ॥ ३२ ॥

दशानन के मंत्रियों ने उससे कहा—हे दशानन ! तुम उमापति नीलकण्ठ महादेव को (स्तुति द्वारा) प्रसन्न करो । बिना उनके यहाँ तुम्हारी रक्षा का अन्य कोई उपाय हमें नहीं सूझ पड़ता ॥ ३२ ॥

स्तुतिभिः प्रणतो भूत्वा तमेव शरणं व्रज ।
कृपालुः शङ्करस्तुष्टः प्रसादं ते विधास्यति ॥ ३३ ॥

तुम नम्र हो कर उनकी स्तुति करो (अथवा उनके सामने गिड़गिड़ाओ) और उनके शरण में जाओ। महादेव जी बड़े कृपालु हैं। वे सन्तुष्ट हो कर, तुम पर प्रसन्न हो जायँगे॥ ३३।

एवमुक्तस्तदामात्यैस्तुष्टाव वृषभध्वजम् ।
सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः ।
संवत्सरसहस्रं तु रुदतो रक्षसो गतम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार की मन्त्रियों की बातें सुन, दशानन ने शिव जी को प्रणाम किया और सामवेद के विविध मन्त्रों से वह उनकी स्तुति करने लगा। जब इस प्रकार रोते और गिड़गिड़ाते उसे एक सहस्र वर्ष बीत गए॥ ३४॥

ततः प्रीतो महादेवः शैलाग्रे विष्ठितं प्रभुः ।
मुक्त्वा चास्य भुजान् राम प्राह वाक्यं दशाननम् ॥३५॥

तब उस शैल पर विहार करते हुए श्रीमहादेव जी रावण से सन्तुष्ट हुए। उन्होंने उस पर्वत के नीचे से उसे अपनी भुजाएँ निकाल लेने दीं और हे राम ! तब वे दशानन से बोले॥ ३५।

प्रीतोस्मि तव वीरस्य शौटीर्याच्च दशानन ।
शैलाक्रान्तेन यो मुक्तस्त्वया रावः सुदारुणः ॥ ३६ ॥
यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम् ।
तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना राजन् भविष्यसि ॥ ३७ ॥

हे वीर दशानन ! मै तेरी वीरता से तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ। हे राजन ! पर्वत की दाब से भुजाओ के पिचने पर, तूने चीत्कार किया और उसको सुन तीनों लोक थर्रा उठे। अतः आज से तेरा नाम रावण होगा॥ ३६। ३७॥

देवता मानुषा यक्षा ये चान्ये जगतीतले ।
एवं त्वामभिधास्यन्ति रावणं लोकरावणम् ॥ ३८ ॥

देवता, मनुष्य, यक्ष तथा अन्य प्राणी जो पृथिवी पर हैं, वे सब तुझको लोगों का रुलाने वाला रावण कह कर पुकारेंगे॥३८॥

गच्छ पौलस्त्य विस्रब्धं पथा येन त्वमिच्छसि ।
मया चैवाभ्यनुज्ञातो राक्षसाधिप गम्यताम् ॥ ३९ ॥

हे पुलस्त्यनन्दन ! अब तू जिस रास्ते से जाना चाहे उससे निर्भय हो चला जा। मैं तुझको आज्ञा देता हूँ। हे राक्षस-नाथ ! अब तू जहाँ जाना चाहे जा ॥ ३९ ॥

एवमुक्तस्तु लङ्केशः शम्भुना स्वयमब्रवीत् ।
प्रीतो यदि महादेव वरं मे देहि याचतः ॥ ४० ॥

जब श्रीमहादेव जी ने इस प्रकार कहा, तब लङ्केश्वर रावण कहने लगा—हे महादेव ! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मैं जो वर माँगता हूँ, सो दीजिए ॥ ४० ॥

अवध्यत्वं मया प्राप्तं देवगन्धर्वदानवैः ।
राक्षसैर्गुह्यकैर्नागैर्ये चान्ये बलवत्तराः ॥ ४१ ॥

हे प्रभो ! देवताओं, गन्धर्वों, दानवों, राक्षसों, गुह्यकों, नागों से तथा अन्य बलवान प्राणधारियों से तो मैं अवध्य हूँ ही, अर्थात् इनमें से मुझे कोई नहीं मार सकता ॥ ४१ ॥

मानुषान्न गणे देव स्वल्पास्ते मम सम्मताः ।
दीर्घमायुश्च मे प्राप्तं ब्रह्मणस्त्रिपुरान्तक ।
वाञ्छितं चायुषः शेषं शस्त्रं त्वं च प्रयच्छ मे ॥ ४२ ॥

और मनुष्यों को मैं कुछ गिनता ही नहीं। हे त्रिपुरान्तक! ब्रह्मा जी से मैं दीर्घायु भी प्राप्त कर चुका हूँ। अब जो मेरी आयु शेष रह गई है वह मेरे किसी भी कर्म से नष्ट न हो! इसके अतिरिक्त तुम मुझे एक शस्त्र भी दो॥ ४२॥

एवमुक्तस्ततस्तेन रावणेन स शङ्करः।
ददौ खड्गं महादीप्तं चन्द्रहासमिति श्रुतम्॥ ४३॥

जब रावण ने इस प्रकार श्रीमहादेव जी से कहा, तब श्रीमहादेव जी ने चन्द्रहास नाम की एक चमचमाती तलवार रावण को दी॥ ४३॥

आयुषश्चावशेषं च ददौ भूतपतिस्तदा॥ ४४॥

तथा भूतनाथ श्रीमहादेव जी ने (रावण के प्रार्थनानुसार) उसे शेष आयु भी दिआ॥ ४४॥

दत्त्वोवाच ततः शम्भुर्नावज्ञेयमिदं त्वया।
अवज्ञातं यदि हि ते मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ४५॥

इस प्रकार तलवार और वर दे कर श्रीमहादेव जी बोले कि हे रावण! इस तलवार का कभी अनादर मत करना। यदि अनादर किआ तो यह तलवार मेरे पास चली आवेगी। इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ४५॥

एवं महेश्वरेणैव कृतनामा स रावणः।
अभिवाद्य महादेवमारुरोहाथ पुष्पकम्॥ ४६॥

श्रीमहादेव जी से इस प्रकार अपना "रावण" नाम धरा कर और उनको प्रणाम कर, दशग्रीव पुष्पक विमान पर सवार हुआ॥ ४६॥

ततो महीतलं राम पर्यक्रामत रावणः ।
क्षत्रियान् सुमहावीर्यान् बाधमानस्ततस्ततः ॥ ४७ ॥

हे राम ! तदनन्तर रावण पृथिवीतल पर घूम कर बड़े बड़े बलवान और पराक्रमी क्षत्रियों को सताने लगा ॥ ४७ ॥

केचित्तेजस्विनः शूराः क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ।
तच्छासनमकुर्वन्तो विनेशुः सपरिच्छदाः ॥ ४८ ॥

कितने ही तेजस्वी, शूरवीर और युद्ध में दुर्मद क्षत्रिय उसकी आज्ञा न मानने के कारण सपरिवार मारे गए ॥ ४८ ॥

अपरे दुर्जयं रक्षो जानन्तः प्राज्ञसम्मताः ।
जिताः स्म इत्यभाषन्त राक्षसं बलदर्पितम् ॥ ४९ ॥

इति षोडशः सर्गः ॥

अन्य चतुर एवं समझदार राजाओं ने बलगर्वित रावण को दुर्जय जान कर, उससे अपनी हार मान ली ॥ ४९ ॥
उत्तरकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

सप्तदशः सर्गः

—❀—

अथ राजन् महाबाहुर्विचरन् पृथिवी तले ।
हिमवद्वनमासाद्य परिचक्राम रावणः ॥ १ ॥

हे राम ! यह महाबली रावण इस प्रकार घूमता फिरता एक दिन हिमालय के वन में पहुँचा और वहाँ घूमने लगा ॥१॥

तत्रापश्यत्स वै कन्यां कृष्णाजिनजटाधराम् ।
[1]आर्षेण विधिना युक्तां दीप्यन्तीं देवतामिव ॥ २ ॥

वहाँ उसने एक कन्या देखी जो मृगचर्म धारण किए हुए थी, तपोनुष्ठान में निरत थी और साक्षात् देवकन्या के समान देदीप्यमान थी ॥ २ ॥

स दृष्ट्वा रूपसम्पन्नां कन्यां तां सुमहाव्रताम् ।
काममोहपरीतात्मा पप्रच्छ प्रहसन्निव ॥ ३ ॥

उस सुन्दरी और महाव्रत करने वाली कन्या को देख, रावण ने कामदेव से पीड़ित हो, मुसक्या कर उससे पूँछा ॥ ३ ॥

किमिदं वर्तसे भद्रे विरुद्धं यौवनस्य ते ।
न हि युक्ता तवैतस्य रूपस्यैवं प्रतिक्रिया ॥ ४ ॥

हे भद्रे ! इस समय तू जो कर्म कर रही है, वह तो तेरी इस जवानी के विरुद्ध है। विशेष कर यह आचरण तेरे इस रूप के योग्य नहीं है ॥ ४ ॥

रूपं तेऽनुपमं भीरु कामोन्मादकरं नृणाम् ।
न युक्तं तपसि स्थातुं निर्गतो ह्येष निर्णयः ॥ ५ ॥

हे भीरु ! तेरा यह सौन्दर्य तो मनुष्यों को कामोन्मत्त करने वाला है। अतः यह उचित नहीं जान पड़ता कि तू तप करे। अतः तू अपने इस तप करने के निश्चय को अर्थात् सङ्कल्प को त्याग दे ॥ ५ ॥

१ आर्षेण विधिना—तपोनुष्ठानेन । (गो०)

कस्यासि किमिदं भद्रे कश्च भर्ता वरानने ।
येन सम्भुज्यसे भीरु स नरः पुण्यभाग्भुवि ॥ ६ ॥

हे भद्रे ! तू किस की बेटी है ? यह क्या कर रही है ? हे वरानने ! तेरा पति कौन है ? हे भीरु ! तेरे साथ जो सम्भोग करता होगा, वह पुरुष इस पृथिवीतल पर बड़ा पुण्य-वान होगा ॥ ६ ॥

पृच्छतः शंस मे सर्वं कस्य हेतोः परिश्रमः ।
एवमुक्ता तु सा कन्या रावणेन यशस्विनी ॥ ७ ॥
अब्रवीद्विधिवत्कृत्वा तस्यातिथ्यं तपोधना ।
कुशध्वजो नाम पिता ब्रह्मर्षिरमितप्रभः ।
बृहस्पतिसुतः श्रीमान् बुद्धया तुल्यो बृहस्पतेः ॥ ८ ॥

मैं तुझसे पूंछता हूँ । समस्त वृत्तान्त तू बतला कि, तू किसके लिए यह इतना परिश्रम कर रही है ? जब रावण ने उससे इस प्रकार पूँछा, तब वह यशस्विनी एवं तपस्विनी कन्या, रावण का विधिवत आतिथ्य कर, बोली—बृहस्पति के पुत्र बुद्धि में बृहस्पति जी ही के समान, अमित प्रभावान् कुशध्वज नामक ब्रह्मर्षि मेरे पिता हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

तस्याहं कुर्वतो नित्यं वेदाभ्यासं महात्मनः ।
सम्भूता वाङ्मयी कन्या नाम्ना वेदवती स्मृता ॥ ९॥

वे महात्मा नित्य ही वेदाभ्यास करते थे । मैं उन्हींकी वाणी रूप कन्या हूँ । मेरा नाम वेदवती है ॥ ९ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
ते चापि गत्वा पितरं वरणं रोचयन्ति मे ॥ १० ॥

देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग मेरे पिता के पास जा कर, मेरे साथ विवाह करने की प्रार्थना करते थे ॥ १० ॥

न च मां स पिता तेभ्यो दत्तवान् राक्षसेश्वर ।
कारणं तद्वदिष्यामि निशामय महाभुज ॥ ११ ॥

परन्तु हे राक्षसेश्वर ! पिता जी ने उन लोगों के साथ मेरा विवाह न किया । हे महावीर ! इसका कारण मैं कहती हूँ, तुम सुनो ॥ ११ ॥

पितुस्तु मम जामाता विष्णुः किल सुरेश्वरः ।
अभिप्रेतस्त्रिलोकेशस्तस्मान्नान्यस्य मे पिता ॥ १२ ॥

मेरे पिता चाहते थे कि, उनके जामात सुरेश्वर विष्णु हों । अतः वे दूसरे के साथ मेरा विवाह करना नहीं चाहते थे ॥१२॥

दातुमिच्छति तस्मै तु तच्छ्रुत्वा बलदर्पितः ।
शम्भुर्नाम ततो राजा दैत्यानां कुपितोऽभवत् ॥ १३ ॥

जब पिता ने विष्णु के साथ मेरा विवाह करने की इच्छा प्रकट की; तब यह बात सुन कर, बलगर्वित दैत्येन्द्र शम्भु बड़ा कुपित हुआ ॥ १३ ॥

तेन रात्रौ शयानो मे पिता पापेन हिंसितः ॥ १४ ॥

और एक दिन रात में जब मेरे पिता सो रहे थे, तब उस पापी ने आ कर सोते में ही उनको मार डाला ॥ १४ ॥

ततो मे जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम ।
परिष्वज्य महाभागा प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥ १५ ॥

तब मेरी महाभागा माता ने दुखी हो पिता की लोथ के साथ लिपट कर अग्नि में प्रवेश किया ॥ १५ ॥

ततो मनोरथं सत्यं पितुर्नारायणं प्रति ।
करोमीति तमेवाहं हृदयेन समुद्वहे ॥ १६ ॥

[टिप्पणी—सती प्रथा के प्राचीनतम होने का यह उदाहरण है ।]

तब मैंने सोचा कि नारायण के विषय में मेरे पिता का जो सङ्कल्प था, उसे मैं पूरा करूँ । यही विचार कर मैं हृदय से उसी काम को पूरा करने में लगी हूँ ॥ १६ ॥

इति प्रतिज्ञामारुह्य चरामि विपुलं तपः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं मया राक्षसपुङ्गव ॥ १७ ॥

हे राक्षस पुङ्गव ! इस प्रतिज्ञा के अनुसार ही मैं यह कठोर तप कर रही हूँ । जो सत्य बात थी, सो मैंने तुमसे कह दी ॥१७॥

नारायणो मम पतिर्न त्वन्यः पुरुषोत्तमात् ।
आश्रये नियमं घोरं नारायणपरीप्सया ॥ १८ ॥

श्रीनारायण जी मेरे पति हैं, उन पुरुषोत्तम को छोड़ और कोई मेरा पति नहीं हो सकता । अतः श्रीनारायण को अपना पति बनाने के लिए मैं यह घोर तप कर रही हूँ ॥ १८ ॥

विज्ञातस्त्वं हि मे राजन् गच्छ पौलस्त्यनन्दन ।
जानामि तपसा सर्वं त्रैलोक्ये यद्धि वर्तते ॥ १९ ॥

हे राजन् ! मैंने तुमको जान लिया कि, तुम पौलस्त्यनन्दन हो । अब तुम यहाँ से चले जाओ । मैं अपने तपोबल से तीनों लोकों में जो कुछ हो रहा है, सो सब जानती हूँ ॥ १९ ॥

सोऽब्रवीद्रावणो भूयस्तां कन्यां सुमहाव्रताम् ।
अवरुह्य विमानाग्रात्कन्दर्पशरपीडितः ॥ २० ॥

यह सुन कर कामबाण से पीड़ित रावण विमान से उतर कर, महाव्रत धारण किए हुए उस कन्या से कहने लगा ॥२०॥

अवलिप्ताऽसि सुश्रोणि यस्यास्ते मतिरीदृशी ।
वृद्धानां मृगशावाक्षि भ्राजते पुण्यसञ्चयः ॥ २१ ॥

हे सुश्रोणि ! तुझे अपने रूप का गर्व है, इसीसे तू नहीं जानती कि तुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं । इसीसे तेरी ऐसी बुद्धि हो रही है । हे मृगशावाक्षि ! तपस्यादि पुण्य-प्रद कार्यों का करना बुढ़ापे में अच्छा लगता है ॥ २१ ॥

त्वं सर्वगुणसम्पन्ना नार्हसे वक्तुमीदृशम् ।
त्रैलोक्यसुन्दरी भीरु यौवनं तेऽतिवर्तते ॥ २२ ॥

तू तो सर्वगुणसम्पन्ना है । तुझे ऐसा कहना नहीं सोहता । तू तो त्रैलोक्यसुन्दरी है । हे भीरु ! तेरी यह जवानी निकली जा रही है ॥ २२ ॥

अहं लङ्कापतिर्भद्रे दशग्रीव इति श्रुतः ।
तस्य मे भव भार्या त्वं भुंक्ष्व भोगान् यथासुखम् ॥ २३ ॥

हे भद्रे ! मैं लङ्केश्वर दशग्रीव हूँ । तू मेरी भार्या बन जा और यथेष्ट सुखों को भोगा कर ॥ २३ ॥

कश्च तावदसौ यं त्वं विष्णुरित्यभिभाषसे ।
वीर्येण तपसा चैव भोगेन च बलेन च ।
स मया नो समो भद्रे यं त्वं कामयसेऽङ्गने ॥ २४ ॥

हे भद्रे ! वह विष्णु कौन है, जिसका तूने नाम लिया है। और जिसको तू चाह रही है। वह कोई क्यों न हो; किन्तु वह पराक्रम, तप, भोग और बल में मेरे समान कभी नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

इत्युक्तवति तस्मिंस्तु वेदवत्यथ साऽब्रवीत् ।
मा मैवमिति सा कन्या तमुवाच निशाचरम् ॥ २५ ॥

जब रावण ने इस प्रकार कहा, तब वेदवती ने उससे कहा—तुम विष्णु के विषय में ऐसा मत कहो ॥ २४ ॥

त्रैलोक्याधिपतिं विष्णुं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
त्वदृते राक्षसेन्द्रान्यः कोऽवमन्येत बुद्धिमान् ॥ २६ ॥

क्योंकि भगवान विष्णु त्रैलोक्याधिपति हैं और सब के पूज्य हैं। तुम को छोड़ दूसरा और कौन बुद्धिमान् होगा, जो उनका इस प्रकार अपमान करेगा ॥ २६ ॥

एवमुक्तस्तया तत्र वेदवत्या निशाचरः ।
मूर्धजेषु तदा कन्यां कराग्रेण परामृशत् ॥ २७ ॥

वेदवती के इन वचनों को सुन, रावण ने अपने हाथ से उसकी चोटी पकड़ी ॥ २७ ॥

ततो वेदवती क्रुद्धा केशान् हस्तेनः साच्छिनत् ।
असिर्भूत्वा करस्तस्याः केशांश्छिन्नांस्तदाऽकरोत् ॥२८॥

इस पर वेदवती ने क्रोध में भर अपने हाथ से अपने बाल काट डाले। क्योंकि उस समय उसका हाथ तलवार रूप हो गया था ॥ २८ ॥

सा ज्वलन्तीव रोषेण दहन्तीव निशाचरम् ।
उवाचाग्निं समाधाय मरणाय कृतत्वरा ॥ २९ ॥

वेदवती क्रोध से जलती हुई और मरने के लिए आतुर होने के कारण, आग जला, रावण को भस्म करती हुई सी बोली ॥ २९ ॥

धर्षितायास्त्वयाऽनार्य न मे जीवितमिष्यते ।
रक्षस्तस्मात् प्रवेक्ष्यामि पश्यतस्ते हुताशनम् ॥ ३० ॥

अरे नीच ! तूने मेरा अंग स्पर्श किआ है, अतः मैं अब जीना नहीं चाहती और मैं अब तेरे सामने ही अग्नि में प्रवेश करती हूँ ॥ ३० ॥

[टिप्पणी—प्राचीन भारत की यह सभ्यता और संस्कृति थी कि नारी पर जन-स्पर्श होने पर शरीर त्याग कर देती थी ।]

यस्मात्तु धर्षिता चाहं त्वया पापात्मना वने ।
तस्मात्तव वधार्थं हि समुत्पत्स्याम्यहं पुनः ॥ ३१ ॥

तैंने पापात्मा हो कर, मेरे केशों को स्पर्श कर, वन में मुझको अपमानित किआ है । अतः तेरा वध करने के लिए मैं पुनः उत्पन्न होऊँगी ॥ ३१ ॥

नहि शक्यः स्त्रिया हन्तुं पुरुषा पाप निश्चयाः ।
शापे त्वयि मयोत्सृष्टे तपसश्च व्ययो भवेत् ॥ ३२ ॥

क्योंकि पापी पुरुष को मारना स्त्रियों के वश की बात नहीं है । यदि मैं तुझे शाप दूँ, तो मेरी तपस्या की हानि होती है ॥ ३२ ॥

यदि त्वस्ति मया किञ्चित्कृतं दत्तं हुतं तथा ।
तस्मात्त्वयोनिजा साध्वी भवेयं धर्मिणः सुता ॥ ३३ ॥

यदि मैंने कुछ सुकृत किया हो या दान दिया हो या होम किया हो, तो मैं किसी धर्मात्मा के घर में अयोनिजा जन्म लूँ ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा प्रविष्टा सा ज्वलितं जातवेदसम् ।
पपात च दिवो दिव्या पुष्पवृष्टिः समन्ततः ॥ ३४ ॥

यह कह कर, वेदवती धधकती हुई आग में कूद पड़ी। उस समय उस चिता के चारों ओर आकाश से दिव्य पुष्पों की वृष्टि हुई ॥ ३४ ॥

सैषा जनकराजस्य प्रसूता तनया प्रभो ।
तव भार्या महाबाहो विष्णुस्त्वं हि सनातनः ॥ ३५ ॥

हे प्रभो! वही वेदवती जनकराज के घर कन्या रूप से उत्पन्न हो कर, तुम्हारी भार्या हुई है। हे महाबाहो! तुम भी वे ही सनातन विष्णु भगवान् हो ॥ ३५ ॥

पूर्वं क्रोधहतः शत्रुर्यथासौ निहतस्तया ।
उपाश्रयित्वा शैलाभस्तव वीर्यममानुषम् ॥ ३६ ॥

वेदवती तो अपने क्रोध से रावण को मार ही चुकी थी। अब तुम्हारे अलौकिक बल के सहारे अपने इस पर्वत के समान शत्रु का वेदवती ने नाश ही कर दिया ॥ ३६ ॥

एवमेषा महाभागा मर्त्येषूत्पत्स्यते पुनः ।
क्षेत्रे हलमुखोत्कृष्टे वेद्यामग्निशिखोपमा ॥ ३७ ॥

यह महाभागा वेदवती वेदी के बीच स्थित अग्निशिखा के तुल्य, आने वाले कल्प में हल की नोंक से जोते हुए खेत में इस प्रकार पुनः उत्पन्न होगी ॥ ३७ ॥

एषा वेदवती नाम पूर्वमासीत्कृते युगे ।
त्रेतायुगमनुप्राप्य वधार्थं तस्य रक्षसः ।
उत्पन्ना मैथिलकुले जनकस्य महात्मनः ॥ ३८ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

हे राजन्! यह पहले सत्ययुग मे वेदवती के नाम से विख्यात थी। अब यही त्रेता में राक्षसो के कुल का संहार करने के लिए मैथिलकुल में महात्मा जनक के यहाँ उत्पन्न हुई है ॥ ३८ ॥

उत्तरकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:❀:—

अष्टादशः सर्गः

—:०:—

प्रविष्टायां हुताशं तु वेदवत्यां स रावणः ।
पुष्पकं तु समारुह्य परिचक्राम मेदिनीम् ॥ १ ॥

वेदवती के आग में कूद पड़ने पर रावण पुष्पक विमान में बैठ चारों ओर पृथिवी पर घूमने लगा ॥ १ ॥

ततो मरुत्तं नृपतिं यजन्तं सह दैवतैः ।
उशीरबीजमासाद्य ददर्श स तु रावणः ॥ २ ॥

वह उशीरबीज नामक देश में पहुँचा। वहाँ उसने देवताओं के साथ यज्ञ करते हुए राजा मरुत्त को देखा ॥ २ ॥

सवंर्तो नाम ब्रह्मर्षिः साक्षाद्भ्राता बृहस्पतेः ।
याजयामास धर्मज्ञः सर्वैर्देवगणैर्वृतः ॥ ३ ॥

बृहस्पति जी के सगे भाई धर्मज्ञ संवर्त नामक ब्रह्मर्षि समस्त देवताओं के साथ राजा मरुत्त को यज्ञ करा रहे थे ॥३॥

दृष्ट्वा देवास्तु तद्रक्षो वरदानेन दुर्जयम् ।
तिर्यग्योनिं समाविष्टास्तस्य धर्षणभीरवः ॥ ४ ॥

वरदान के कारण अजित राक्षस रावण को देख उसके सताने के भय से देवता पक्षियों का रूप धारण कर, उड़ गए ॥ ४ ॥

इन्द्रो मयूरः संवृत्तो धर्मराजस्तु वायसः ।
कृकलासो धनाध्यक्षो हंसश्च वरुणोऽभवत् ॥ ५ ॥

इन्द्र मोर, धर्मराज काग, कुवेर गिरगिट और वरुण ने हंस का रूप धारण किआ ॥ ५ ॥

अन्येष्वपि गतेष्वेवं देवेष्वरिनिषूदन ।
रावणः प्राविशद्यज्ञं सारमेय इवाशुचिः ॥ ६ ॥

हे शत्रुनाशी ! अन्य देवताओं ने भी इसी प्रकार अन्य पक्षियों के रूप धारण कर लिये । तव अपवित्र कुत्ते के समान रावण यज्ञशाला में घुस गया ॥ ६ ॥

तं च राजानमासाद्य रावणो राक्षसाधिपः ।
प्राह युद्धं प्रयच्छेति निर्जितोस्मीति वा वद ॥ ७ ॥

और वहाँ जा वह राजा मरुत्त से बोला कि, या तो तुम मुझसे लड़ो या अपनी हार मानो ॥ ७ ॥

ततो मरुत्तो नृपतिः को भवानित्युवाच तम् ।
अवहासं ततो मुक्त्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इस पर राजा मरुत्त ने रावण से पूँछा कि, आप कौन हैं ? तब रावण ने अट्टहास कर कहा ॥ ८ ।

अकुतूहलभावेन प्रीतोऽस्मि तव पार्थिव ।
धनदस्यानुजं यो मां नावगच्छसि रावणम् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! मैं तुम्हारी इस सिधाई से तुम पर प्रसन्न हूँ। क्योंकि तुम धनद—कुबेर के छोटे भाई मुझ रावण को भी नहीं पहिचानते ॥ ९ ॥

त्रिषु लोकेषु कोन्योऽस्ति यो न जानाति मे बलम् ।
भ्रातरं येन निर्जित्य विमानमिदमाहृतम् ॥ १० ॥

तीनों लोकों में कौन ऐसा है, जो मेरे बल पराक्रम को नहीं जानता। जिस रावण ने अपने बड़े भाई कुबेर को हरा कर, उसका यह विमान छीन लिया, उसे कौन नहीं जानता ॥ १० ॥

ततो मरुत्तः स नृपस्तं रावणमथाब्रवीत् ।
धन्यः खलु भवान्येन ज्येष्ठो भ्राता रणे जितः ।
न त्वया सदृशः श्लाघ्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ११ ॥

इस पर राजा मरुत्त ने रावण से कहा—तुम धन्य हो, जिसने अपने बड़े भाई को युद्ध में हरा दिया। सचमुच तुम्हारा जैसा श्लाघ्य पुरुष तो तीनों लोको में नहीं है ॥ ११ ॥

[नाधर्मसहितं श्लाध्यं न लोक प्रतिसंहितम् ।
कर्म दौरात्म्यकं कृत्वा श्लाघसे भ्रातृनिर्जयात् ॥]
कं त्वं प्राक्केवलं धर्मं चरित्वा लब्धवान् वरम् ।
श्रुतपूर्वं हि न मया भाससे यादृशं स्वयम् ॥ १२ ॥

हे मूढ़ ! अधर्मयुक्त और लोकनिन्दित कर्म कभी सराहने योग्य नहीं हो सकता। तूने अपने बड़े भाई को युद्ध में हरा कर (और उसका विमान छीन कर) दुरात्माओं जैसा काम किआ है। तिस पर भी तू अपनी सराहना करता है। पूर्व में तू ने कौनसा ऐसा धर्म का अनोखा काम किआ था, जिससे तुझे वर मिला। मैंने तो तेरे बारे में, जैसा कि तू स्वयं अब कह रहा है, पहिले कभी सुना नहीं ॥ १२ ॥

तिष्ठेदानीं न मे जीवन् प्रतियास्यसि दुर्मते ।
अद्य त्वां निशितैर्बाणैः प्रेषयामि यमक्षयम् ॥ १३ ॥

अरे दुष्ट ! खड़ा रह ! अब तू मेरे सामने आ कर जीता नहीं जा सकता। मैं पैने पैने बाणों से आज ही तुझे यमालय भेजूँगा ॥ १३ ॥

ततः शरासनं गृह्य सायकांश्च नराधिपः ।
रणाय निर्ययौ क्रुद्धः संवर्तो मार्गमावृणोत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर राजा मरुत्त धनुष बाण ले कर क्रोध में भरे हुए, युद्ध करने को बाहर निकले, किन्तु यज्ञ कराने को आए हुए संवर्त मुनि उनका मार्ग रोक खड़े हो गए ॥ १४ ॥

सोऽब्रवीत् स्नेहसंयुक्तं मरुत्तं तं महानृषिः ।
श्रोतव्यं यदि मद्वाक्यं सम्प्रहारो न ते क्षमः ॥ १५ ॥

संवर्त मुनि स्नेहयुक्त वचनों द्वारा राजा मरुत्त से बोले कि, यदि तुम मेरी बात मानो तो मैं कहूँगा कि, (रावण के साथ) तुम्हारा युद्ध करना मङ्गलकारी नहीं है ॥ १५ ॥

माहेश्वरमिदं सत्रमसमाप्तं कुलं दहेत् ।
दीक्षितस्य कुतो युद्धं क्रोधित्वं दीक्षिते कुतः ॥ १६॥
संशयश्च जये नित्यं राक्षसश्च सुदुर्जयः ।
स निवृत्तो गुरोर्वाक्यात् मरुत्तः पृथिवीपतिः ।
विसृज्य सशरं चापं स्वस्थो मखमुखोऽभवत् ॥ १७ ॥

क्योंकि यदि यह माहेश्वर सम्बन्धी यज्ञ समाप्त न होगा, तो तुम्हारे कुल का नाश कर देगा। यज्ञ में दीक्षित हुए पुरुष के लिए युद्ध करना अथवा क्रोध करना कैसा ? फिर जीत होने में भी सन्देह है, क्योंकि यह राक्षस अजेय है। अपने गुरु का कहना मान राजा मरुत्त युद्ध करने का विचार त्याग कर और धनुष बाण रख कर तथा मन को सावधान कर, पुन यज्ञकर्म में प्रवृत्त हुए ॥ १६ ॥ १७ ॥

ततस्तं निर्जितं मत्वा घोषयामास वै शुकः ।
रावणो जयतीत्युच्चैर्हर्षान्नादं विमुक्तवान् ॥ १८ ॥

तब तो रावण के मंत्री शुक ने राजा मरुत्त को हारा हुआ निश्चय कर, यह घोषणा की कि, रावण से राजा मरुत्त हार गया तथा उसने हर्षनाद किया ॥ १८ ॥

तान् भक्षयित्वा तत्रस्थान् महर्षीन् यज्ञमागतान् ।
वितृप्तो रुधिरैस्तेषां पुनः संप्रययौ महीम् ॥ १६ ॥

यज्ञ में आए हुए ऋषियों को खा कर और उनके रक्त को भर पेट पी कर, रावण पुनः पृथिवीमण्डल पर विचरने लगा ॥ १६ ॥

रावणे तु गते देवाः सेन्द्राश्चैव दिवौकसः ।
ततः स्वां योनिमासाद्य तानि सत्त्वानि चाब्रुवन् ॥ २० ॥

रावण के चले जाने पर इन्द्रादि देवताओं ने फिर अपने अपने रूप धारण कर उन पशु पक्षियों से कहा ॥ २० ॥

हर्षात्तदाब्रवीदिंद्रो मयूरं नीलबर्हिणम् ।
प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञ भुजङ्गाद्धि न ते भयम् ॥ २१ ॥

हर्षित हो इन्द्र ने नीले रंगवाले मोर से कहा हे धर्मज्ञ । हम तुम पर प्रसन्न हैं (अतः हम तुमको यह वर देते हैं कि) तुम को सर्प से भय नहीं होगा ॥ २१ ॥

इदं नेत्रसहस्रं तु यत्तद्बर्हे भविष्यति ।
वर्षमाणे मयि मुदं प्राप्स्यसे प्रीतिलक्षणम् ॥ २२ ॥

हमारे ये सहस्र नेत्र तुम्हारी चन्द्रिका पर सुशोभित होंगे । जब मैं जलवृष्टि करूंगा; तब मेरी प्रीति का चिह्न स्वरूप आनन्द, तुमको प्राप्त होगा ॥ २२ ॥

एवमिन्द्रो वरं प्रादात् मयूरस्य सुरेश्वरः ॥ २३ ॥

सुरेश्वर इन्द्र ने इस प्रकार मयूर को वरदान दिया ॥२३॥

नीलाः किल पुरा बर्हा मयूराणां नराधिप ।
सुराधिपाद्वरं प्राप्य गताः सर्वेऽपि बर्हिणः ॥ २४ ॥

हे राजन ! पूर्वकाल में मोरों की पूंछ नीले रंग की थी, (किन्तु इन्द्र के वरदान से उनकी पूंछ रंग बिरंगी हो गई) इन्द्र से वर पा कर सब मोर वहाँ से चले गए ॥ २४ ॥

धर्मराजोऽब्रवीद्राम प्राग्वंशे वायसम् प्रति ।
पक्षिंस्तवास्मि सुप्रीतः प्रीतस्य वचनं शृणु ॥ २५ ॥

तदनन्तर हे राम ! धर्मराज ने प्राग्वंश नामक यज्ञशाला में बैठे हुए कौए से कहा—हे पक्षिन् ! हम तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं । अतः तुम हमारे वचन सुनो ॥ २५ ॥

यथान्ये विविधै रोगैः पीड्यन्ते प्राणिनो मया ।
ते न ते प्रभविष्यन्ति मयि प्रीते न संशयः ॥ २६ ॥

हम अन्य प्राणियों को तरह तरह के रोगों से पीड़ित करते हैं; किन्तु (हमारे आज के वरदान से] तेरे शरीर पर कभी किसी रोग का प्रभाव न पड़ेगा । तुझे रोगों से कभी पीड़ा न होगी । इसमें कुछ संशय नहीं है ॥ २६ ॥

मृत्युतस्ते भयं नास्ति वरात् मम विहङ्गम ।
यावत्त्वां न वधिष्यन्ति नरास्तावद्भविष्यसि ॥ २७ ॥

हे विहङ्गम ! मेरे वरदान से तुझे मृत्यु से भय न होगा । जब तक तुझे कोई मनुष्य नहीं मारेगा, तब तक तू जीवित रहेगा ॥ २७ ॥

ये च मद्विषयस्था वै मानवाः क्षुधयार्दिताः ।
त्वयि भुक्ते सुतृप्तास्ते भविष्यन्ति सबान्धवाः ॥२८॥

जितने मनुष्य मेरे लोक में रहेंगे और क्षुधा से पीड़ित होंगे, वे सब तेरे तृप्त होने पर बन्धुओं सहित तृप्त हो जाँयगे ॥२८॥

वरुणस्त्वब्रवीद्धंसं गङ्गातोय विचारिणम् ।
श्रूयतां प्रीतियुक्तं ततः पत्ररथेश्वरम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर वरुण जी ने गङ्गासलिलचारी हंस से कहा—हे पत्ररथेश्वर। तुम मेरे प्रीतिसाने वचन सुनो ॥ २९ ॥

वर्णो मनोरमः सौम्यश्चन्द्रमण्डलसन्निभः ।
भविष्यति तवोदग्रः शुद्धफेनसमप्रभः ॥ ३० ॥

तेरा रंग मनोहर सुन्दर और चन्द्रमण्डल की तरह सफेद होगा और तेरे शरीर की कान्ति निर्मल फेन समान होगी ॥३०॥

मच्छरीरं[1] समासाद्य कान्तो नित्यं भविष्यसि ।
प्राप्स्यसे चातुलां प्रीतिमेतन्मे प्रीतिलक्षणम् ॥३१॥

मेरा शरीर जल है, सो उसे पा कर तेरा शरीर अत्यन्त सुन्दर हो जायगा और [जल पर सञ्चालन करने से] तू आनन्दित होगा। यही मेरी प्रीति का चिह्न है ॥ ३१ ॥

हंसानां हि पुरा राम न वर्णः सर्वपाण्डुरः ।
पक्षा नीलाग्रसंवीताः क्रोडाः शष्पाग्रनिर्मलाः ॥३२॥

हे राम! इससे पहिले हंसों का समस्त शरीर सफेद रंग का नहीं था। उनके पंखों के किनारे काले होते थे। उनका पेट घास की तरह हरा और चिकना हुआ करता था ॥३२॥

अथाब्रवीद्वैश्रवणः कृकलासं गिरौ स्थितम् ।
हैरण्यं सम्प्रयच्छामि वर्णं प्रीतस्तवाप्यहम् ॥ ३३ ॥
सद्रव्यं च शिरो नित्यं भविष्यति तवाक्षयम् ।
एष काञ्चनको वर्णो मत्प्रीत्या ते भविष्यति ॥३४॥

---

[1] मच्छरीरं—मन्मूर्ति। (गो०)

इसके बाद पर्वत पर बैठे हुए गिरगिट से कुवेर जी बोले—हम तुम पर प्रसन्न हो कर तुम्हारा रंग सुवर्ण जैसा किए देते हैं। तुम्हारा सिर सुनहला हो जायगा और विशेष कर हमारे प्रसन्न होने से तुम्हारा रंग सदा सुनहला बना रहैगा ॥३३॥३४॥

एवं दत्वा वरांस्तेभ्यस्तस्मिन् यज्ञोत्सवे सुराः
निवृत्ते सह राज्ञा ते पुनः स्वभवनं गताः ॥ ३५ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

देवता लोग उन पक्षियों को इस प्रकार वरदान दे कर, राजा मरुत्त का यज्ञोत्सव समाप्त होने पर, राजा मरुत्त सहित अपने अपने भवनों को चले गए ॥ ३५ ॥

उत्तरकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

एकोनविंशः सर्गः

—.o—

अथ जित्वा मरुत्तं स प्रययौ राक्षसाधिपः।
नगराणि नरेन्द्राणां युद्धाकांक्षी दशाननः ॥ १ ॥

अब राजा मरुत्त को जीत कर, राक्षसराज रावण युद्ध की कामना से नगरों में घूमने फिरने लगा ॥ १ ॥

समासाद्य तु राजेन्द्रान् महेन्द्रवरुणोपमान्।
अब्रवीद्राक्षसेन्द्रस्तु युद्धं मे दीयतामिति ॥ २ ॥

महेन्द्र और वरुण के समान बड़े बड़े राजाओं के निकट जा, रावण उनसे कहता कि, या तो मुझसे लड़ो ॥ २ ॥

निर्जिताः स्मेति वा ब्रूत एष मे हि सुनिश्चयः ।
अन्यथा कुर्वतामेवं मोक्षो नैवोपपद्यते ॥ ३ ॥

अथवा मुझसे अपनी हार मानो क्योंकि मैंने यही निश्चय कर रखा है कि, जो राजा इन दो बातों में से एक भी स्वीकार न करेगा उसका किसी प्रकार से छुटकारा न हो सकेगा ॥ ३ ॥

ततस्त्वभीरवः प्राज्ञाः पार्थिवा धर्मनिश्चयाः ।
मन्त्रयित्वा ततोऽन्योन्यं राजानःसुमहाबलाः ॥ ४ ॥

रावण की बातें सुन स्वभाव ही से निडर, धर्मात्मा और महाबलवान राजा लोग आपस में परामर्श कर के रावण से बोले ॥ ४ ॥

निर्जिताः स्मेत्यभाषन्त ज्ञात्वा वरबलं रिपोः ।
दुष्यन्तः सुरथो गाधिर्गयो राजा पुरूरवाः ॥ ५ ॥
एते सर्वेऽब्रुवंस्तात निर्जिताः स्मेति पार्थिवाः ।
अथायोध्यां समासाद्य रावणो राक्षसाधिपः ॥ ६ ॥

हम सब तुमसे अपनी हार मानते हैं। (यह उन्होंने इस लिए कहा था कि) वे जानते थे कि, रावण को वरदान का बल है। अतः राजा दुष्यन्त, सुरथ, गाधि, गय और पुरूरवा आदि सब राजाओं ने कह दिया कि, हम तुमसे पराजित हुए। तदनन्तर रावण अयोध्यापुरी में पहुँचा ॥ ५ ॥ ६ ॥

सुगुप्तामनरण्येन शक्रेणेवामरावतीम् ।
स तं पुरुषशार्दूलं पुरन्दरसमं बले ॥ ७ ॥

प्राह राजानमासाद्य युद्धं देहीति रावणः ।
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूहि त्वमेवं मम शासनम् ॥८॥

उस समय अयोध्यापुरी की रक्षा महाराज अनरण्य जी वैसे ही कर रहे थे, जैसे इन्द्र अपनी अमरावती की रक्षा करते हैं। रावण ने इन्द्र के समान उन बली नृपश्रेष्ठ महाराज अनरण्य के निकट जा कर कहा कि, या तो लड़ो या यह कहो कि, हम हार गए। बस यही हमारी तुम्हारे लिये आज्ञा है॥ ७ ॥ ८ ॥

अयोध्याधिपतिस्तस्य श्रुत्वा पापात्मनो वचः ।
अनरण्यस्तु संक्रुद्धो राक्षसेन्द्रमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

किन्तु अयोध्याधिपति महाराज अनरण्य ने उस पापी के यह वचन सुन और क्रुद्ध हो राक्षसराज रावण से कहा ॥ ९ ॥

दीयते द्वन्द्वयुद्धं ते राक्षसाधिपते मया ।
सन्तिष्ठ क्षिप्रमायत्तो भव चैवं भवाम्यहम् ॥ १० ॥

हे राक्षसराज ! ठहर जा । मैं तुझसे द्वन्द्वयुद्ध करता हूँ। तू भी सावधान हो जा और मैं भी लड़ने के लिए तैयार होता हूँ॥ १० ॥

अथ पूर्वं श्रुतार्थेन निर्जितं सुमहद्बलम् ।
निष्क्रामत्तन्नरेन्द्रस्य बलं रक्षोवधोद्यतम् ॥ ११ ॥

महाराज अनरण्य ने पहिले ही रावण का वृत्तान्त सुन कर, अपनी सेना सजा रक्खी थी, सो उनकी वह सेना राक्षस को वध करने को निकली ॥ ११ ॥

नागानां दशसाहस्रं वाजिनां नियुतं तथा ।
रथानां बहुसाहस्रं पत्तीनां च नरोत्तम ॥ १२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! उस सेना में दस हज़ार हाथी, एक लाख घोड़े तथा सहस्रों घुड़सवार तथा पैदल सैनिक थे; ॥ १२ ॥

महीं संछाद्य निष्क्रान्तं सपदातिरथं रणे ।
ततः प्रवृत्तं सुमहद्युद्धं युद्धविशारद ॥ १३ ॥

जो पृथिवी को ढक कर युद्ध करने के लिए पैदल सैनिकों तथा रथसवार सैनिकों के साथ निकले । हे युद्धविशारद ! दोनों ओर से महाघोर युद्ध होने लगा ॥ १३ ॥

अनरण्यस्य नृपते राक्षसेन्द्रस्य चाद्भुतम् ।
तद्रावणबलं प्राप्य बलं तस्य महीपतेः ॥ १४ ॥

महाराज अनरण्य का और राक्षसेन्द्र रावण का अद्भुत युद्ध होने लगा । उस समय महाराज अनरण्य की सेना, रावण की सेना से भिड़ कर ॥ १४ ॥

प्राणश्यत तदा सर्वं हव्यं हुतमिवानले ।
युद्ध्वा च सुचिरं कालं कृत्वा विक्रममुत्तमम् ॥ १५ ॥

कुछ देर तक उत्तम विक्रम प्रकाश कर वैसे ही नष्ट हो गई जैसे अग्नि में डाली हुई होम की सामग्री भस्म हो जाती है ॥ १५ ॥

प्रज्वलन्तं तमासाद्य क्षिप्रमेवावशेषितम् ।
प्राविशत्संकुलं तत्र शलभा इव पावकम् ॥ १६ ॥

धधकती हुई आग के निकट जा कर जैसे पतंगे भस्म हो जाते हैं; वैसे ही रावण से भिड़ कर, महाराज अनरण्य की सेना लड़ाई में मारी गई ॥ १६ ॥

सोऽपश्यत्तन्नरेन्द्रस्तु नश्यमानं महाबलम् ।
महार्णवं समासाद्य वनापगशतं यथा ॥ १७ ॥

महाराज अनरण्य ने देखा कि, जैसे सैकड़ों नदियाँ समुद्र में गिर कर बिला जाती हैं; वैसे ही उनकी सेना रावण द्वारा बिला दी गई अर्थात् नष्ट कर दी गई ॥ १७ ॥

ततः शक्रधनुःप्रख्यं धनुर्विस्फारयन् स्वयम् ।
आससाद नरेन्द्रस्तं रावणं क्रोधमूर्च्छितः ॥ १८ ॥

यह देख महाराज अनरण्य स्वयं इन्द्रधनुष के तुल्य अपने धनुष को टंकोरते रावण का सामना करने को गए ॥ १८ ॥

अनरण्येन तेऽमात्या मारीचशुकसारणाः ।
प्रहस्तसहिता भग्ना व्यद्रवन्त मृगा इव ॥ १९ ॥

महाराज ने रावण के मारीच, शुक, सारण और प्रहस्त आदि मंत्रियों को मार कर, वैसे ही भगा दिया; जैसे (डर कर) हिरन भागते हैं ॥ १९ ॥

ततो बाणशतान्यष्टौ पातयामास मूर्धनि ।
तस्य राक्षसराजस्य इक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥ २० ॥

तदनन्तर इक्ष्वाकुकुलनन्दन महाराज अनरण्य ने राक्षस-राज रावण के सिर में आठ सौ बाण मारे ॥ २० ॥

तस्य बाणाः पतन्तस्ते चक्रिरे न *क्षतिं क्वचित् ।
वारिधारा इवाभ्रेभ्यः पतन्त्यो गिरिमूर्धनि ॥ २१ ॥

जल की धारा जैसे बादल से निकल कर पर्वत के शिखर पर गिरती है और पहाड़ की कुछ भी हानि नहीं कर सकती; वैसे ही वे बाण रावण के मस्तक पर गिरे। किन्तु उनसे रावण के शरीर में कहीं खरोच भी न हुई ॥ २१ ॥

ततो राक्षसराजेन क्रुद्धेन नृपतिस्तदा ।
तलेनाभिहतो मूर्ध्नि स रथान्निपपात ह ॥ २२ ॥
स राजा पतितो भूमौ विह्वलः प्रविवेपितः
वज्रदग्ध इवारण्ये सालो निपतितो यथा ॥ २३ ॥

इतने में क्रोध में भर रावण ने महाराज के सिर पर एक थप्पड़ जमाया। उसकी चोट से महाराज अनरण्य विह्वल हो थरथराते हुए रथ से धरती पर ऐसे गिरे; जैसे वन में बिजली का मारा साखू का पेड़ गिरता है ॥ २२ ॥ २३ ॥

तं प्रहस्याब्रवीद्रक्ष इक्ष्वाकुं पृथिवीपतिम् ।
किमिदानीं फलं प्राप्तं त्वया मां प्रति युद्ध्यता ॥२४॥

तब रावण ने इक्ष्वाकुकुलनन्दन अनरण्य से हँस कर कहा—तूने मुझसे लड़ कर क्या फल पाया ? ॥ २४ ॥

त्रैलोक्ये नास्ति यो द्वन्द्वं मम दद्यान्नराधिप ।
शङ्के प्रसक्तो भोगेषु न शृणोषि बलं मम ॥ २५ ॥

हे राजन् ! त्रिलोकी में ऐसा कोई भी नहीं है, जो मुझसे द्वन्द्व युद्ध कर सके। मुझे जान पड़ता है कि, तू आमोद प्रमोद

* पाठान्तरे—"क्षतं"। † पाठान्तरे—"विह्वाङ्गः प्रवेपितः"।

में लवलीन था, इसीसे तूने मेरे बल का वृत्तान्त नहीं सुन पाया ॥ २५ ॥

तस्यैवं ब्रुवतो राजा मन्दासुर्वाक्यमब्रवीत् ।
किं शक्यमिह कर्तुं वै कालो हि दुरतिक्रमः ॥ २६ ॥

रावण द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर हीनबल महाराज अनरण्य ने रावण से कहा कि, (मुझे जीतने की) तुम्हारी तो क्या सामर्थ्य है ! हाँ काल की बलिहारी है जिसके प्रभाव से कोई बच नहीं सकता ॥ २६ ॥

न ह्यहं निर्जितो रक्षस्त्वया चात्मप्रशंसिना ।
कालेनैव विपन्नोऽहं हेतुभूतस्तु मे भवान् ॥ २७ ॥

हे राक्षस ! अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने वाले तूने मुझे नहीं जीता, किन्तु काल ने ही मुझे इस प्रकार विपद्ग्रस्त किया है । हाँ आप इसमें निमित्त मात्र अवश्य हैं ॥ २७ ॥

किं त्विदानीं मया शक्यं कर्तुं प्राणपरिक्षये ।
न ह्यहं विमुखो रक्षो युध्यमानस्त्वया हतः ॥ २८ ॥

इस समय तो मैं मर ही रहा हूँ, सो अब मैं कर ही क्या सकता हूँ । (किन्तु स्मरण रख) मैं युद्ध से विमुख नहीं हुआ, प्रत्युत युद्ध करता हुआ मैं तेरे हाथ से मारा गया हूँ ॥ २८ ॥

इक्ष्वाकुपरिभावित्वाद्वचो वक्ष्यामि राक्षस ।
यदि दत्तं यदि हुतं यदि मे सुकृतं तपः ।
यदि गुप्ताः प्रजाः सम्यक् तदा सत्यं वचोऽस्तु मे ॥२९॥

हे राक्षस ! तूने जो इक्ष्वाकुकुल का अपमान किया है, सो इसके बदले में कहता हूँ कि, यदि मैंने दान दिया हो, होम किया हो, तपस्या की हो और न्यायपूर्वक प्रजापालन किया हो, तो मेरा यह वचन सत्य हो ॥ २६ ॥

उत्पत्स्यते कुले ह्यस्मिन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
रामो दाशरथिर्नाम यस्ते प्राणान् हरिष्यति ॥ ३० ॥

महाराज इक्ष्वाक के कुल में दाशरथी राम उत्पन्न होंगे जो तेरा वध करेंगे ॥ ३० ॥

ततो जलधरोदग्रस्ताडितो देवदुन्दुभिः ।
तस्मिन्नुदाहृते शापे पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ॥ ३१ ॥

महाराज अनरण्य के मुख से यह वचन निकलते ही मेघों की गर्जना के समान नगाड़ों के बजने का शब्द सुनाई पड़ा और आकाश से फूल बरसे ॥ ३१ ॥

ततः स राजा राजेन्द्र गतः स्थानं त्रिविष्टपम् ।
स्वर्गते च नृपे तस्मिन् राक्षसः सोपसर्पत ॥ ३२ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर महाराज अनरण्य स्वर्ग सिधारे और उनके स्वर्गवासी होने पर रावण भी वहाँ से चल दिया ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:-:—

विंशः सर्गः

—:-०-:—

ततो वित्रासयन् मर्त्यान् पृथिव्यां राक्षसाधिपः ।
आससाद घने[1] तस्मिन्नारदं मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

राक्षसराज रावण पृथिवी पर मनुष्यों को त्रास देता हुआ घूम रहा था कि, उसने मेघ की पीठ पर सवार मुनिश्रेष्ठ नारद जी को देखा ॥ १ ॥

तस्याभिवादनं कृत्वा दशग्रीवो निशाचरः ।
अब्रवीत्कुशलं पृष्ट्वा हेतुमागमनस्य च ॥ २ ॥

रावण ने उनको प्रणाम कर उनसे कुशल पूँछा तथा आगमन का कारण भी ॥ २ ॥

नारदस्तु महातेजा देवर्षिरमितप्रभः ।
अब्रवीन्मेघपृष्ठस्थो रावणं पुष्पके स्थितम् ॥ ३ ॥

अमित प्रभावान् महातेजस्वी देवर्षि नारद ने मेघ की पीठ पर बैठे ही बैठे पुष्पक विमान पर सवार रावण से कहा ॥३॥

राक्षसाधिपते सौम्य तिष्ठ विश्रवसः सुत ।
प्रीतोस्म्यभिजनोपेत विक्रमैरूर्जितैस्तव ॥ ४ ॥

हे विश्रवानन्दन सौम्य राक्षसराज! खड़े रहो। मैं तुम्हारे मन्त्रियों और तुम्हारे विक्रम पर बड़ा प्रसन्न हूँ ॥ ४ ॥

---

१ घने—घनपृष्ठे स्थितं। (गो०)

विष्णुना दैत्यघातैश्च गन्धर्वोरगधर्षणैः ।

त्वया समं विमर्दैश्च भृशं हि परितोषितः ॥ ५ ॥

जैसे विष्णु के दैत्यों को पराजित करने पर मैं संतुष्ट हुआ, वैसे ही गन्धर्व नागादिकों को पराजित करने के कारण, मैं तुझसे भी संतुष्ट हुआ हूँ ॥ ५ ॥

किंचिद्वक्ष्यामि *तावत्ते श्रोतव्यं श्रोष्यसे यदि ।

तन् मे निगदतस्तात सामर्धिं श्रवणे कुरु ॥ ६ ॥

अब मैं कुछ बातें तुझसे कहना चाहता हूँ जो सुनने योग्य हैं। यदि सुनना चाहे तो मैं कहूँ। किन्तु सुनने के लिए तुझे एकाग्रचित्त करना चाहिए ॥ ६ ॥

किमयं वध्यते तात त्वयाऽवध्येन दैवतैः ।

हत एव ह्ययं लोको यदा मृत्युवशं गतः ॥ ७ ॥

हे तात ! तू तो देवताओं से भी अवध्य है, अतः इन बेचारे मनुष्यों को क्या मारता है। ये तो स्वयं ही मृत्यु के वश में पड़े हुए हैं ॥ ७ ॥

देवदानवदैत्यानां यक्षगन्धर्वरक्षसाम् ।

अवध्येन त्वया लोकः क्लेष्टुं योग्यो न मानुषः ॥ ८ ॥

अतः देवता, दानव, दैत्य, यक्ष, गन्धर्व और राक्षसों से भी अवध्य हो कर, तुझको इन बेचारे मनुष्यों को सताना उचित नहीं ॥ ८ ॥

नित्यं श्रेयसि संमूढं महद्भिर्व्यसनैर्वृतम् ।

हन्यात् कस्तादृशं लोकं जराव्याधिशतैर्युतम् ॥ ९ ॥

* पाठान्तरे-- ' तावत्तु ' ।

ये मनुष्य तो सदा ही अनेक विपत्तियों में फँसे रहते हैं, विशेष कर अपनी भलाई करने से अत्यन्त मूढ़ हैं और जरा तथा सैकड़ों व्याधियों से घिरे रहते हैं। अतः ऐसे लोगों को मारने से क्या लाभ ॥ ९ ॥

तैस्तैरनिष्टोपगमैरजस्रं यत्र कुत्र कः ।
मतिमान् मानुषे लोके युद्धेन प्रणयी भवेत् ॥ १० ॥

मनुष्य जहाँ तहाँ अनेक अनिष्टों से सदा पीड़ित रहा करते हैं। अतः ऐसा कौन समझदार मनुष्य होगा, जो इन पर शस्त्र उठावे ॥ १० ॥

क्षीयमाणं दैवहतं क्षुत्पिपासाजरादिभिः ।
विषादशोकसंमूढं लोकं त्वं क्षपयस्व मा ॥ ११ ॥

हे राक्षसराज ! भूख, प्यास, बुढ़ापे आदि से दैव द्वारा निहत मनुष्य सदा क्षीण होते हैं तथा शोक एवं विषाद से वे सदा कातर रहा करते हैं। अतः तू उन्हें वृथा नष्ट मत कर ॥ ११ ॥

पश्य तावन् महाबाहो राक्षसेश्वर मानुषम् ।
मूढमेवं विचित्रार्थं यस्य न ज्ञायते गतिः ॥ १२ ॥

हे महाबलवान राक्षसराज ! देखो मनुष्य जाति इतनी मूढ़ है कि वह अपने सुख दुःख भोग करने के समय को भी नहीं जानती और विविध भाँति के साधारण पुरुषार्थों में अनुरक्त रहा करती है ॥ १२ ॥

क्वचिद्वादित्रनृत्यादि सेव्यते मुदितैर्जनैः ।
रुद्यते चापरैरार्तैर्धाराश्रुनयनाननैः ॥ १३ ॥

देखो न; कहीं तो प्रसन्न हो कर बहुत से लोग नाचते गाते हैं और कहीं अन्य लोग दुःखी हो आँसू बहाते हुए रोते हैं ॥ १३ ॥

मातापितृसुतस्नेहभार्याबन्धुमनोरमैः ।
मोहितोऽयं जनो ध्वस्तः क्लेशं स्वं नावबुध्यते ॥१४॥

माता, पिता, पुत्र, स्त्री और भाईबंदों के स्नेह में जकड़े हुए ये लोग मोहित हो कर नष्ट हो रहे हैं। इसीसे उन्हें अपना क्लेश तक मालूम नहीं पड़ता ॥ १४ ॥

तत्किमेवं परिक्लिश्य लोकं मोहनिराकृतम् ।
जित एव त्वया सौम्य मर्त्यलोको न संशयः ॥ १५ ॥

अतः मोह में फँस स्वयं नष्ट होने वाले मर्त्यलोक को दुःखी कर तू क्या करेगा ? तू निस्संशय इस लोक को जीत तो चुका ही है (अतः मनुष्यों को सता कर क्या करेगा) ॥ १५ ॥

अवश्यमेभिः सर्वैश्च गन्तव्यं यमसादनम् ।
तन्निगृह्णीष्व पौलस्त्य यमं परपुरञ्जय ॥ १६ ॥

मर्त्यलोक के समस्त जीव यमपुरी में अवश्य जायँगे। अतएव हे परपुर को जीतने वाले पुलस्त्य के पौत्र ! तू यमराज की पुरी पर चढ़ाई कर ॥ १६ ॥

तस्मिञ्जिते जितं सर्वं भवत्येव न संशयः ।
एवमुक्तस्तु लङ्केशो दीप्यमानः स्वतेजसा ॥ १७ ॥

क्योंकि उसके जीत लेने पर निस्सन्देह तू अपने को सब को जीता हुआ समझ। अपने तेज से दीप्तिमान लङ्कापति रावण इस प्रकार नारद जी द्वारा समझाये जाने पर ॥ १७ ॥

अब्रवीन्नारदं तत्र संप्रहस्याभिवाद्य च ।
महर्षे देवगन्धर्वविहार समरप्रिय ॥ १८ ॥

नारद जी को प्रणाम कर और मुसक्याता हुआ कहने लगा। हे देवर्षे ! हे देव-गन्धर्व-लोक-विहार-प्रिये ! हे समर-दर्शन-प्रिये ! ॥ १८ ॥

अहं समुद्यतो गन्तुं विजयार्थं रसातलम् ।
ततो लोकत्रयं जित्वा स्थाप्य नागान् सुरान् वशे ।
समुद्रममृतार्थं च मथिष्यामि रसालयम् ॥ १९ ॥

इस समय मैं विजयार्थ रसातल जाने को तैयार हूँ। फिर तीनों लोकों को जीत कर नागों और देवताओं को अपने वशवर्ती करूँगा। तदनन्तर अमृत की प्राप्ति के लिए मैं समुद्र को मथूँगा ॥ १९ ॥

अथाब्रवीद्दशग्रीवं नारदो भगवानृषिः ।
क्व खल्विदानीं मार्गेण त्वयेहान्येन गम्यते ॥ २० ॥

इस पर भगवान् नारद ऋषि ने दशग्रीव से कहा—यदि तुझे रसातल ही में जाना है, तो दूसरे रास्ते से क्यों जाता है ? ॥ २० ॥

अयं खलु सुदुर्गम्यः प्रेतराजपुरं प्रति ।
मार्गो गच्छति दुर्धर्ष यमस्यामित्रकर्शन ॥ २१ ॥

हे दुर्धर्ष ! हे शत्रुनाशी ! यह अत्यन्त दुर्गम यमपुरी का मार्ग प्रेतराज नगर के सामने जा निकला है ॥ २१ ॥

स तु शारदमेघाभं हासं मुक्त्वा दशाननः ।
उवाच कृतमित्येव वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

यह सुन कर रावण, शरद ऋतु के बादल की तरह बड़े ज़ोर से हँस कर महाद्युतिमान् नारद जी से बोला। उसने कहा-बहुत अच्छा हम ऐसा ही करेंगे ॥ २२ ॥

तस्मादेवं महाब्रह्म वैवस्वतवधोद्यतः ।
गच्छामि दक्षिणामाशां यत्र सूर्यात्मजो नृपः ॥ २३ ॥

हे महाब्रह्मन् ! तो मैं अब यम ही का वध करने के लिए दक्षिण दिशा के मार्ग से वहाँ जाता हूँ, जहाँ सूर्यपुत्र यमराज रहते हैं ॥ २३ ॥

मया हि भगवन् क्रोधात् प्रतिज्ञातं रणार्थिना ।
अवजेष्यामि चतुरो लोकपालानिति प्रभो ॥ २४ ॥

हे प्रभो ! मैंने संग्राम करने की इच्छा से क्रोध में भर पहिले प्रतिज्ञा भी की थी कि, मैं चारों लोकपालों को जीतूँगा ॥ २४ ॥

तदिह प्रस्थितोऽहं वै पितृराजपुरं प्रति ।
प्राणिसंक्लेशकर्तारं योजयिष्यामि मृत्युना ॥ २५ ॥

अतः मैं अब यमराज की पुरी को जाता हूँ और समस्त प्राणियों को सताने वाले उस यमराज को मैं मारूँगा ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मुनिं तमभिवाद्य च ।
प्रययौ दक्षिणामाशां प्रविष्टः सह मन्त्रिभिः ॥ २६ ॥

यह कह और नारद मुनि को प्रणाम कर रावण अपने मंत्रियों सहित दक्षिण दिशा की ओर चल दिआ ॥ २६ ॥

नारदस्तु महातेजा मुहूर्तं ध्यानमास्थितः ।
चिन्तयामास विप्रेन्द्रो विधूम इव पावकः ॥ २७ ॥

विधूम (धुआँ रहित) अग्नि के समान महातेजस्वी विप्रेंद्र रद जी, मुहूर्त भर तक ध्यानमग्न रह, सोचने लगे ॥ २७ ॥

येन लोकास्त्रयः सेन्द्राः क्लिश्यन्ते सचराचराः ।
क्षीणे चायुषि धर्मेण स कालो जेष्यते कथम् ॥ २८ ॥

कि जो आयुष्य के क्षीण होने पर इन्द्र सहित तीनों लोकों धर्मतः (अर्थात् न्यायतः) क्लेश देता है, वह काल, क्यों र जीता जा सकेगा ॥ २८ ॥

स्वदत्तकृतसाक्षी यो द्वितीय इव पावकः ।
लब्धसंज्ञा विचेष्टन्ते लोका यस्य महात्मनः ॥ २९ ॥

जो यमराज स्वयं जगतसाक्षी हैं और दूसरे अग्नि के समान तेजस्वी हैं, जिनके प्रताप से समस्त लोक सचेत हो सांसारिक कार्य किआ करते हैं ॥ २९ ॥

यस्य नित्यं त्रयो लोका विद्रवन्ति भयार्दिताः ।
तं कथं राक्षसेन्द्रोऽसौ स्वयमेव गमिष्यति ॥ ३० ॥

और जिनके भय से व्याकुल हो त्रिलोकी भागती हैं, उन यमराज के निकट यह राक्षसश्रेष्ठ रावण अपनी इच्छानुसार क्यों कर जा सकेगा ? ॥ ३० ॥

यो विधाता च धाता च सुकृत दुष्कृत तथा ।
त्रैलोक्य विजित येन त कथ विजयिष्यते ।
अपरं किं तु कृत्वेव विधान संविधास्यति ॥ ३१ ॥

जो संसार के धाता विधाता हैं, जो पुण्य और पाप के फल देनेवाले हैं, जो शासनकर्त्ता हैं तथा जिन्होंने तीनो लोक जीत

रहते हैं, उन यमराज को यह कैसे जीत लेगा ? फिर उनसे लड़ कर यह और कौन सा काम करेगा ॥ ३१ ॥

कौतूहलं समुत्पन्नो यास्यामि यमसादनम् ।
विमर्दं द्रष्टुमनयोर्यमराक्षसयोः स्वयम् ॥ ३२ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

इसका तो मुझको बड़ा कुतूहल है। अतः मैं स्वयं यमराज और रावण का युद्ध देखने के लिए यमराज की पुरी को जाऊँगा ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:ॐ:—

एकविंशः सर्गः

—ॐ—

एवं संचिन्त्य विप्रेन्द्रो जगाम लघुविक्रमः ।
आख्यातुं तद्यथावृत्तं यमस्य सदनं प्रति ॥ १ ॥

कुर्वान्ति एवं विप्रेन्द्र नारद जी इस प्रकार सोच विचार कर, यमराज को समस्त वृत्तान्त सुनाने के लिए जल्दी जल्दी यमपुरी की ओर चले ॥ १ ॥

अपश्यत् स यमं तत्र देवमग्निपुरस्कृतम् ।
विधानमनुतिष्ठन्तं प्राणिनो यस्य यादृशम् ॥ २ ॥

यमपुरी में जाकर उन्होंने देखा कि, यमराज अग्नि को साक्षी कर, जीवों का यथोचित न्याय कर रहे हैं अर्थात् जिसका जैसा अच्छा बुरा कर्म है, तदनुसार उसको पुरस्कार एवं दण्ड दे रहे हैं ॥ २ ॥

स तु दृष्ट्वा यमः प्राप्तं महर्षिं तत्र नारदम् ।
अब्रवीत् सुखमासीनमर्घ्यमावेद्य धर्मतः ॥ ३ ॥

देवर्षि नारद को आते देख यमराम यथाविधि अर्घ्यप्रदान कर और आसन पर बिठा कर उनसे कहने लगे ॥ ३ ॥

कच्चित्क्षेमं नु देवर्षे कच्चिद्धर्मो न नश्यति ।
किमागमनकृत्यं ते देवगन्धर्वसेवित ॥ ४ ॥

हे महर्षे ! कहिए कुशल तो है ? धर्मकार्यों में किसी प्रकार की बाधा तो नहीं पड़ती । हे देवगन्धर्वपूजित ! तुम्हारे पधारने का कारण क्या है ? ॥ ४ ॥

अब्रवीत्तु तदा वाक्यं नारदो भगवानृषिः ।
श्रूयतामभिधास्यामि विधानं च विधीयताम् ॥ ५ ॥

यमराज के इन वचनों को सुन नारद जी बोले कि, मैं अपने आने का कारण बतलाता हूँ तुम उसे सुनो और फिर जो करना हो सो करो ॥ ५ ॥

एष नाम्ना दशग्रीवः पितृराज निशाचरः ।
उपयाति वशं नेतुं विक्रमैस्त्वां सुदुर्जयम् ॥ ६ ॥

हे पितृराज ! दुर्जय दशग्रीव तुमको बलप्रयोग द्वारा अपने वश में करने के लिए आ रहा है ॥ ६ ॥

एतेन कारणेनाहं त्वरितो ह्यागतः प्रभो ।
दण्डप्रहरणस्याद्य तव किं नु भविष्यति ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! मैं इसी लिए अति शीघ्र तुम्हारे पास आया हूँ कि, देखूँ, कालदण्ड चलानेवाले की जीत होती है कि हार ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे दूरादंशुमन्तमिवोदितम् ।
ददृशुर्दीप्तमायान्तं विमानं तस्य रक्षसः ॥ ८ ॥

(नारद जी यह कह ही रहे थे कि) इसी बीच में सूर्य के समान चमचमाता दशग्रीव का पुष्पकविमान आता हुआ देख पड़ा ॥ ८ ॥

तं देशं प्रभया तस्य पुष्पकस्य महाबलः ।
कृत्वा वितिमिरं सर्वं समीपमभ्यवर्तत ॥ ९ ॥

बलवान रावण अपने विमान के प्रकाश* से वहाँ का अन्धकार दूर करता हुआ अति समीप आ पहुँचा ॥ ९ ॥

सोऽपश्यत्स महाबाहुर्दशग्रीवस्ततस्ततः ।
प्राणिनः सुकृतं चैव भुञ्जानांश्चैव दुष्कृतम् ॥ १० ॥

महाबली रावण ने देखा कि, वहाँ समस्त प्राणी अपने अपने पुण्यों और पापों का भला बुरा फल भोग रहे हैं ॥ १० ॥

अपश्यत्सैनिकांश्चास्य यमस्यानुचरैः सह ।
यमस्य पुरुषैरुग्रैर्घोररूपैर्भयानकैः ॥ ११ ॥

तथा उसने यमराज के सैनिकों और अनुचरों को भी देखा । यमराज के उग्र महाभयङ्कर रूपवाले अनुचरों को ॥ ११ ॥

ददर्श वध्यमानांश्च क्लिश्यमानांश्च देहिनः ।
क्रोशतश्च महानादं तीव्रनिष्टनतत्परान् ॥ १२ ॥

---

* इससे जान पड़ता है, पुष्पकविमान में आज कल के सर्चलाइट [illegible]

उसने प्राणियों को बाँधते और मार पीट करते हुए देखा। इससे प्राणी महापीड़ित हो बड़े जोर से रोदन कर चीत्कार कर रहे थे ॥ १२ ॥

क्रिमिभिर्भक्ष्यमाणांश्च सारमेयैश्च दारुणैः
श्रोत्रायासकरा वाचो वदतश्च भयावहाः ॥ १३ ॥

उन्हें विविध प्रकार के छोटे छोटे कीड़े और बड़े निष्ठुर कुत्ते काट रहे थे। वे ऐसी बुरी तरह चिल्ला रहे थे कि सुनने वाले का मन विकल हो जाता था ॥ १३ ॥

सन्तार्यमाणान् वैतरणीं बहुशः शोणितोदकाम् ।
वालुकासु च तप्तासु तप्यमानान् मुहुर्मुहुः ॥ १४ ॥

रावण ने बहुत से प्राणियों को देखा कि, वे जल की जगह रक्त से भरी अति गहरी वैतरणी नदी को पार कर रहे थे और तपे हुए बालू पर बार बार घसीटे जाते थे ॥ १४ ॥

असिपत्रवने चैव भिद्यमानानधार्मिकान् ।
रौरवे क्षारनद्यां च क्षुरधारासु चैव हि ॥ १५ ॥

अनेक पापी असिपत्र वन (तलवार की धार जैसे पैने पत्तों से युक्त वृक्षों वाले वन) में कटवाए जा रहे थे। वे रौरव नरक में क्षारनदी में पटके जाते और छुरों की धार से काटे जाते थे ॥ १५ ॥

पानीयं याचमानांश्च तृषितान् क्षुधितानपि ।
शवभूतान् कृशान् दीनान् विवर्णान् मुक्तमूर्धजान् ॥ १६ ॥

मलपङ्कधरान् दीनान् रूक्षांश्च परिधावतः ।
ददर्श रावणो मार्गे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥

वे प्यासे और भूखे हो कर पानी माँग रहे थे। मुर्दे की तरह दुबले, दुखी, सिर के बाल खोले, मैल और कीचड़ से सने हुए, रूखे और दौड़ते हुए उन लोगों की रंगत ही बदली हुई थी। वहाँ पर रावण ने इस प्रकार के सैकड़ों सहस्र दुःखी जीव देखे ॥ १६ ॥ १७ ॥

कांश्चिच्च गृहमुख्येषु गीतवादित्रनिःस्वनैः ।
प्रमोदमानानद्राक्षीद्रावणः सुकृतैः स्वकैः ॥ १८ ॥

रावण ने वहाँ ऐसे पुण्यात्माओं को भी देखा, जो अपने पुण्य बल से सुन्दर सुन्दर घरों में रहते थे और गानवाद्य से आनन्दित हो रहे थे ॥ १८ ॥

गोरसं गोप्रदातारो अन्नं चैवान्नदायिनः ।
गृहांश्च गृहदातारः स्वकर्मफलमश्नतः ॥ १९ ॥

जिन्होंने गोदान, अन्नदान. गृहदान किए थे, वे लोग, अपने अपने दान के अनुसार गोरस. अन्न और गृह का आनन्द भोग रहे थे ॥ १९ ॥

सुवर्णमणिमुक्ताभिः प्रमदाभिरलंकृतान् ।
धार्मिकानपरांस्तत्र दीप्यमानान् स्वतेजसा ॥ २० ॥

बहुत से धर्मात्मा लोग सोना, मणि, मुक्ता और स्त्रियों को पा कर विहार कर रहे थे और अपने तेज से प्रकाशमान थे ॥ २० ॥

ददर्श स महाबाहू रावणो राक्षसाधिपः ।
ततस्तान् भिद्यमानांश्च कर्मभिर्दुष्कृतैः स्वकैः ॥ २१ ॥

वहाँ उस महाबली राक्षसराज रावण ने इस प्रकार के दृश्य देखे। तदनन्तर अपने पापकर्मों के फल से काटे पीटे जाते हुए प्राणियो को ॥ २१ ॥

रावणो मोचयामास विक्रमेण बलाद्बली ।
प्राणिनो मोक्षितास्तेन दशग्रीवेण रक्षसा ॥ २२ ॥

बलवान रावण ने जबर्दस्ती छुड़ा दिया। राक्षसराज दशग्रीव द्वारा छुड़ाये हुए उन प्राणियों ने ॥ २२ ॥

सुखमापुर्मुहूर्तं ते ह्यतर्कितमचिन्तितम् ।
प्रेतेषु मुच्यमानेषु राक्षसेन महीयसा ॥ २३ ॥

थोड़ी देर तक अतर्कित और अचिन्त्य सुख भोगा। महाबली रावण द्वारा जीवों को छूटा हुआ देखा ॥ २३ ॥

प्रेतगोपाः सुसंक्रुद्धा राक्षसेन्द्रमभिद्रवन् ।
ततो हलहलाशब्दः सर्वदिग्भ्यः समुत्थितः ।
धर्मराजस्य योधानां शूराणां सम्प्रधावताम् ॥ २४ ॥

यमकिङ्करों ने क्रोध में भर, रावण पर आक्रमण किआ। धर्मराज के किङ्कर बड़े शूरवीर थे। जब वे रावण के ऊपर दौड़े, तब चारों ओर हलहलाशब्द व्याप्त हो गया ॥ २४ ॥

ते प्रासैः परिघैः शूलैर्मुसलैः शक्तितोमरैः ।
पुष्पकं समवर्षन्त शूराः शतसहस्रशः ॥ २५ ॥

सैकड़ों सहस्र शूरवीर प्रासों, परिघों, शूलों मूसलों, शक्तियों और तोमरों की पुष्पक विमान पर वर्षा करने लगे ॥ २५ ॥

तस्यासनानि प्रासादान् वेदिकास्तोरणानि च ।
पुष्पकस्य बभंजुस्ते शीघ्रां मधुकरा इव ॥ २६ ॥

वे मधुमक्खियों की तरह चारों ओर से पुष्पक विमान पर टूट पड़े और विमान की बैठकों अटारियों, चबूतरों और द्वारों को तोड़ने फोड़ने लगे ॥ २६ ॥

देवनिष्ठानभूतं तद्विमानं पुष्पकं मृधे ।
भज्यमानं तथैवासीदक्षयं ब्रह्मतेजसा ॥ २७ ॥

वह विमान साधारण न था। उसमें एक प्रकार से देवांश था। अतएव वह इतनी भारी चोट खा कर भी, ब्रह्मा जी के तेजोबल से पूर्ववत् ज्यों का त्यों हो गया ॥ २७ ॥

असंख्या सुमहत्यासीत्तस्य सेना महात्मनः ।
शूराणामुग्रयातॄणां सहस्राणि शतानि च ॥ २८ ॥

महात्मा धर्मराज की सेना में मुखिया सैनिक ही एक लाख थे—अतः उनकी समस्त सेना की संख्या नहीं हो सकती थी ॥ २८ ॥

ततो वृक्षैश्च शैलैश्च प्रासादानां शतैस्तथा ।
ततस्ते सचिवास्तस्य यथाकामं यथाबलम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर यमराज के समस्त मन्त्री सैकड़ों पहाड़ों, वृक्षों और भालों से अपने अपने बलानुरूप और अभिलाषानुरूप युद्ध करने लगे ॥ २९ ॥

अयुध्यन्त महावीराः स च राजा दशाननः ।
ते तु शोणितदिग्धाङ्गाः सर्वशस्त्रसमाहताः ॥ ३० ॥

उधर रावण भी स्वयं लड़ रहा था। लड़ते लड़ते रावण के मन्त्रियों के अनेक शस्त्र लगे और वे रुधिर से नहा उठे तिस पर भी वे लड़ते ही रहे ॥ ३० ॥

अमात्या राक्षसेन्द्रस्य चक्रुरायोधनं महत् ।
अन्योन्यं ते महाभागा जघ्नुः प्रहरणैर्भृशम् ॥ ३१ ॥

राक्षसराज रावण और उसके मन्त्री सब प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों का प्रयोग कर एक दूसरे के ऊपर प्रहार करने लगे ॥३१॥

यमस्य च महाबाहो रावणस्य च मन्त्रिणः ।
अमात्यांस्तांस्तु सन्त्यज्य यमयोधा महाबलाः ॥ ३२ ॥

किन्तु कुछ देर बाद यम के महाबली सैनिक रावण के मन्त्रियों के साथ युद्ध करना छोड़ ॥ ३२ ॥

तमेव चाभ्यधावन्त शूलवर्षैर्दशाननम् ।
ततः शोणितदिग्धाङ्गः प्रहारैर्जर्जरीकृतः ।
फुल्लाशोक इवाभाति पुष्पके राक्षसाधिपः ॥ ३३ ॥

रावण पर टूट पड़े और उसके ऊपर शूलों की वर्षा करने लगे। यमकिङ्करों के उस शस्त्रप्रहार से रावण का शरीर चलनी हो गया और वह रक्त से नहा उठा। उस समय पुष्पक विमान में बैठा हुआ एक पुष्पित अशोकवृक्ष की तरह जान पड़ता था ॥ ३३ ॥

स तु शूलगदाप्रासाञ्छक्तितोमरसायकान् ।
मुमोच च शिलावृक्षान् मुमोचास्त्रं बलाद्बली ॥ ३४ ॥

रावण भी शूल, गदा, प्रास, शक्ति, तोमर और बाणों को चला रहा था। वह अस्त्रों के बल यमकिङ्करों पर शिलाओं और वृक्षों की वृष्टि कर रहा था ॥ ३४ ॥

तरूणां च शिलानां च शस्त्राणां चातिदारुणम् ।
यमसैन्येषु तद्वर्षं पपात धरणीतले ॥ ३५ ॥

यमराज की सेना के ऊपर वृक्षों और पत्थरों की अति दारुण वर्षा होने लगी; जिससे सैनिक धराशायी होने लगे। अथवा वृक्ष और शिलाएँ यमराज के सैनिकों के ऊपर गिर कर ज़मीन पर गिर पड़ती थीं ॥ ३५ ॥

तांस्तु सर्वान् विनिर्भिद्य तदस्त्रमपहत्य च ।
जघ्नुस्ते राक्षसं घोरमेकं शतसहस्रशः ॥ ३६ ॥

किन्तु तिस पर भी उन वृक्षादिकों को काट और अस्त्र-शस्त्रों को रोक कर, यमराज के सैकड़ों हज़ारों योद्धा एक साथ रावण के ऊपर अस्त्रप्रहार करने लगे ॥ ३६ ॥

परिवार्य च तं सर्वे शैलं मेघोत्करा इव ।
भिन्दिपालैश्च शूलैश्च निरुच्छ्वासमपोथयन् ॥ ३७॥

जिस प्रकार मेघ पर्वतों को घेर लेते हैं, उसी प्रकार वे सब रावण को घेर और उनकी दम सी घोंट कर, उसके ऊपर सहस्रों भिन्दिपालों और शूलों की वर्षा करने लगे ॥ ३७ ॥

विमुक्तकवचः क्रुद्धः *सिद्धः शोणितविस्रवैः ।
ततः स पुष्पकं त्यक्त्वा पृथिव्यामवतिष्ठत ॥ ३८ ॥

---

* पाठान्तरे—"सिक्तः"।

उन प्रहारों से रावण का कवच टूट फूट गया और उसके समस्त अंगो से रुधिर वहने लगा। तब वह कुपित हो और पुष्पक विमान को छोड़ पृथिवी पर खड़ा हो गया ॥ ३८ ॥

ततः स कार्मुकी बाणी समरे चाभिवर्धत।
लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन क्रुद्धस्तस्थौ यथाऽन्तकः ॥ ३६ ॥

कुछ ही देर में रावण सम्हल गया। फिर कुपित हो वह हाथ में धनुष बाण ले दूसरे यमराज की तरह लड़ने के लिए तैयार हुआ ॥ ३६ ॥

ततः पाशुपतं दिव्यमस्त्रं सन्धायकार्मुके।
तिष्ठ तिष्ठेति तानुक्त्वा तच्चापं *व्यपकर्षत ॥ ४० ॥
आकर्णात् स विकृष्याथ चापमिन्द्रारिराहवे।
मुमोच तं शरं क्रुद्धस्त्रिपुरे शङ्करो यथा ॥ ४१ ॥

खड़े रहो! खड़े रहो!! कह कर उसने बाण को पाशुपतास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित किया। तदनन्तर धनुष के रोदे को कान तक खींच कर उसने वह बाण छोड़ा। जैसे श्रीमहादेव जी ने त्रिपुरासुर पर बाण छोड़ा था, वैसे ही रावण ने भी यमराज के सैनिकों पर वह बाण छोड़ा ॥ ४० ॥ ४१ ॥

तस्य रूपं शरस्यासीत् सधूमज्वालमण्डलम्।
वनं दहिष्यतो घर्मे दावाग्नेरिव मूर्च्छतः ॥ ४२ ॥

धुआँ और ज्वालामण्डल से युक्त उस अस्त्र का रूप ग्रीष्मकाल में वनदहनकारी धधकते हुए दावाग्नि की तरह दिखाई देने लगा ॥ ४२ ॥

* पाठान्तरे—"विचकर्ष सः"।

ज्वालामाली स तु शरः क्रव्यादानुगतो रणे ।
मुक्तो गुल्मान् द्रुमांश्चापि भस्म कृत्वा प्रधावति ॥ ४३ ॥

ज्वाला की मालाओं से युक्त वह अस्त्र मार्ग के झाड़ों और वृक्षों को भस्म करता तथा मांसभक्षी पक्षियों को पिछियाते हुआ यम की सेना की ओर दौड़ा ॥ ४३ ॥

ते तस्य तेजसा दग्धाः सैन्या वैवस्वतस्य तु ।
*वले तस्मिन्निपतिता †माहेन्द्रा इव केतवः ॥ ४४ ॥

उस अस्त्र के तेज से यमराज के समस्त वीर सैनिक भस्म हो कर, इन्द्र की ध्वजा की तरह गिर पड़े ॥ ४४ ॥

ततस्तु सचिवैः सार्धं राक्षसो भीमविक्रमः ।
ननाद सुमहानादं कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ४५ ॥

इति एकविंशः सर्गः

यह देख भयङ्कर विक्रमकारी राक्षस रावण अपने मंत्रियों के साथ पृथ्वी को कंपायमान करता हुआ सा बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ ४५ ॥

उत्तरकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

द्वाविंशः सर्गः

—:o:—

स तस्य तु महानादं श्रुत्वा वैवस्वतः प्रभुः ।
शत्रुं विजयिनं मेने स्वबलस्य च संक्षयम् ॥ १ ॥

---

* पाठान्तरे—"रणे" । † पाठान्तरे—"दावदग्धा नगा इव" ।

रावण का घोर नाद सुन कर महाराज यमराज ने समझ लिआ कि, रावण की जीत हुई और मेरी सेना नष्ट होगई ॥१॥

स हि योधान् हतान् मत्वा क्रोधसंरक्तलोचनः।
अब्रवीत्त्वरितः सूतं रथो मे उपनीयताम् ॥ २ ॥

उन्होने अपने योद्धाओं का मारा जाना जान और क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर, अपने सारथि को रथ जोत कर, तुरन्त उपस्थित करने की आज्ञा दी ॥ २ ॥

तस्य सूतस्तदा दिव्यमुपस्थाप्य महारथम्।
स्थितः स च महातेजा अध्यारोहत तं रथम् ॥ ३ ॥

सारथि ने तुरन्त उनका दिव्य और विशाल रथ ला कर, खड़ा कर दिआ। महातेजस्वी यमराज उस पर सवार हुए ॥३॥

पाशमुद्गरहस्तश्च मृत्युस्तस्याग्रतः स्थितः।
येन संक्षिप्यते सर्वं त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ॥ ४ ॥

जो इस चराचर नित्य जगत् का संहार करने वाले हैं, वे मृत्युदेव भी पाश और मुगदर हाथ मे ले कर, यमराज के आगे (रथ पर) बैठे ॥ ४ ॥

कालदण्डस्तु पार्श्वस्थो मूर्तिमानस्य चाभवत्।
यमप्रहरणं दिव्यं तेजसा ज्वलदग्निमत् ॥ ५ ॥

धधकती हुई आग की तरह चमचमाता यमराज का अस्त्र-कालदण्ड भी मूर्तिमान हो कर उनकी बगल में बैठ गया ॥५॥

ततो लोकत्रयं क्षुब्धमकम्पन्त दिवौकसः।
कालं दृष्ट्वा तथा क्रुद्धं सर्वलोकभयावहम् ॥ ६ ॥

समस्त लोकों को भयभीत करने वाले यमराज को इस प्रकार कुपित देख, उस समय तीनों लोक थर्रा उठे और देवता भी काँप उठे ॥ ६ ॥

ततस्त्वचोदयत् सूतस्तानश्वान् रुधिरप्रभान् ।
प्रययौ भीमसन्नादो यत्र रक्षःपतिः स्थितः ॥ ७ ॥

तदनन्तर जब सारथि ने लाल रंग वाले घोड़ों को हाँका; तब वह रथ घोर शब्द करता हुआ, राक्षसराज रावण की ओर चला ॥ ७ ॥

मुहूर्तेन यमं ते तु हया हरिहयोपमाः ।
प्रापयन् मनसस्तुल्या यत्र तत्प्रस्तुतं रणम् ॥ ८ ॥

मन के समान वेग से चलने वाले तथा इन्द्र के घोड़ों के समान उन घोड़ों ने एक मुहूर्त्त भर में यमराज को रणक्षेत्र में पहुँचा दिया ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा तथैव विकृतं रथं मृत्युसमन्वितम् ।
सचिवा राक्षसेन्द्रस्य सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥ ९ ॥

जिस विकराल रथ में साक्षात् मृत्युदेव बैठे थे, उसको देख रावण के मंत्री भयभीत हो भाग खड़े हुए ॥ ९ ॥

लघुसत्त्वतया ते हि नष्टसंज्ञा भयार्दिताः ।
नेह *युद्धं समर्थाः स्म इत्युक्त्वा प्रययुर्दिशः ॥ १० ॥

क्योंकि उनमें थोड़ा साहस था। वे मारे भय के अचेत से हो गए और कहने लगे—यहाँ युद्ध करना हम लोगों के सामर्थ्य के बाहिर की बात है। यह कहते हुए वे इधर उधर भाग गए ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरे—"योद्धुं"।

स तु तं तादृशं दृष्ट्वा रथं लोकभयावहम् ।
नाक्षुभ्यत दशग्रीवो न चापि भयमाविशत् ॥ ११ ॥

परन्तु रावण, सब लोगों के लिए भयानक उस रथ को देख कर न तो घबड़ाया और न भयभीत ही हुआ ॥ ११ ॥

स तु रावणमासाद्य व्यसृजच्छक्तितोमरान् ।
यमो मर्माणि संक्रुद्धो रावणस्य न्यकृन्तत ॥ १२ ॥

यमराज, रावण के निकट पहुँच क्रुद्ध हो, शक्तियों और तोमरों से उसके मर्मस्थलों को विदीर्ण करने लगे ॥ १२ ॥

रावणस्तु ततः स्वस्थः शरवर्षं मुमोच ह ।
तस्मिन् वैवस्वतरथे तोयवर्षमिवाम्बुदः ॥ १३ ॥

उधर रावण ने भी सावधान हो कर, यमराज के रथ के ऊपर वैसे ही बाणों की वृष्टि की; जैसे मेघ, जल की वृष्टि करते हैं ॥ १३ ॥

ततो महाशक्तिशतैः पात्यमानैर्महोरसि ।
नाशक्नोत् प्रतिकर्तुं स राक्षसः स्वल्पपीडितः ॥ १४ ॥

यमराज ने रावण की छाती में सैकड़ों बड़ी-बड़ी शक्तियाँ मारीं, जिनकी चोट से रावण कुछ पीड़ित हुआ और उन शक्तियों के रोकने का कुछ भी उपाय न कर सका ॥ १४ ॥

एवं नानाप्रहरणैर्यमेनामित्रकर्षिणा ।
सप्तरात्रं कृतः संख्ये विसंज्ञो विमुखो रिपुः ॥ १५ ॥

शत्रुओं के मारने वाले यमराज ने इस प्रकार अनेक अस्त्र शस्त्रों के प्रहार करते हुए, सात दिन रात युद्ध कर, रावण को युद्ध से विमुख और संज्ञाहीन कर दिया ॥ १५ ॥

तदासीत्तुमुलं युद्धं यमराक्षसयोर्द्वयोः ।
जयमाकांक्षतोर्वीर समरेष्वनिवर्तिनोः ॥ १६ ॥

हे वीर ! परस्पर जय की अभिलाषा किए हुए यमराज और राक्षसराज—दोनों ही समरभूमि में डटे हुए घोर युद्ध करते रहे ॥ १६ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
प्रजापतिं पुरस्कृत्य समेतास्तद्रणाजिरे ॥ १७ ॥

तब तो देवतागण, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियों को अपने साथ ले और ब्रह्मा जी को आगे कर, उस रणक्षेत्र में पहुँचे ॥ १७ ॥

संवर्त इव लोकानां युध्यतोरभवत्तदा ।
राक्षसानां च मुख्यस्य प्रेतानामीश्वरस्य च ॥ १८ ॥

प्रेतराज, यमराज और राक्षसराज रावण का ऐसा घोर युद्ध हो रहा था, मानों प्रयलकाल उपस्थित हुआ हो ॥ १८ ॥

राक्षसेन्द्रोऽपि विस्फार्य चापमिन्द्राशनिप्रभम् ।
निरन्तरमिवाकाशं कुर्वन् बाणांस्ततोऽसृजत् ॥ १९ ॥

रावण इन्द्र के वज्र के समान अपने धनुष को टंकोरता हुआ मारे बाणों के आकाश को छाए देता था ॥ १९ ॥

मृत्युं चतुर्भिर्विशिखैः सूतं सप्तभिरर्दयत् ।
यमं शतसहस्रेण शीघ्रं मर्मस्वताडयत् ॥ २० ॥

उसने मृत्यु के चार, सारथि के सात और यमराज के मर्मस्थलों में बड़ी फुर्ती से एक लाख बाण मारे ॥ २० ॥

ततः क्रुद्धस्य वदनाद्यमस्य समजायत ।
ज्वालामाली स निःश्वासः सधूमः कोपपावकः ॥२१॥

तब क्रोध में भर जाने के कारण, यमराज के मुख से ाँस के साथ सधूम कोपरूपी अग्नि धधकता हुआ प्रकट ुआ ॥ २१ ॥

तदाश्चर्यमथो दृष्ट्वा देवदानवसन्निधौ ।
प्रहर्षितौ सुसंरब्धौ मृत्युकालौ बभूवतुः ॥ २२ ॥

इससे देवता और दानवों को आश्चर्यान्वित देख, उनके समीप खड़े हुए मृत्युदेव, हर्षित एवं क्रुद्ध हुए और लड़ने को ैयार हुए ॥ २२ ॥

ततो मृत्युः क्रुद्धतरो वैवस्वतमभाषत ।
मुञ्च मां समरे यावद्धन्मीमं पापराक्षसम् ॥ २३ ॥

तब मृत्युदेव ने और भी अधिक क्रुद्ध हो कर यमराज से कहा—आप मुझे आज्ञा दीजिए। मैं अभी इस पापी रावण को ारे डालता हूँ ॥ २३ ॥

नैषा रक्षोभवेदद्य मर्यादा हि निसर्गतः ।
हिरण्यकशिपुः श्रीमान्नमुचिः शम्बरस्तथा ॥ २४ ॥
निसन्दिर्धूमकेतुश्च वलिर्वैरोचनोऽपि च ।
शम्भुर्दैत्यो महाराजो वृत्रो वाणस्तथैव च ॥ २५ ॥
राजर्षयः शास्त्रविदो गन्धर्वाः समहोरगाः ।
ऋषयः पन्नगा दैत्या यक्षाश्च ह्यप्सरोगणाः ॥ २६ ॥

युगान्तपरिवर्ते च पृथिवी समहार्णवा ।
क्षयं नीता महाराज सपर्वतसरिद्द्रुमा ॥ २७ ॥
एते चान्ये च बहवो बलवन्तो दुरासदाः ।
विनिपन्ना मया दृष्टाः किमुतायं निशाचरः ॥ २८ ॥

क्योंकि मेरा स्वाभाविक काम यही तो है। देखिए हिरण्य-कशिपु, नमुचि, शम्बर, निसन्दि, धूमकेतु, बलि, दैत्येन्द्र शम्भु, वृत्र, बाण, बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ राजर्षि, गन्धर्व, नाग, ऋषि, पन्नग, दैत्य, यक्ष, अप्सराएँ और युगान्त में ससागरा पृथिवी और पर्वत आदि (चर अचर) समस्त जीवों को मैंने नष्ट कर दिआ और नष्ट कर डालता हूँ। इनको व बड़े-बड़े बलवानों को, जो अति दुर्धर्ष थे, देखते ही मैंने नष्ट कर डाला। मेरे लिए इस राक्षस का मारना कोई बड़ा कठिन काम नहीं है। ॥ २४ ॥ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

मुञ्च मां साधु धर्मज्ञ यावदेनं निहन्म्यहम् ।
न हि कश्चिन्न् मया दृष्टो बलवानपि जीवति ॥२९॥

हे साधु ! हे धर्मज्ञ ! आप शीघ्र मुझे छोड़िए जिससे मैं इसे मार गिराऊँ। कोई कैसा ही बलवान क्यों न हो, मेरी दृष्टि के सामने पड़ने पर जीता नहीं बच सकता ॥ २९ ॥

बलं मम न खल्वेतन् मर्यादैषा निसर्गतः ।
स दृष्टो न मया कालं मुहूर्तमपि जीवति ॥ ३० ॥

भगवन् ! यह (माहात्म्य) मेरे बल का नहीं है, किन्तु यह मेरी स्वाभाविक मर्यादा है कि, मेरा देखा हुआ एक मुहूर्त्त भर भी नहीं जी सकता ॥ ३० ॥

तस्यैवं वचनं श्रुत्वा धर्मराजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत्तत्र तं मृत्युं त्वं तिष्ठैनं निहन्म्यहम् ॥ ३१ ॥

प्रतापी धर्मराज ने काल के ये वचन सुन, उससे कहा—तुम ठहरो, मैं इसे मारता हूँ ॥ ३१ ॥

ततः संरक्तनयनः क्रुद्धो वैवस्वतः प्रभुः ।
कालदण्डममोघं तु तोलयामास पाणिना ॥ ३२ ॥

तदनन्तर सूर्यपुत्र महाराज यमराज ने क्रोध से लाल लाल नेत्र कर, कभी निष्फल न जाने वाला कालदण्ड उठाया ॥३२॥

यस्य पार्श्वेषु निहिताः कालपाशाः प्रतिष्ठिताः ।
पावकाशनिसङ्काशो मुद्गरो मूर्तिमान् स्थितः ॥ ३३ ॥

उस कालदण्ड के पास बड़े बड़े कालपाश और अग्नि एवं वज्र के समान मुग्दर मूर्तिमान हो कर सदा रहा करते हैं ॥ ३३ ॥

दर्शनादेव यः प्राणान् प्राणिनामपि कर्षति ।
किं पुनः स्पृशमानस्य पात्यमानस्य वा पुनः ॥ ३४ ॥

जिसे देखते ही प्राणधारियों के प्राण सूख जाते हैं वह यदि किसी को पाश से छू दे अथवा दण्ड का प्रहार करे तो फिर क्या कहना है ॥ ३४ ॥

स ज्वालापरिवारस्तु निर्दहन्निव राक्षसम् ।
तेन स्पृष्टो बलवता महाप्रहरणोऽस्फुरत् ॥ ३५ ॥

विशेष क्या कहा जाय, वह अग्नि की लपटों वाला महाशस्त्र, बलवान यमराज द्वारा उठाये जाने पर, रावण को भस्म करने के लिए ही मानों सहसा धधक उठा ॥ ३५ ॥

ततो विदुद्रुवुः सर्वे तस्मात्त्रस्ता रणाजिरे।
सुराश्च क्षुभिताः सर्वे दृष्ट्वा दण्डोद्यतं यमम् ॥ ३६ ॥

यमराज को हाथ में कालदण्ड लिए देख, वहाँ जो प्राणी उपस्थित थे, वे भयभीत हो, भाग गए और देवता भी घबड़ा उठे ॥ ३६ ॥

तस्मिन् प्रहर्तुकामे तु यमे दण्डेन रावणम्।
यमं पितामहः साक्षाद्दर्शयित्वेदमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

जब यमराज, रावण के ऊपर दण्ड चलाने को उद्यत हुए, तब ब्रह्मा जी उनके समीप जाकर बोले ॥ ३७ ॥

वैवस्वत महाबाहो नखल्वमितविक्रम।
न हन्तव्यस्त्वयैतेन दण्डेनैष निशाचरः ॥ ३८ ॥

हे अमित विक्रमकारिन्! हे यमराज! तुम इस दण्ड को चला कर, इस राक्षस को मत मारो ॥ ३८ ॥

वरः खलु मयैतस्मै दत्तस्त्रिदशपुङ्गव।
स त्वया नानृतः कार्यो यन् मया व्याहृतं वचः ॥ ३९ ॥

क्योंकि हे देवश्रेष्ठ! मैं इसको वरदान दे चुका हूँ। अतः मेरी कही बात को तुम्हें असत्य न ठहरानी चाहिए ॥ ३९ ॥

यो हि मामनृतं कुर्याद्देवो वा मानुषोऽपि वा।
त्रैलोक्यमनृतं तेन कृतं स्यान्नात्र संशयः ॥ ४० ॥

देवता हो अथवा मनुष्य, जो कोई भी मेरी आज्ञा उल्लङ्घन करेगा, वह मानों त्रिलोकी को झूठा सिद्ध कर चुका। इसमें सन्देह नहीं ॥ ४० ॥

क्रुद्धेन विप्रमुक्तोऽयं निर्विशेषं प्रियाप्रिये ।
प्रजाः संहरते रौद्रो लोकत्रयभयावहः ॥ ४१ ॥

यह कालदण्ड महाभयङ्कर और त्रिलोकी को भयदायक है। जब क्रोध में भर, यह छोड़ा जायगा तब यह प्रिय अप्रिय अर्थात् भले बुरे प्राणियों (का विचार न कर) उन्हें नष्ट ही कर डालेगा ॥ ४१ ॥

अमोघो ह्येष सर्वेषां प्राणिनाममितप्रभः ।
कालदण्डो मया सृष्टः सर्वमृत्युपुरस्कृतः ॥ ४२ ॥

क्योंकि मैंने इसे बनाया ही इस प्रकार का है। यह अमित-प्रभा वाला कालदण्ड कभी निष्फल न जानेवाला और सब को नाश करनेवाला है ॥ ४२ ॥

तन्न खल्वेष ते सौम्य पात्यो रावणमूर्धनि ।
नह्यस्मिन् पतिते कश्चिन् मुहूर्तमपि जीवति ॥ ४३ ॥

अतएव हे सौम्य ! तुम इससे रावण के मस्तक पर प्रहार मत करो। क्योंकि इसके प्रहार से कोई भी प्राणी एक मुहूर्त भी जी नहीं सकता ॥ ४३ ॥

यदि ह्यस्मिन्निपतिते न म्रियेतैष राक्षसः ।
म्रियते वा दशग्रीवस्तदाप्युभयतोऽनृतम् ॥ ४४ ॥

(फिर एक बात और भी है) यदि कहीं इस कालदण्ड के प्रहार से रावण न मरा अथवा मर ही गया, तो मेरा कथन दोनो ही प्रकार से मिथ्या हो जायगा ॥ ४४ ॥

तन्निवर्तय लङ्केशाद्दण्डमेतं समुद्यतम् ।
सत्यं च मां कुरुष्वाद्य लोकांस्त्वं यद्यवेक्षसे ॥ ४५ ॥

इस लिये तुम रावण के ऊपर दण्ड का प्रहार मत करो और जो इस त्रिलोकी की रक्षा करना चाहते हो, तो मेरी बात को सत्य करो ॥ ४५ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा प्रत्युवाच यमस्तदा ।
एष व्यावर्तितो दण्डः प्रभविष्णुर्हि नो भवान् ॥४६॥

ब्रह्मा जी के ये वचन सुन कर, धर्मात्मा यमराज ने उत्तर दिया कि, आप मेरे स्वामी हैं। अतः आपकी आज्ञा से लीजिये मैं इस दण्ड को रखे देता हूँ और अब इसको न चलाऊँगा ॥४६॥

किं त्विदानीं मया शक्यं कर्तुं रणगतेन हि ।
न मया यद्ययं शक्यो हन्तुं वरपुरस्कृतः ॥ ४७ ॥

परन्तु आप यह तो बतलावें कि, इस युद्ध में मैं क्या करूँ? क्योंकि यह तो आपके वरदान के कारण अवध्य ही ठहरा ॥ ४७ ॥

एष तस्मात् प्रणश्यामि दर्शनादस्य रक्षसः ।
इत्युक्त्वा सरथः साश्वस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥

अतः इस राक्षस की दृष्टि से मैं अदृश्य हुआ जाता हूँ। यह कह कर यमराज रथ सहित वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४८ ॥

दशग्रीवस्तु तं जित्वा नाम विश्राव्य चात्मनः ।
आरुह्य पुष्पकं भूयो निष्क्रान्तो यमसादनात् ॥ ४९ ॥

तब रावण इस प्रकार यमराज को जीत कर और अपने नाम का ढिंढोरा पिटवा कर, तथा पुष्पक विमान पर सवार हो कर यमपुरी से चल दिया ॥ ४९ ॥

स तु वैवस्वतो देवैः सह ब्रह्मपुरोगमैः ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टो नारदश्च महामुनिः ॥ ५० ॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर यमराज भी ब्रह्मादि देवताओं के साथ स्वर्ग को गए और महामुनि नारद जी भी हर्षित हो उनके साथ गए ॥ ५० ॥

उत्तरकाण्ड का बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:❀:—

त्रयोविंशः सर्गः

—: ० :—

ततो जित्वा दशग्रीवो यमं त्रिदशपुङ्गवम् ।
रावणस्तु रणश्लाघी स्वसहायान् ददर्श ह ॥ १ ॥

समर में बड़ाई पाए हुए रावण ने देवश्रेष्ठ यमराज को परास्त कर, अपने सहायकों को देखा ॥ १ ॥

ततो रुधिरसिक्ताङ्गं प्रहारैर्जर्जरीकृतम् ।
रावणं राक्षसा दृष्ट्वा *विस्मयं समुपागमन् ॥ २ ॥

उसके सहायक राक्षसलोग उसे शस्त्रप्रहारों से जर्जरित और रक्त से नहाया हुआ देख, अत्यन्त विस्मित हुए ॥ २ ॥

जयेन वर्धयित्वा च मारीचप्रमुखास्ततः ।
पुष्पकं भेजिरे सर्वे सान्त्विता रावणेन तु ॥ ३ ॥

*पाठान्तरे—"हृष्टवत्समुपागमन् ।

और "महाराज की जय हो" कहते हुए मारीचादि राक्षस, पुष्पक विमान पर सवार हुए! तब रावण ने उन सब को ढाढ़स बँधाया ॥ ३ ॥

ततो रसातलं रक्षः प्रविष्टः पयसां निधिम् ।
दैत्योरगगणाध्युष्टं वरुणेन सुरक्षितम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर रावण समुद्र में घुस रसातल में गया. जहाँ दैत्य और साँप रहते हैं और जिनकी रक्षा वरुणदेव करते हैं ॥४॥

स तु भोगवतीं गत्वा पुरीं वासुकिपालिताम् ।
कृत्वा नागान् वशे हृष्टो ययौ मणिमयीं पुरीम् ॥५॥

वासुकि नाग की भोगपुरी में जा कर उसने नागों को जीत कर अपने वश में किआ। तदनन्तर रावण हर्षित होता हुआ मणिमयीपुरी में गया ॥ ५ ॥

निवातकवचास्तत्र दैत्या लब्धवरावसन् ।
राक्षसस्तान् समागम्य युद्धाय समुपाह्वयत् ॥ ६ ॥

वहाँ बसने वाले और वरदानप्राप्त निवातकवच दैत्यों को रावण ने युद्ध के लिए ललकारा ॥ ६ ॥

ते तु सर्वे सुविक्रान्ता दैतेया बलशालिनः ।
नाना प्रहरणास्तत्र प्रहृष्टा युद्धदुर्मदाः ॥ ७ ॥

वे दैत्य भी बड़े पराक्रमी, बलवान, दुर्मद और विविध प्रकार के आयुध चलाने में निपुण थे। अतः युद्ध का नाम सुनते ही वे हर्षित हुए ॥ ७ ॥

शूलैस्त्रिशूलैः कुलिशैः पट्टिशासिपरश्वधैः ।
अन्योन्यं बिभिदुः क्रुद्धा राक्षसा दानवास्तथा ॥ ८ ॥

शूल, त्रिशूल, वज्र, पटा, तलवार आदि ले ले कर वे राक्षसों से लड़ने लगे ॥ ८ ॥

तेषां तु युध्यमानानां साग्रः संवत्सरो गतः ।
न चान्यतरतस्तत्र विजयो वा क्षयोऽपि वा ॥ ९ ॥

इन दैत्यों को रावण के साथ लड़ते लड़ते पूरा एक वर्ष हो गया, तिस पर भी दोनो पक्षवालों में से किसी ने हार न मानी ॥ ९ ॥

ततः पितामहस्तत्र त्रैलोक्यगतिरव्ययः ।
आजगाम द्रुतं देवो विमानवरमास्थितः ॥ १० ॥

तब त्रिभुवनपति, अविनाशी, लोकपितामह ब्रह्मा जी विमान में बैठ, अति शीघ्र वहाँ भी पहुँचे ॥ १० ॥

निवातकवचानां तु निवार्य रणकर्म तत् ।
वृद्धः पितामहो वाक्यमुवाच [1]विदितार्थवत् ॥ ११ ॥

और युद्ध में प्रवृत्त निवातकवचों को रोक कर उन्होंने स्पष्ट रूप से ये वचन कहे ॥ ११ ॥

न ह्ययं रावणो युद्धे शक्यो जेतुं सुरासुरैः ।
न भवन्तः क्षयं नेतुमपि सामरदानवैः ॥ १२ ॥

इस रावण को युद्ध में सुर या असुर कोई भी नहीं जीत सकता और आपको भी कोई नहीं मार सकता ॥ १२ ॥

---

१ विदितार्थवत्—सुस्पष्टावगताभिधेयम् । (रा०)

राक्षसस्य सखित्वं च भवद्भिः सह रोचते ।
अविभक्ताश्च सर्वार्थाः सुहृदां नात्र संशयः ॥ १३ ॥

अतः मैं चाहता हूँ कि, आप लोगों की रावण के साथ मैत्री हो जाय। (मैत्री हो जाने पर) मित्रों की सब वस्तुएँ एक ही होती हैं (अर्थात् जो उसका है वह आपका होगा और जो आपका है वह उसका होगा।) इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥

ततोग्निसाक्षिकं सख्यं कृतवांस्तत्र रावणः ।
निवातकवचैः सार्धं प्रीतिमानभवत्तदा ॥ १४ ॥

तदनन्तर रावण अग्नि को साक्षी कर, निवातकवचों से मैत्री कर, अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥ १४ ॥

अर्चितस्तैर्यथान्यायं संवत्सरमथोषितः ।
स्वपुरान्निर्विशेषं च प्रियं प्राप्तो दशाननः ॥ १५ ॥

तब निवातकवचों ने भी रावण का यथोचित सत्कार किया। रावण वहाँ एक वर्ष तक रहा। वहाँ उसका अच्छा सत्कार सम्मान हुआ और अपनी राजधानी से भी अधिक सुखपूर्वक वह रहा ॥ १५ ॥

तत्रोपधार्य मायानां शतमेकं समाप्तवान्
सलिलेन्द्रपुरान्वेषी भ्रमति स्म रसातलम् ॥ १६ ॥

वहाँ रह कर, रावण ने निवातकवचों से सौ प्रकार की मायाएँ सीखीं। फिर वह वरुणदेव के नगर को ढूँढ़ता हुआ रसातल में घूमता फिरता रहा।

ततोऽश्मनगरं नाम कालकेयैरधिष्ठितम् ।
गत्वा तु कालकेयांश्च हत्वा तत्र बलोत्कटान् ॥ १७॥

(घूमता फिरता) रावण कालकेय दैत्यों के अश्म नामक नगर में पहुँचा। कालकेय दैत्य बड़े बलवान थे। किन्तु रावण ने उनको भी रण में मार गिराया ॥ १७ ॥

शूर्पणख्याश्च भर्तारमसिना प्राच्छिनत्तदा ।
श्यालं च बलवन्तं च विद्युज्जिह्वं बलोत्कटम् ॥१८॥

इसी युद्ध में रावण ने अपने बहनोई अर्थात् शूपनखा के पति बलवान विद्युज्जिह्व को तलवार से काट डाला ॥ १८ ॥

जिह्वया संलिहन्तं च राक्षसं समरे तदा ।
तं विजित्य मुहूर्तेन जघ्ने दैत्यांश्चतुःशतम् ॥ १९ ॥

क्योंकि वह रावण के मन्त्रियों को खा डालना चाहता था। उसको मार कर रावण ने क्षणमात्र में चार सौ दैत्यों को मार डाला ॥ १९ ॥

ततः पाण्डुरमेघाभं कैलासमिव भास्वरम् ।
वरुणस्यालयं दिव्यमपश्यद्राक्षसाधिपः ॥ २० ॥

तदनन्तर राक्षसराज रावण ने कैलासपर्वत के शिखर की तरह चमचमाता और सफेद बादल की तरह सफेद वरुण का दिव्य भवन देखा ॥ २० ॥

क्षरन्तीं च पयस्तत्र सुरभिं गामवस्थिताम् ।
यस्याः पयोभिर्निष्पन्दात् क्षीरोदो नाम सागरः ॥२१॥

रावण ने वहीं पर सुरभि गौ भी देखी, जिनके थनों से सदा दूध की धार बहा करती है और जिसके दुग्ध की धार ही से क्षीरोद नामक सागर की उत्पत्ति हुई है ॥ २१ ॥

ददर्श रावणस्तत्र गोवृषेन्द्रवरारणिम् ।

यस्माच्चन्द्रः प्रभवति शीतरश्मिर्निशाकरः ॥ २२ ॥

वह सुरभि महावृषभेन्द्र (महादेव जी के साड़िया) की माता है और उसके दूध से (उत्पन्न क्षीरसागर से) शीतल किरनों वाला चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है ॥ २२ ॥

यं समाश्रित्य जीवन्ति फेनपाः परमर्षयः ।

अमृतं यत्र चोत्पन्नं स्वधा च स्वधभोजिनाम् ॥२३॥

इसीके सहारे फेन पीने वाले महर्षि जीते हैं। उसीसे अमृत उत्पन्न हुआ है औ स्वधाभोजी पितरों की स्वधा भी उत्पन्न होती है ॥ २३ ॥

यां ब्रुवन्ति नरा लोके सुरभिं नाम नामतः ।

प्रदक्षिणं तु तां कृत्वा रावणः परमाद्भुताम् ।

प्रविवेश महाघोरं गुप्तं बहुविधैर्बलैः ॥ २४ ॥

उसको लोग सुरभि कहा करते हैं। उस परमाद्भुत सुरभि की प्रदक्षिणा कर रावण ने वरुण का श्रेष्ठ भवन देखा, जो विविध भाँति के सैनिकों से सुरक्षित था और बड़ा भयङ्कर था ॥ २४ ॥

ततो धाराशताकीर्णं शारदाभ्रनिभं तदा ।

नित्यप्रहृष्टं ददृशे वरुणस्य गृहोत्तमम् ॥ २५ ॥

वरुण का उत्तम भवन सैकड़ों धाराओं से सुशोभित, शरद् ऋतु के बादल की तरह सफेद और सदा हँसता हुआ सा देख पड़ता था ॥ २५ ॥

ततो हत्वा बलाध्यक्षान् समरे तैश्च ताडितः ।
अब्रवीच्च ततो योधान् राजा शीघ्रं निवेद्यताम् ॥२६॥

वहाँ पहुँचने पर जब वरुण के सेनापतियों से रावण को मारा (ताड़ित किया) तब रावण ने उनसे लड़ कर उनको मार डाला । तदनन्तर उसने (बचे हुए) सैनिकों से कहा कि, तुम लोग तुरन्त जा कर अपने राजा से कहो कि, ॥ २६ ॥

युद्धार्थी रावणः प्राप्तस्तस्य युद्धं प्रदीयताम् ।
वद वा न भयं तेऽस्ति निर्जितोऽस्मीति साञ्जलिः ॥२७॥

रावण तुमसे लड़ने के लिए यहाँ आया है । अतः या तो तुम उससे आ कर लड़ो अथवा हाथ जोड़ कर उससे कहो कि "मैं हार गया ।" ऐसा करने से फिर तुमको किसी प्रकार का भय न होगा ॥ २७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धा वरुणस्य महात्मनः ।
पुत्राः पौत्राश्च निष्क्रामन् गौश्च पुष्कर एव च ॥२८॥

इतने में रावण के पुत्र और पौत्र अत्यन्त क्रोध में भर रावण से लड़ने के लिए निकले । उनके साथ गौ और पुष्कर नाम के दो सेनापति भी थे ॥ २८ ॥

ते तु तत्र गुणोपेता बलैः परिवृताः स्वकैः ।
युक्त्वा रथान् कामगमानुद्यद्भास्करवर्चसः ॥ २९ ॥

ये लोग बड़े गुणी थे। ये लोग अपनी सेना को साथ लिए उदयकालीन सूर्य की तरह प्रभावान् तथा मन की तरह वेग से चलने वाले रथों पर चढ़ कर आए ॥ २६ ॥

ततो युद्धं समभवद्दारुणं रोमहर्षणम् ।
सलिलेन्द्रस्य पुत्राणां रावणस्य च धीमतः ॥ ३० ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् रावण और जलराज वरुण के पुत्रों में अत्यन्त दारुण युद्ध होने लगा ॥ ३० ॥

अमात्यैश्च महावीर्यैर्दशग्रीवस्य रक्षसः ।
वारुणं तद्बलं सर्वं क्षणेन विनिपातितम् ॥ ३१ ॥

राक्षस रावण के महावीर्यवान् मंत्रियों ने जल के राजा वरुण की उस समस्त सेना को क्षण भर में नष्ट कर डाला ॥३१॥

समीक्ष्य स्वबलं संख्ये वरुणस्य सुतास्तदा ।
अर्दिताः शरजालेन निवृत्ता रणकर्मणः ॥ ३२ ॥

वरुण के पुत्रों ने अपनी सेना का नाश हुआ देख तथा स्वयं बाण समूह से पीड़ित हो, कुछ देर के लिए लड़ाई बन्द कर दी ॥ ३२ ॥

महीतलगतास्ते तु रावणं दृश्य पुष्पके ।
आकाशमाशु विविशुः स्यन्दनैः शीघ्रगामिभि ॥३३॥

फिर रावण को पुष्पक पर चढ़ा हुआ और अपने को भूमि पर से लड़ते देख, वरुण के पुत्र पौत्रादि शीघ्रगामी रथों सहित उड़ कर आकाश में पहुँचे ॥ ३३ ॥

महदासीत्ततस्तेषां तुल्यं स्थानमवाप्य तत् ।
आकाशयुद्धं तुमुलं देवदानवयोरिव ॥ ३४ ॥

अब आमने सामने हो कर लड़ने का स्थान प्राप्त कर, देवासुर संग्राम की तरह उन दोनों का घोर युद्ध आकाश में आरम्भ हुआ ॥ ३४ ॥

ततस्ते रावणं युद्धे शरैः पावकसन्निभैः ।
विमुखीकृत्य संहृष्टा विनेदुर्विविधान् रवान् ॥ ३५ ॥

वरुण की सेना ने अग्नि के समान बाणों को चला कर, रावण को संग्राम से विमुख कर दिया। रावण को युद्ध से विमुख देख, वे लोग विविध प्रकार से हर्षनाद करने लगे ॥३५॥

ततो महोदरः क्रुद्धो राजानं वीक्ष्य धर्षितम् ।
त्यक्त्वा मृत्युभयं क्रुद्धो युद्धाकांक्षी व्यलोकयत् ।
तेन ते वारुणा युद्धे कामगाः पवनोपमाः ॥ ३६ ॥
महोदरेण गदया हतास्ते प्रययुः क्षितिम् ॥ ३७ ॥

अपने राजा का ऐसा अपमान देख, महोदर बहुत क्रुद्ध हुआ। वह मौत को कुछ भी न गिन कर, युद्ध करने के लिए उनकी ओर देखने लगा। उस महोदर ने युद्ध में पवन की तरह वेग से चलने वाले वरुण के पुत्रों के घोड़ों को गदा के प्रहारों से मार कर ज़मीन पर गिरा दिआ। उसने योद्धाओं को भी मारा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

तेषां वरुणसूनूनां हत्वा योधान् हयांश्च तान् ।
मुमोचाशु महानादं विरथान् प्रेक्ष्य तान् स्थितान्॥३८॥

उन वरुण के पुत्रों के सैनिकों को और घोड़ों को मार कर और उनको बिना रथ के खड़ा देख, महोदर ने हर्षनाद किआ ॥ ३८ ॥

ते तु तेषां रथाः साश्वाः सह सारथिभिर्वरैः ।
महोदरेण निहताः पतिताः पृथिवीतले ॥ ३६ ॥

महोदर के गदाप्रहार से उनके घोड़े और चतुर सारथि मारे जा कर भूमि पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ते तु त्यक्त्वा रथान् पुत्रा वरुणस्य महात्मनः ।
आकाशे विष्ठिताः शूराः स्वप्रभावान्न विव्यथुः ॥४०॥

महात्मा वरुण जी के पुत्र पौत्र विना रथ के रह जाने पर भी, अपने प्रभाव से आकाश ही में खड़े रहे, नीचे गिरे नहीं ॥ ४० ॥

धनूंषि कृत्वा सज्जानि विनिर्भिद्य महोदरम् ।
रावणं समरे क्रुद्धाः सहिताः समवारयन् ॥ ४१ ॥

फिर उन्होंनें अपने धनुष चढ़ा कर, महोदर को मारे बाणों के क्षतविक्षत कर डाला और रावण को घेरा ॥ ४१ ॥

सायकैश्चापविभ्रष्टैर्वज्रकल्पैः सुदारुणैः ।
दारयन्ति स्म संक्रुद्धा मेघा इव महागिरिम् ॥ ४२ ॥

और क्रोध में भर वज्र समान बाणों से उसे ऐसा छेदा; जैसे मेघ, जलविन्दुओं से विशालपर्वत को तर करते हैं ॥ ४२ ॥

ततःक्रुद्धो दशग्रीवः कालाग्निरिव मूर्च्छितः ।
शरवर्षं महाघोरं तेषां मर्मस्वपातयत् ॥ ४३ ॥

इस पर रावण भी कालाग्नि की तरह क्रोध में भर, बाण बरसा कर, उनके मर्मस्थलों को छेदने लगा ॥ ४३ ॥

मुसलानि विचित्राणि ततो भल्लशतानि च ।
पट्टिशांश्चैव शक्तीश्च शतघ्नीर्महतीरपि ।
पातयामास दुर्धर्षस्तेषामुपरि विष्ठितः ॥ ४४ ॥

दुधर्ष रावण विविध प्रकार के मूसलो, सैकड़ों भालों, पट्टों, शक्तियों और बड़ी बड़ी शतघ्नियों को वरुण के पुत्रों पौत्रों के ऊपर चलाने लगा ॥ ४४ ॥

ततस्तेनैव सहसा सीदन्ति स्म पदातिनः ।
महापङ्कमिवासाद्य कुञ्जराः षष्टिहायनाः ॥ ४५ ॥

वे लोग रथरहित थे, अतः वे लोग उन शस्त्रो के प्रहारों से वैसे ही दुःखी हुए; जैसे साठ वर्षो का बूढ़ा हाथी, दलदल में फँस कर, दुःखी होता है ॥ ४५ ॥

सीदमानान् सुतान् दृष्ट्वा विह्वलान् स महाबलः ।
ननाद रावणो हर्षात् महानम्बुधरो यथा ॥ ४६ ॥

तब महाबलवान रावण वरुण के पुत्रों को विह्वल और पीड़ित देख हर्षित हो, महामेघ की तरह बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ ४६ ॥

ततो रक्षो महानादान् मुक्त्वा हन्ति स्म वारुणान् ।
नानाप्रहरणोपेतैर्धारापातैरिवाम्बुदः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर वारंवार गर्ज कर रावण, जलधारा बरसाते हुए मेघ की तरह अनेक प्रकार के अस्त्रों शस्त्रों की वर्षा कर, वरुण जी के पुत्रों को मारने लगा ॥ ४७ ॥

ततस्ते विमुखाः सर्वे पतिता धरणीतले ।
रणात्स्वपुरुषैः शीघ्रं गृहाण्येवं प्रवेशिताः ॥ ४८ ॥

अन्त में वरुण के पुत्र समर छोड़ पृथिवी पर गिर पड़े। नौकरों ने तुरन्त उनको उठा कर घर पहुँचाया ॥ ४८ ॥

तानब्रवीत्ततो रक्षो वरुणाय निवेद्यताम्।
रावणं त्वब्रवीत् मन्त्री प्रहासो नाम वारुणः ॥४९ ॥

तदनन्तर रावण नें उन सेवकों से कहा कि, मेरा सन्देशा वरुण से जा कर कहो। तब प्रहास नामक वरुण के मंत्री ने रावण से कहा ॥ ४९ ॥

गतः खलु महाराजो ब्रह्मलोकं जलेश्वरः।
गन्धर्वं वरुणः श्रोतु यं त्वमाह्वयसे युधि ॥ ५० ॥

हे राक्षसराज ! जिनको तुम युद्ध करने के लिए ललकार रहे हो, वे सलिलेश्वर महाराज वरुण जी गाना सुनने ब्रह्मलोक में गए हैं ॥ ५० ॥

तत्किं तव यथा वीर परिश्रम्य गते नृपे।
ये तु सन्निहिता वीराः कुमारास्ते पराजिताः ॥५१॥

हे वीर ! जो वीर योद्धा कुमारों के पास थे, उनको तुम परास्त कर ही चुके। अब वरुण महाराज के न रहने से तुम व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हो ? ॥ ५१ ॥

राक्षसेन्द्रस्तु तच्छ्रुत्वा नाम विश्राव्य चात्मनः।
हर्षान्नादं विमुञ्चन् वै निष्क्रान्तो वरुणालयात् ॥५२।

तब राक्षसपति रावण अपनें नाम की विजयघोषणा कर और हर्षनाद करता हुआ, वरुणभवन से निकला ॥ ५२ ॥

आगतस्तु पथा येन तेनैव विनिवृत्य सः ।
लङ्कामभिमुखो रक्षो नभस्तलगतो ययौ ॥ ५३ ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

रावण जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से लौट कर आकाश में पुष्पकविमान उड़ाता हुआ लङ्का की ओर चला गया ॥ ५३ ॥

उत्तरकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[टिप्पणी—किसी किसी पुस्तक में इसके आगे पाँच सर्ग और पाए जाते हैं, जिनको पूर्व टीकाकारों ने प्रक्षिप्त माना है ।]

—❀—

प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः

—:०:—

[ततोऽश्मनगरं भूयो विचेरुर्युद्धदुर्मदाः ।
यत्रापश्यद्दशग्रीवो गृहं परमभास्वरम् ॥ १ ॥

तदनन्तर रावण युद्धोन्मत्त राक्षसों को साथ ले, फिर अश्म-नगर में घूमने लगा । वहाँ उसने एक बड़ा प्रकाशमान भवन देखा ॥ १ ॥

वैदूर्यतोरणाकीर्णं मुक्ताजालविभूषितम् ।
सुवर्णस्तंभगहनं वेदिकाभिः समन्ततः ॥ २ ॥

उस भवन के द्वारों पर पन्ने जड़े हुए थे और उनपर मोतियों की मालाएँ लटक रही थीं । उसमें सोने के बड़े बड़े खम्भे थे और जगह जगह सुन्दर वेदिकाएँ बनी थीं ॥ २ ॥

वज्रस्फटिकसोपानं किङ्किणीजालसंवृतम् ।
बह्वासनयुतं रम्यं महेन्द्रभवनोपमम् ॥ ३ ॥

उसमें जो सीढ़ियाँ थीं वे हीरों और स्फटिक पत्थर की थीं। उस भवन में जगह जगह किंकिणी के समूह लटक रहे थे। वहाँ की वैसी ही शोभा थी; जैसी इन्द्र के भवन की ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा गृहवरं रम्यं दशग्रीवः प्रतापवान् ।
कस्येदं भवनं रम्यं मेरुमन्दरसन्निभम् ॥ ४ ॥

प्रतापी रावण ने उस रम्य भवनोत्तम को देख कर पूंछा कि, मेरुपर्वत के समान विशाल यह किसका घर देख पड़ता है ॥ ४ ॥

गच्छ प्रहस्त शीघ्रं त्वं जानीष्व भवनोत्तमम् ।
एवमुक्तः प्रहस्तस्तु प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥ ५ ॥

हे प्रहस्त ! तुम शीघ्र जा कर पता लगाओ। यह उत्तम भवन किसका है। रावण के यह वचन सुन, प्रहस्त उस श्रेष्ठ भवन के भीतर गया ॥ ५ ॥

निःशून्यं प्रैक्षत वरं पुनः कक्ष्यान्तरे ययौ ।
सप्तकक्ष्यान्तरं गत्वा ततो ज्वालामपश्यत ॥ ६ ॥

वहाँ प्रहस्त को कोई भी न देख पड़ा। तब प्रहस्त और आगे बढ़ा इस प्रकार वह उस भवन की सात ड्योढ़ियाँ पार कर गया। सातवीं ड्योढ़ी पर उसको अग्निज्वाला देख पड़ी ॥ ६ ॥

ततो दृष्टः पुमांस्तत्र हृष्टो हासं मुमोच सः ।
श्रुत्वा स तु महाहासमूर्ध्वरोमाभवत्तदा ॥ ७ ॥

फिर उसे एक पुरुष भी देख पड़ा जिसने प्रहस्त को देखते ही हर्षित हो अट्टहास किया। उस अट्टहास को सुन प्रहस्त के (मारे डर के) रोंगटे खड़े हो गए॥ ७॥

ज्वालामध्ये स्थितस्तत्र हेममाली विमोहितः।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः साक्षादिव यमः स्थितः॥ ८॥

वह पुरुष उस अग्निज्वाला के भीतर सोने की माला पहिने हुए बैठा था। जैसे सूर्य की ओर देखना सहज नहीं है, वैसे ही उसको देखना भी सहज नहीं था। वह साक्षात् यमराज की तरह बैठा हुआ था॥ ८॥

तथा दृष्ट्वा तु वृत्तान्तं त्वरमाणो विनिर्गतः।
विनिर्गम्याब्रवीत् सर्वं रावणाय निशाचरः॥ ९॥

राक्षस प्रहस्त वहाँ का यह हाल देख और घबड़ा कर, तुरन्त बाहिर निकल आया और बाहिर आ कर, वहाँ का सारा हाल रावण से कहा॥ ९॥

अथ राम दशग्रीवः पुष्पकादवरुह्य सः।
प्रवेष्टुमिच्छन् वेश्माथ भिन्नाञ्जनचयोपमः॥ १०॥

हे राम! तदनन्तर काजल के पहाड़ की तरह कृष्णवर्ण रावण पुष्पक विमान से उतर पड़ा और ज्योंही उस घर में जाने को तैयार हुआ॥ १०॥

चन्द्रमौलिर्वपुष्मांश्च पुरुषोऽस्याग्रतः स्थितः।
द्वारमावृत्य सहसा ज्वालाजिह्वो भयानकः॥ ११॥

त्योंही चन्द्रमा सिर पर धारण किए, विशाल वपुधारी एक भयङ्कर पुरुष सहसा द्वार को रोक कर रावण के सामने आ खड़ा हुआ। उसकी जिह्वा आग की लपट के समान थी ॥ ११ ॥

रक्ताक्षश्चारुदशनो बिम्बोष्ठश्चारु दर्शनः ।
महाभीषणनासश्च कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥ १२ ॥

उसकी आँखें लाल, दन्तपंक्ति सुन्दर, ओंठ कुन्दरू के समान लाल, शरीर की गठन सुन्दर, नाक बड़ी भयानक, गर्दन शङ्ख की तरह और ठोड़ी बहुत बड़ी थी ॥ १२ ॥

रूढश्मश्रुर्निगूढास्थिर्दंष्ट्रालो लोमहर्षणः ।
गृहीत्वा लोहमुसलं द्वारं विष्टभ्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

उसकी डाढ़ी और मूछें बड़ी घनी, अस्थियाँ माँसल, डाढ़ें बड़ी बड़ी और उसका आकार सब तरह देखने वाले के रोंगटे खड़े करनेवाला था। वह हाथ में मूसल लिये द्वार रोके खड़ा था ॥ १३ ॥

अथ सन्दर्शनात्तस्य ऊर्ध्वरोमा बभूव सः ।
हृदयं कम्पते चास्य वेपथुश्चाप्यजायत ॥ १४ ॥

उसको देखते ही रावण के रोंगटे खड़े हो गए, कलेजा धड़कने लगा पसीना निकल पड़ा। शरीर थरथराने लगा ॥ १४ ।

निमित्तान्यमनोज्ञानि दृष्ट्वा रामं व्यचिन्तयत् ।
अथ चिन्तयतस्तस्य स एव पुरुषोऽब्रवीत् ॥ १५ ॥

हे राम ! इस प्रकार के अपशकुन देख, रावण खड़ा खड़ा कुछ सोच ही रहा था कि, उस पुरुष ने स्वयं रावण से कहा ॥ १५ ॥

किं त्वं चिन्तयसे रक्षो ब्रूहि विस्रब्धमानसः ।
युद्धातिथ्यमहं वीर करिष्ये रजनीचर ॥ १६ ॥

हे राक्षस ! तू क्या सोच रहा है ? मन को सावधान कर के बतला । हे वीर ! हे रजनीचर ! मैं युद्ध द्वारा तेरा सत्कार करूँगा ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा स तद्रक्षः पुनर्वचनमब्रवीत् ।
योत्स्यसे बलिना सार्धमथवा मन्यसे कथम् ॥ १७ ॥

वह पुरुष इस प्रकार कह कर, फिर रावण से कहने लगा-क्या तू बलि के साथ लड़ेगा ? अथवा तेरा और कुछ विचार है ? ॥ १७ ॥

रावणोऽभिहतो भूय ऊर्ध्वरोमा व्यजायत ।
अथ धैर्यं समालम्ब्य रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उस पुरुष के मुख से इन वचनों के निकलते ही रावण के फिर रोंगटे खड़े हो गए । कुछ देर बाद हिम्मत बाँध, रावण ने कहा ॥ १८ ॥

गृहेषु तिष्ठते को हि तद्ब्रूहि वदतां वर ।
तेनैव सार्धं योत्स्यामि यथा वा मन्यते भवान् ॥१९॥

हे वचन बोलनेवालों में श्रेष्ठ ! यह तो बतलाइये कि, इस घर में रहता कौन है ? मैं उसीके साथ लड़ूँगा अथवा आपकी जैसी सम्मति होगी वही मैं करूँगा ॥ १६ ॥

स एनं पुनरप्याह दानवेन्द्रोऽत्र तिष्ठति ।
एष वै परमोदारः शूरः सत्यपराक्रमः ॥ २० ॥

वीरो बहुगुणोपेतः पाशहस्त इवान्तकः ।
बालार्क इव तेजस्वी समरेष्वनिवर्तकः ॥ २१ ॥
अमर्षी दुर्जयो जेता बलवान् गुणसागरः ।
प्रियंवदः संविभागी गुरुविप्रप्रियः सदा ॥ २२ ॥

उस पुरुष ने उत्तर देते हुए रावण से कहा। इस भवन में दानवराज बलि रहते हैं, जो बड़े उदार, शूरवीर, सत्यपराक्रमी, अनेक गुणों से भूषित, हाथ में पाश लिए दूसरे यमराज की तरह, उदयकालीन सूर्य की तरह तेजस्वी और युद्ध से कभी मुँह न मोड़ने वाले हैं। वे अमर्षी (शत्रु के अपराध को क्षमा न करने वाले) दुर्जेय, शत्रु को जीतने वाले, बलवान और गुणों के तो समुद्र हैं। वे प्रियभाषी, संविभागी, (यथोचित दाता) तथा गुरु और ब्राह्मणों में प्रीति रखने वाले हैं॥ २० ॥ २ ॥ ॥ २२ ॥

कालकाङ्क्षी महासत्त्वः सत्यवाक् सौम्यदर्शनः ।
दक्षः सर्वगुणोपेतः शूरः स्वाध्यायतत्परः ॥ २३ ॥

वे समय देख कर काम करने वाले, महाबलवान, सत्य बोलने वाले, प्रियदर्शन, दक्ष, सर्वगुणसम्पन्न, शूर और स्वाध्याय में तत्पर रहते हैं ॥ २३ ॥

एष गच्छति वात्येष ज्वलते तपते तथा ।
देवैश्च भूतसङ्घैश्च पन्नगैश्च पतत्रिभिः ॥ २४ ॥

यद्यपि वे पैदल चलते हैं, तथापि उनकी चाल वायु के समान तेज है। वे अग्नि के समान प्रज्वलित और सूर्य की तरह ताप देने वाले हैं। वे देवताओं, प्राणियों, साँपों और पक्षियों से तनक भी नहीं डरते ॥ २४ ॥

भयं यो नाभिजानाति तेन त्वं योद्धुमिच्छसि ।
बलिना यदि ते योद्धुं रोचते राक्षसेश्वर ॥ २५ ॥

भय क्या वस्तु है, सो तो वे जानते ही नहीं । हे रावण ! क्या तू उन्हीं दानवेन्द्र बलि के साथ लड़ना चाहता है ? हे राक्षसेश्वर यदि तुझे बलि के साथ लड़ना पसंद हो तो, ॥ २५ ॥

प्रविश त्वं महासत्व संग्रामं कुरु मा चिरम् ।
एवमुक्तो दशग्रीवः प्रविवेश यतो बलिः ॥ २६ ॥

हे महाबली ! इस भवन के भीतर जा कर शीघ्र उनसे युद्ध कर । रावण यह वचन सुन कर, बलि के निकट गया ॥२६॥

स विलोक्याथ लङ्केशं जहास दहनोपमः ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः स्थितो दानवसत्तमः ॥ २७ ॥

सूर्य की तरह दुष्प्रेक्ष्य दानवोत्तम महाराज बलि, रावण को देखते ही हँस पड़े ॥ २७ ॥

अथ संदर्शनादेव बलिर्वै विश्वरूपवान् ।
स गृहीत्वा च तद्रक्ष उत्सङ्गे स्थाप्य चाब्रवीत् ॥ २८ ॥

अग्नि के समान रूप वाले विश्वरूप राजा बलि ने रावण को हाथों से पकड़ कर, अपनी गोदी में बिठा लिआ और उससे कहा ॥ २८ ॥

दशग्रीव महाबाहो कं ते कामं करोम्यहम् ।
किमागमनकृत्यं ते ब्रूहि त्वं राक्षसेश्वर ॥ २९ ॥

हे महाबाहो ! हे दशग्रीव ! मैं तेरा क्या करूँ ? हे राक्षसेश्वर ! यह तो बतला कि, तू यहाँ आया क्यों है ? ॥ २९ ॥

एवमुक्तस्तु बलिना रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
श्रुतं मया महाभाग बद्धस्त्वं विष्णुना पुरा ॥ ३० ॥

जब बलि ने यह पूँछा, तब रावण कहने लगा—हे महाभाग ! मैंने सुना है कि, पूर्वकाल से तुमको विष्णु ने बाँध रखा है ॥ ३० ॥

सोऽहं मोचयितुं शक्तो बन्धनात्त्वां न संशयः ।
एवमुक्ते ततो हासं बलिर्मुक्त्वैनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सो मैं निस्सन्देह तुमको उनके बंधन से छुड़ा सकता हूँ । यह सुन राजा बलि हँस कर बोले ॥ ३१ ॥

श्रूयतामभिधास्यामि यत्त्वं पृच्छसि रावण ।
य एष पुरुषः श्यामो द्वारे तिष्ठति नित्यदा ॥ ३२ ॥

हे रावण ! तूने जो पूँछा उसका मैं उत्तर देता हूँ । सुन । वह जो श्यामवर्ण पुरुष सदा मेरे द्वार पर ही खड़ा रहता है ॥ ३२ ॥

एतेन दानवेन्द्राश्च तथान्ये बलवत्तराः ।
वशं नीता बलवता पूर्वे पूर्वतराश्च ये ॥ ३३ ॥

उसने अपने बल से पूर्ववर्ती समस्त दानवेंन्द्रों तथा अन्यान्य बलशालियों को अपने वश में कर लिआ है ॥ ३३ ॥

बद्धः सोऽहमनेनैवं कृतान्तो दुरतिक्रमः ।
क एनं पुरुषो लोके वञ्चयिष्यति मानवः ॥ ३४ ॥

उसीनें मुझे भी बाँध रखा है । यह यमराज की तरह दुर्धर्ष है । ऐसा इस लोक में कौन पुरुष है, जो उसको धोखा दे सके ॥ ३४ ॥

सर्वभूतापतावै य एष द्वारि तिष्ठति ।
कर्ता कारयिता चैव धाता च भुवनेश्वरः ॥ ३५ ॥

हे रावण ! जो पुरुष द्वार पर खड़ा है, वही सब प्राणियों का संहार करने वाला, कर्त्ता, प्रेरक, सब का रचने वाला और और समस्त भुवनों का स्वामी है ॥ ३५ ॥

न त्वं वेद न चैवाहं भूतभव्यभवत्प्रभुः ।
कलिश्चैवैष कालश्च सर्वभूतापहारकः ॥ ३६ ॥

उसका भेद न तो तू जान सकता है न मैं । वह भूत, भविष्यद् और वर्तमान (प्राणिमात्र) का प्रभु है। वही कलि है, वही समस्त प्राणियों का नाश करनेवाला काल है ॥ ३६ ॥

लोकत्रयस्य सर्वस्य हर्ता स्रष्टा तथैव च ।
संहरत्येष भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ३७ ॥

वही तीनों लोकों के समस्त जीवों का रचने और बिगाड़ने वाला है । वही स्थावर जङ्गम (चर, अचर) प्राणधारियों का नाश करने वाला है ॥ ३७ ॥

पुनश्च सृजते सर्वमनाद्यन्तं महेश्वरः ।
इष्टं चैव हि दत्तं च हुतं चैव निशाचरः ॥ ३८ ॥

तथा पुनः उनकी सृष्टि करनेवाला है। वही महेश्वर है और आदि अन्त रहित है अथवा अनादि और अनन्त सृष्टि उसीके वश मे है। हे राक्षस ! 'दान, यज्ञ, होम का फल देने वाला वही है ॥ ३८ ॥

सर्वमेव हि लोकेशो धाता गोप्ता न संशयः ।
नैवंविधं महद्भूतं विद्यते भुवनत्रये ॥ ३६ ॥

वही समस्त लोकों का स्वामी है । वह सब को बनाता है और वही सब की रक्षा भी करता है । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । इस प्रकार का कोई महाप्राणी त्रिभुवन में नहीं है ॥ ३६ ॥

अहं त्वं चैव पौलस्त्य ये चान्ये पूर्वपत्तराः ।
नेता ह्येषा महद्भूतं पशुं रशनया यथा ॥ ४० ॥

हे पुलस्त्यवंशीय ! मेरा और तेरा तथा मेरे तेरे पूर्व पुरुषों का वही नियन्ता है । जैसे पशु की गर्दन में रस्सी बाँध कर मनुष्य उसे खींचता और उसे अपने वश में कर लेता है, वैसे ही वह भी सब को अपने वश में रखता है ॥ ४० ॥

पुत्रो दनुः शुकः शम्भुर्निशुम्भः शुम्भ एव च ।
कालनेमिश्च प्राह्लादिः कूटो वैरोचनो मृदुः ॥ ४१ ॥
यमलार्जुनौ च कंसश्च कैटभो मधुना सह ।
एते तपन्ति द्योतन्ति वान्ति वर्षन्ति चैव हि ॥ ४२ ॥

वृत्र, दनु, शुक्र, शुम्भ, निशुम्भ, कालनेमि, प्राह्लादि, कूट, वैरोचन, मृदु, यमलार्जुन, कंस, कैटभ और मधु, ये सब सूर्य की तरह तपते चन्द्रमा की तरह प्रकाश करते, वायु की तरह वहते और बादल की तरह बरसते थे ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

[टिप्पणी—ऊपर के श्लोकों में कंस और यमलार्जुन के नाम देख कर अनेक विचारवान लोगों का मत है कि, उत्तरकाण्ड का अधिकांश भाग उसमें पीछे से जोड़ा गया है । आदिकवि का रचा हुआ नहीं है ।

यद्यपि सरल विश्वास रखने वाले आस्तिकों का समाधान "यथापूर्वमकल्पयत" इस श्रुतिवाक्य से हो जाता है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से पढ़ने वाले उत्तर काण्ड के अधिकांश भाग को ऐतिहासिक महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं हैं।]

सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं सर्वैस्तप्तं महत्तपः ।
सर्वे ते सुमहात्मानः सर्वे वै योगधर्मिणः ॥ ४३ ॥

इन सब ने सैकड़ों यज्ञ किए थे और बड़े बड़े उग्र तप किए थे। ये समस्त बड़े बलवान थे और सब ही अपने कार्य से कुशल थे। (योगः कर्मसु कौशलम्) ॥ ४३ ॥

सर्वैरैश्वर्यमासाद्य भुक्तं भोगैर्महत्तरैः ।
दत्तमिष्टमधीतं च प्रजाश्च परिपालिताः ॥ ४४ ॥

इन लोगों ने बड़े बडे ऐश्वर्य पा कर, विविध प्रकार के भोग भोगे। इन लोगों ने दान दिए, यज्ञ किए, वेदाध्ययन किया और प्रजा का पालन किया है ॥ ४४ ॥

स्वपक्षेष्वनुगोप्तारः महन्तारः परेष्वपि ।
सामरेष्वपि लोकेषु नैतेषां विद्यते समम् ॥ ४५ ॥

इन लोगों ने अपने पक्षवालों की रक्षा की और शत्रुपक्ष का नाश किया। युद्ध करने में त्रिलोकी में ऐसा कोई न था, जो इनका सामना कर सकता हो ॥ ४५ ॥

शूरास्त्वभिजनोपेताः सर्वशास्त्रार्थपारगाः ।
सर्वविद्याप्रवेत्तारः संग्रामेष्वनिवर्तकाः ॥ ४६ ॥

ये सब बडे शूरवीर, कुलीन और समस्त शास्त्रों के पारदर्शी थे। समस्त विद्याओं के जानने वाले और युद्ध से कभी मुख न मोड़ने वाले थे ॥ ४६ ॥

सर्वैस्त्रिदशराज्यानि कारितानि महात्मभिः ।
युद्धे सुरगणाः सर्वे निर्जिताश्च सहस्रशः ॥ ४७ ॥

इन सब ने देवताओं पर प्रभुता की और सहस्रों वार देवताओं को जीता था ॥ ४७ ॥

देवानामप्रिये सक्ताः स्वपक्षपरिपालकाः ।
प्रमत्ताश्चोपसक्ताश्च बालार्कसमतेजसः ॥ ४८ ॥

देवताओं का अहित करने में ये सब सदा निरत रहते थे और अपने पक्ष का पालन किया करते थे । ये सब सदा अभिमान में चूर रहते थे और अपी धुनि में लगे रहते थे । ये सब प्रातःकालीन सूर्य की तरह तेजस्वी थे ॥ ४८ ॥

यस्तु देवान् प्रधर्षेत तदेषां विष्णुरीश्वरः ।
उपायपूर्वकं नाशं स वेत्ता भगवान् हरिः ॥ ४९ ॥

(द्वार पर जो खडे हैं वे ही) भगवान् विष्णु हैं । जो कोई देवताओं का अनादर करता है, उसके ध्वंस करने का उपाय वे ही भगवान् विष्णु जानते हैं ॥ ४९ ॥

प्रादुर्भावं विकुरुते येनैतन्निधनं नयेत् ।
पुनरेवात्मनात्मानमधिष्ठाय स तिष्ठति ॥ ५० ॥

ये किसी ऐसे को उत्पन्न कर देते हैं, जो उपद्रवी का नाश कर डालता है और यह स्वयं अधिष्ठाता के अधिष्ठाता हो बने रहते हैं ॥ ५० ॥

एवमेतेन देवेन दानवेन्द्रा महात्मना ।
ते हि सर्वे क्षयं नीता बलिनः कामरूपिणः ॥ ५१ ॥

उन्हों ने बड़े बड़े कामरूपी महाबलवान दानवेन्द्रों का इस प्रकार नाश किआ है ॥ ५१ ॥

समरे च दुराधर्षाः श्रूयन्ते येऽपराजिताः ।
तेऽपि नीता महद्भूताः कृतान्तबलचोदिताः ॥ ५२ ॥

जो युद्ध में दुर्धर्ष और किसी से न हारने वाले सुने जाते थे, उनको भी उस महापुरुष नें यमलोक भेज दिआ ॥ ५२ ॥

एवमुक्त्वाथ प्रोवाच राक्षसं दानवेश्वरः ।
यदेतद्दृश्यते वीर चक्रं दीप्तानलोपमम् ॥ ५३ ॥
एतद्गृहीत्वा गच्छ त्वं मम पार्श्वं महाबल ।
ततोऽहं तव व्याख्यास्ये मुक्तिकारणमव्ययम् ॥ ५४ ॥

दानवेश्वर बलि ने रावण से इस प्रकार कह कर, फिर कहा कि हे वीर ! यह जो आग की तरह चमचमाता चक्र देख पड़ता है, हे महाबली ! ज़रा इसे उठा कर मेरे निकट तो ले आओ । तब मैं तुमको अपने सदा के लिए बन्धन से छूटने का कारण या उपाय बतला दूँगा ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

[टिप्पणी—चक्र से अभिप्राय गोलाकार कान के कुण्डल से है, क्योंकि आगे ५६ वे श्लोक में कुण्डल का स्पष्ट उल्लेख किआ गया है ।]

तत्कुरुष्व महाबाहो मा विलम्बस्व रावण ।
एतच्छ्रुत्वा गतो रक्षः प्रहसंश्च महाबलः ॥ ५५ ॥
यत्र स्थितं महादिव्यं कुण्डलं रघुनन्दन ।
लीलयोत्पाटनं चक्रे रावणो बलदर्पितः ॥ ५६ ॥

हे महाबली रावण ! मैंने जो काम तुमको बतलाया है, उसे तुम झटपट कर डालो। हे रघुनन्दन ! यह सुन, रावण हँसता हुआ उस दिव्य कुण्डल के पास गया और उसने अपने बल के घमण्ड में आ, बिना प्रयास ही उसे उठाना चाहा ॥५५॥५६॥

न च चालयितुं शक्तो रावणोऽभूत् कथंचन ।
लज्जया स पुनर्भूयो यत्नं चक्रे महाबलः ॥ ५७ ॥

किन्तु उसका उठाना तो जहाँ तहाँ रहा, रावण उसे उसके स्थान से हिला डुला भी न सका। तब तो शर्मा कर उसने बड़े प्रयत्न के साथ अपना पूरा बल लगाकर उठाना चाहा ॥ ५७ ॥

उत्क्षिप्तमात्रे दिव्ये च पपात भुवि राक्षसः ।
छिन्नमूलो यथा शालो रुधिरौघपरिप्लुतः ॥ ५८ ॥

उसने उसे उठाया ही था कि, वह मूर्छित हो पृथिवी पर ऐसे गिर पड़ा; जैसे जड़ से कटा हुआ साखू का पेड़ गिरता है। इतनाही नहीं, बल्कि उसके मुँह से रक्त निकला जिससे वह नहीं उठा ॥ ५८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे जज्ञे शब्दः पुष्पकसम्भवः ॥
राक्षसेन्द्रस्य सचिवैर्मुक्तो हाहाकृतो महान् ॥ ५९ ॥

यह कौतुक देख, पुष्पकविमान में बैठे हुए उसके सचिवों ने बड़ा हाहाकार मचाया ॥ ५९ ॥

ततो रक्षो मुहूर्तेन चेतनां लभ्य चोत्थितम् ।
लज्जयावनतीभूतं बलिर्वाक्यमुवाच ह ॥ ६० ॥

एक मुहूर्त्त भर अचेत रह कर, रावण सचेत हो उठ खड़ा हुआ; किन्तु लज्जा के मारे वह सिर ऊपर न उठा सका। उस समय बलि ने उससे कहा ॥ ६० ॥

आगच्छ राक्षसश्रेष्ठ वाक्यं शृणु मयोदि-म् ।
यत्त्वया चोद्यतं वीर कुण्डलं मणिभूषितम् ॥ ६१ ॥

हे राक्षसश्रेष्ठ! मेरे समीप आ और मैं जो कुछ कहूँ उसे सुन। हे वीर! तू जिस मणिजटित कुण्डल को उठाने गया था ॥ ६१ ॥

एतद्धि पूर्वजस्यासीत् कर्णाभरणमीच्यताम् ।
एतत्पतितवच्चैवमत्र भूमौ महाबल ॥ ६२ ॥

वह मेरे एक पूर्वपुरुष के एक कान का कुण्डल है। हे महा-बली! यह इसी तरह यहाँ पृथिवी पर गिरा था ॥ ६२ ॥

अन्यत्पर्वतसानौ हि पतितं कुण्डलादनु ।
मुकुटं वेदिसामीप्ये पतितं युध्यतो भुवि ॥ ६३ ॥

दूसरे कान का कुण्डल जब वे युद्ध कर रहे थे, तब पर्वत-शृङ्ग पर गिरा था तथा उनके सीस का मुकुट वेदी के पास पृथिवी पर गिरा था ॥ ६३ ॥

हिरण्यकशिपोः पूर्वं मम पूर्वपितामहात् ।
न तस्य कालो मृत्युर्वा न व्याधिर्न विहिंसकाः ॥६४॥
न दिवा मरणं तस्य न रात्रौ सन्ध्ययोर्नहि ।
न शुष्केण न चार्द्रेण न च शस्त्रेण केनचित् ॥६५॥

मेरे पितामह हिरण्यकशिपु थे। उनको काल, मृत्यु या रोग किसी से भी भय न था। दिन में, रात में और दोनों सन्ध्याओं में वे मर नहीं सकते थे। न किसी सूखी और न किसी गीली वस्तु से और न किसी शस्त्र ही से वे मारे जा सकते थे ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

विद्यते राक्षसश्रेष्ठ तस्य नान्येन केनचित् ।
प्रह्लादेन समं चक्रे वादं परमदारुणम् ॥ ६६ ॥

हे राक्षस ! विशेष क्या कहा जाय, किसी शस्त्र से उनकी मृत्यु न थी । किन्तु उन्होंने अपने पुत्र प्रह्लाद के साथ बड़ा झगड़ा किया ॥ ६६ ॥

तस्य वादे समुत्पन्ने घोरो लोकभयङ्करः ।
सर्ववर्यस्य वीरस्य प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ ६७ ॥
उत्पन्नो राक्षसश्रेष्ठ नृसिंहाकृतिरूपधृक् ।
दृष्टं च तेन रौद्रेण क्षुब्धं सर्वमशेषतः ॥ ६८ ॥

उन सर्वश्रेष्ठ महात्मा वीर का जब प्रह्लाद से विवाद उठ खड़ा हुआ, तब हे राक्षसश्रेष्ठ ! वे नृसिंह के रूप में प्रकट हुए । उनका रूप ऐसा भयङ्कर था कि, उस रूप को देख सब में खलबली मच गई ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

तत् उद्धृत्य बाहुभ्यां नखैर्निन्ये यमक्षयम् ।
एष तिष्ठति द्वारस्थो वासुदेवो निरञ्जनः ॥ ६९ ॥

तदनन्तर नृसिंह ने हिरण्यकशिपु को दोनों बाहों से उठा कर, अपने नखों से फाड़ कर मार डाला । हे राक्षस ! वे ही निरञ्जन वासुदेव द्वार पर खड़े हैं ॥ ६९ ॥

तस्य देवाधिदेवस्य गदतो मे शृणुष्व ह ।
वाक्यं परमभावेन यदि ते वर्तते हृदि ॥ ७० ॥

मै उन देवाधिदेव के बारें में जो कुछ कहता हूँ, उसे यदि तुम ध्यान दे कर सुनोगे, तो तुम्हारी समझ में मेरी बातें आ जायँगी ॥ ७० ॥

इन्द्राणां च सहस्राणि सुराणामयुतानि च ।
ऋषीणां चैव मुख्यानां शतान्यब्दसहस्रशः ॥ ७१ ॥
वशं नीतानि सर्वाणि य एष द्वारि तिष्ठति ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७२ ॥

सहस्र इन्द्रों, लक्ष देवताओं और सैकड़ों महर्षियों को जिन्होंने हज़ारों वर्षों तक अपने वश में कर रखा था, वे ही द्वार पर खड़े हैं। राजा बलि की इन बातों को सुन, रावण कहने लगा ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

मया प्रेतेश्वरो दृष्टः कृतान्तः सह मृत्युना ।
पाशहस्तो महाज्वाल ऊर्ध्वरोमा भयानकः ॥ ७३ ॥

हे राजन्! मैंने उन प्रेतराज यमराज को मृत्यु के सहित देखा है जो हाथ में महाज्वालायुक्त पाश लिये हुए थे और जिनके बाल खड़े थे और जिनको देखते लोग भयभीत हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

दंष्ट्रालो विद्युज्जिह्वश्च सर्पवृश्चिकरोमवान् ।
रक्ताक्षो भीमवेगश्च सर्वसत्त्वभयङ्करः ॥ ७४ ॥

उनकी बड़ी बड़ी डाढ़ें थीं और वे बिजुली की तरह जीभ लप लपाते थे। उनके नेत्र लाल थे और उनका बड़ा भयङ्कर वेग था। वे समस्त प्राणियों के लिए भयावह थे ॥ ७४ ॥

आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वनिवर्तकः ।
पापानां शासिता चैव स मया युधि निर्जितः । ७५॥

जैसे सूर्य की ओर सहज में टकटकी बाँध कर कोई नहीं देख सकता, वैसे ही उनकी ओर भी कोई नहीं देख सकता। वे

युद्ध क्षेत्र में कभी पीठ नहीं दिखाते और पापियों को दण्ड दिया करते हैं। ऐसे यमराज को युद्ध में मैंने परास्त कर दिया ॥ ७५ ॥

न च तत्र भीः काचिद्व्यथा वा दानवेश्वर ।

एनं तु नाभिजानामि तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ ७६ ॥

हे दानवेश्वर ! वहाँ तो मुझे ज़रा भी डर नहीं लगा। किंतु मैं इस पुरुष को नहीं जानता। अतः आप बतलाइये कि, यह कौन है ॥ ७६ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा बलिर्वैरोचनोऽब्रवीत् ।

एष त्रैलोक्यधाता च हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ ७७ ॥

रावण के यह वचन सुन विरोचन के पुत्र बलि बोले—हे रावण यह त्रिलोकी के विधानकर्ता नारायण हरि प्रभु हैं ॥७७॥

अनन्तः कपिलो जिष्णुर्नरसिंहो महाद्युतिः ।

क्रतुधामा सुधामा च पाशहस्तो भयानकः ॥ ७८ ॥

ये अनन्त, कपिल, विष्णु और महाद्युतिमान नृसिंह हैं। ये ही यज्ञपुरुष, महातेजस्वी और भयानक पाशहस्त हैं ॥७८॥

द्वादशादित्यसदृशः पुराणपुरुषोत्तमः ।

नीलजीमूतसङ्काशः सुरनाथः सुरोत्तमः ॥ ७९ ॥

ये ही द्वादश आदित्य के समान तेजस्वी, आदिपुरुष और पुरुषोत्तम हैं। इनकी कान्ति नीलमेघ जैसी ही। ये ही सुरनाथ और सुरश्रेठ हैं ॥ ७९ ॥

ज्वालामाली महाबाहो योगी भक्तजनप्रियः ।

एष धारयते लोकानेष वै सृजते प्रभुः ॥ ८० ॥

हे महाबाहो ! ये ज्वाला से घिरे हुए, योगी और भक्त-जन प्रिय हैं। ये ही समस्त लोकों को धारण किए हुए हैं और ये ही उनकी रचना करने वाले हैं ॥ ८० ॥

एष संहरते चैव कालो भूत्वा महाबलः ।
एष यज्ञश्च याज्यश्च चक्रायुधधरो हरिः ॥ ८१ ॥

ये ही महाबली काल बन कर, सब का संहार करते हैं। ये ही यज्ञ हैं और ये ही यज्ञभोक्ता और चक्रायुधधारी हरि हैं ॥ ८१ ॥

सर्वदेवमयश्चैव सर्वभूतमयस्तथा ।
सर्वलोकमयश्चैव सर्वज्ञानमयस्तथा ॥ ८२ ॥

ये सर्वदेवमय, सर्वभूतमय, सर्वलोकमय और सर्वज्ञानमय हैं ॥ ८२ ॥

सर्वरूपी महारूपी बलदेवो महाभुज ।
वीरहा वीरचक्षुष्मांस्त्रैलोक्यगुरुरव्ययः ॥ ८३ ॥

ये ही सर्वरूपी, ये ही महारूपी ये ही बलदेव और ये ही बड़ी भुजाओं वाले (महाबलवान) हैं। ये ही वीरों को मारने वाले, वीरचक्षु, त्रिलोकी के गुरु और अविनाशी हैं ॥ ८३ ॥

एनं मुनिगणाः सर्वे चिन्तयन्तीह मोक्षिणः ।
य एवं वेत्ति पुरुषं न च पापैर्विलिप्यते ॥ ८४ ॥

जितने मुनिगण मोक्ष पाने के अभिलाषी हैं, वे सब इन्हीं का ध्यान किआ करते हैं। जो इन महापुरुष को जान लेते हैं, वे पापों से छूट जाते हैं ॥ ८४ ॥

स्मृत्वा स्तुत्वा तथेष्ट्वा च सर्वमस्मादवाप्यते ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रावणो निर्ययौ तदा ॥ ८५ ॥

जो इनका स्मरण, स्तुति और दर्शन करता है, उसके सकल अभीष्ट पूरे होते हैं। यह सुन कर रावण वहाँ से चल दिया ॥ ८५ ॥

क्रोधसंरक्तनयन उद्यतास्त्रो महाबलः ।
तथाभूतं च तं दृष्ट्वा हरिर्मुसलधृक्प्रभुः ॥ ८६ ॥

उस समय क्रोध के मारे उस महाबली की आँखें लाल हो गई थीं और वह अस्त्र उठाए हुए था। मुसलधारी, प्रभु नारायण ने उसकी यह दशा देख, ॥ ८६ ॥

नैनं हन्म्यधुना पापं चिन्तयित्वेति रूपधृक् ।
अन्तर्धानं गतो राम ब्रह्मणः प्रियकाम्यया ॥ ८७ ॥

विचारा कि, मै अभी इस पापी को नहीं मारूँगा। अतः हे राम ! ब्रह्मा को प्रसन्न करने। की इच्छा से वे अन्तर्धान हो गए ॥ ८७ ॥

न च तं पुरुषं तत्र पश्यते रजनीचरः ।
हर्षान्नादं विमुञ्चन् वै निष्क्रामन् वरुणालयात् ॥८८॥

रावण ने जब उनको द्वार पर न पाया, तब हर्षित हो, उसने हर्षनाद किआ। और वह वरुणालय से निकला ॥ ८८ ॥

येनैव सम्प्रविष्टः स पथा तेनैव निर्ययौ ॥ ८९ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः ।

जिस मार्ग से वह वहाँ गया था, उसी मार्ग से वहाँ से निकल कर चला आया ॥ ८६ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः

—:o:—

अथ सञ्चिन्त्य लङ्केशः सूर्यलोकं जगाम ह ।
मेरुशृङ्गवरे रम्ये उषित्वा तत्र शर्वरीम् ॥ १ ॥

अब लङ्केश कुछ सोच विचार कर, सूर्यलोक में गया । रास्ते में सुमेरु पर्वत के प्रधान रमणीक शिखर पर उसने रात व्यतीत की ॥ १ ॥

पुष्पकं तत्समारुह्य रवेस्तुरगसन्निभम् ।
नानापातगतिर्दिव्यं विहारवियतिस्थितम् ॥ २ ॥

फिर वह, सूर्य के घोड़ों की तरह शीघ्रगामी पुष्पकविमान में बैठ, विचित्र गति से आकाश मे विहार करता हुआ सूर्य-मण्डल में जा पहुँचा ॥ २ ॥

यत्रापश्यद्रविं देवं सर्वतेजोमयं शुभम् ।
वरकाञ्चनकेयूररत्नाम्बरविभूषितम् ॥ ३ ॥

उसने वहाँ जा कर देखा कि, समस्त तेज से युक्त, शुभ, दिव्य सोने के बाजूबंद धारण किए और रत्नाम्बर-विभूषित सूर्य भगवान् विराजमान हैं ॥ ३ ॥

कुण्डलाभ्यां शुभाभ्यां तु भ्राजन् मुखविकासितम् ।
केयूरनिष्काभरणं रक्तमालावलम्बिनम् ॥ ४ ॥

उनका मुखमण्डल दिव्य कुण्डलों से शोभायमान है। गले में निष्क गुञ्ज या गोप, और भुजाओं में वे बाजूबंद पहिने हुए हैं तथा लाल रंग के फूलों का माला धारण किए हुए हैं ॥ ४ ॥

रक्तचन्दनदिग्धाङ्गं सहस्रकिरणोज्ज्वलम् ।
तमादिदेवमादित्यमुच्चैःश्रवसवाहनम् ॥ ५ ॥

शरीर में लाल चंदन लगाए हुए और सहस्र किरणों से प्रकाशमान हो रहे हैं। वे आदिदेव सूर्य नारायण उच्चैःश्रवा जाति के घोड़ों से जुते हुए रथ पर सवार हैं॥ ५ ॥

अनाद्यन्तममध्यं च लोकसाक्षिं जगत्पतिम् ।
तं दृष्ट्वा प्रवरं देवं रावणो रक्षसां वरः ॥ ६ ॥

आदि, अन्त और मध्य-रहित, लोकसाक्षी, जगत्पति, देव-श्रेष्ठ सूर्य भगवान् को, राक्षसश्रेष्ठ ने देखा ॥ ६ ॥

स प्रहस्तमुवाचाथ रवितेजोबलार्दितः ।
गच्छामात्य वदस्वैनं निदेशात् मम शासनम् ॥ ७ ॥

सूर्य के तेजो बल से पीड़ित रावण ने, प्रहस्त से कहा —हे सचिव ! तुम सूर्य के पास जा कर, मेरी यह आज्ञा उनको सुना दो कि, ॥ ७ ।

युद्धार्थं रावणः प्राप्तो युद्धं तस्य प्रदीयताम् ।
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूहि पक्षमेकतरं कुरु ॥ ८ ॥

रावण तुम से लड़ने के लिए आया है, अत: उसके साथ युद्ध करो अथवा अपनी हार स्वीकार करो। इन दो में से एक बात शीघ्र होनी चाहिए ॥ ८ ॥

तस्य तद्वचनाद्रक्षः सूर्यस्यान्तिकमागमत्।
पिङ्गलं दण्डिनं चैव पश्य ते द्वारपालकौ ॥ ९ ॥

यह सुन कर प्रहस्त सूर्य के पास गया और उनके पिङ्गल और दण्डी नामक दो द्वारपालों से मिला ॥ ९ ॥

ताभ्यामाख्याय तत्सर्वं रावणस्य विनिश्चयम्।
तूष्णीमास्ते प्रहस्तस्तु तत्र तेजोंशुदीपितः ॥ १० ॥

उसने उनसे रावण का सन्देश कहा और वह वहाँ चुपचाप खड़ा हो गया। क्योंकि सूर्य की किरणों के ताप से वह उत्तप्त हो रहा था। १० ॥

दण्डी गतो रवेः पार्श्वं प्रणम्याख्यातवान् रवेः।
श्रुत्वा तु सूर्यस्तद्वाक्यं दण्डिनो रावणस्य ह ॥ ११ ॥

दण्डी अर्थात् द्वारपाल ने सूर्य भगवान् के निकट जा और उनको प्रणाम कर, उनसे रावण का सँदेसा कहा। दण्डी के मुख से रावण का सँदेशा सुन, ॥ ११ ॥

उवाच वचनं धीमान् बुद्धिपूर्वं तमोपहः
गच्छ दण्डिन् जयस्वैनं निर्जितोऽस्मीति वा वद ॥ १२ ॥

विचारवान् सूर्यदेव सोच विचार कर बोले—हे दण्डिन! तुम जा कर या तो उसे युद्ध में परास्त करो अथवा उससे यह कह दो कि, मैं हार गया ॥ १२ ॥

यत्ते ऽभिकाङ्क्षितं कार्यं: कश्चित् कालं त्तपाचरम् ।
स गत्वा वचनात्तस्य राक्षसस्य महात्मनः ॥ १३ ॥

अथवा जैसा चाहो वैसा उसके साथ व्यवहार करो। सूर्य की आज्ञा से वह रावण के पास गया ॥ १३ ॥

कथयामास तत्सर्वं सूर्योक्तवचनं तदा ।
स श्रुत्वा वचनं तस्य दण्डिनो राक्षसेश्वरः ।
घोषयित्वा जगामाथ स्वजयं राक्षसाधिपः ॥ १४ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः ॥

और सूर्य ने जो कहा था सो उसको सुना दिया। राक्षस-राज रावण ने दण्डी के बचन सुन, अपने नाम से विजय-घोषणा कर वहाँ से प्रस्थान किया ॥ १४ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त दूसरा सर्ग पूरा हुआ।

—※—

प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः

—:o:—

अथ सञ्चिन्त्य लङ्केशः सोमलोकं जगाम ह ।
मेरुशृङ्गवरे रम्ये रजनीमुष्य वीर्यवान् ॥ १ ॥

तदनन्तर रावण कुछ सोच विचार कर और रास्ते में एक रात मेरुपर्वत के शिखर पर विता कर, सवेरा होते ही चन्द्र-लोक में जा पहुँचा ॥ १ ॥

अथ स्यन्दनमारूढो दिव्यस्रगनुलेपनः ।
अप्सरोगणमुख्येन सेव्यमानस्तु गच्छति ॥ २ ॥

वहाँ जा कर राक्षसराज रावण ने देखा कि, दिव्य पुष्पों की माला पहिने और दिव्य चन्दनादि लगाए और मुख्य मुख्य अप्सराओं सहित एक पुरुष रथ में बैठा हुआ चला जा रहा है ॥ २ ॥

रतिश्रान्तोऽप्सरोङ्केषु चुम्बितः स विबुध्यते ।
दृष्टस्तु पुरुषस्तेन दृष्ट्वा कौतूहलान्वितः ॥ ३ ॥

जब वह रति से थक जाता था, तब अप्सराएँ उसको अपनी गोद में ले कर चूमती थीं । फिर वह जाग जाता था । यह देख रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३ ॥

अथापश्यदृषिं तत्र दृष्ट्वा चैवमुवाच तम् ।
स्वागतं तव देवर्षे कालेनैवागतो ह्यसि ॥ ४ ॥

इतने ही में रावण को (पर्वत नामक) एक ऋषि देख- पड़े । उनको देख रावण ने उनसे कहा कि, हे देवर्षे ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ । तुमने अच्छे समय पर दर्शन दिए ॥ ४ ॥

कोऽयं स्यन्दनमारूढो ह्यप्सरोगणसेवितः ।
निर्लज्ज इव संयाति भयस्थानं न विन्दति ॥ ५ ॥

तुम यह तो बतलाओ कि अप्सराओ से सेवित और रथ पर सवार हो, निर्लज्ज मनुष्य की तरह यह कौन चला जाता है । इसे उपस्थित भय की कुछ चिन्ता ही नहीं है ॥ ५ ॥

रावणेनैवमुक्तस्तु पर्वतो वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु वत्स यथातत्त्वं वक्ष्ये चाहं महामते ॥ ६ ॥

रावण के इस प्रकार कहने पर पर्वत ऋषि बोले—हे वत्स! हे महामते! मैं इसका यथार्थ वृत्तान्त कहता हूँ सुनो ॥ ६ ॥

अनेन निर्जिता लोका ब्रह्मा चैवाभितोषितः ।
एष गच्छति मोक्षाय सुसुखं स्थानमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इसने तपोबल से समस्त लोकों को जीत लिआ है और ब्रह्मा जी को भी सन्तुष्ट किआ है। अब यह मोक्ष के लिए सुखमय उत्तम स्थान को जा रहा है॥ ७ ॥

तपसा निर्जिता यद्वद्भवता राक्षसाधिप ।
प्रयाति पुण्यकृत्तद्वत् सोमं पीत्वा न संशयः ॥ ८ ॥

हे राक्षसाधिप! जैसे आपने तपस्या कर लोकों को जीता है, वैसे ही हे वत्स! यह पुण्यात्मा सोमपान करता हुआ जा रहा है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

त्वं तु राक्षसशार्दूल शूरः सत्यपराक्रमः
नैवेदृशेषु क्रुद्ध्यन्ति बलिनो धर्मचारिषु ॥ ९ ॥

तुम तो राक्षसशार्दूल हो, शूर हो और सत्यपराक्रमी हो। अतः (तुम जैसे) बलवान् पुरुष ऐसे धर्मात्मा जनों के ऊपर क्रोध नहीं करते ॥ ९ ॥

अथापश्यद्रथवरं महाकायं महौजसम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा गीतवादित्रनिःस्वनैः ॥ १० ॥

इतने में रावण ने एक दूसरा विशाल उत्तम रथ देखा। यह रथ अपनी चमक से चमक रहा था। उसके भीतर गाना बजाना हो रहा था॥ १० ॥

कैष गच्छति देवर्षे भ्राजमानो महाद्युतिः।
किन्नरैश्च प्रगायद्भिर्नृत्यद्भिश्च मनोरमम्॥ ११ ॥

(उसे देख) रावण ने मुनि से पूछा—हे देवर्षे! यह महा द्युतिमान् पुरुष जो गाते और नाचते हुए किन्नरों के साथ जा रहा है, कौन है और कहाँ को जाता है॥ ११ ॥

श्रुत्वा चैनमुवाचाथ पर्वतो मुनिसत्तमः।
एष शूरो रणे योद्धा संग्रामेष्वनिवर्तकः॥ १२ ॥

यह सुन कर, ऋषिश्रेष्ठ पर्वत ने रावण से कहा—यह बड़ा शूर योद्धा है। समरभूमि में इसने कभी पीठ नहीं दिखलाई॥ १२ ॥

युध्यमानस्तथैवैष प्रहारैर्जर्जरीकृतः।
कृती शूरो रणेजेता स्वाम्यर्थे त्यक्तजीवितः॥ १३ ।

यह बड़ा शूर है, चतुर है और कितने ही युद्ध इसने जीते हैं। यह युद्ध में लड़ता लड़ता, प्रहारों से जर्जरित हो, मारा गया है। इसने अपने मालिक के लिए प्राण गँवाए हैं॥ १३ ॥

संग्रामे निहतोऽमित्रैर्हत्वा च समरे बहून्।
इन्द्रस्यातिथिरेवैष अथवा यत्र गच्छति॥ १४ ॥

इसने युद्ध में अनेक शत्रुओं को मारा है। अब यह इन्द्र का अतिथि है अर्थात् स्वर्ग में जा रहा है। अथवा किसी अन्य पुण्यलोक में जा रहा है॥ १४ ॥

नृत्यगीतपरैर्लोकैः सेव्यते नरसत्तमः ।

पप्रच्छ रावणो भूयः कोऽयं यात्यर्कसन्निभः ॥ १५ ॥

इसीसे यह नरश्रेष्ठ गाने बजाने वाले किन्नरों के साथ जा रहा है। तदनन्तर रावण ने फिर पूँछा कि, सूर्य के समान द्युतिमान् यह कौन पुरुष जा रहा है? ॥ १५ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा पर्वतो वाक्यमब्रवीत् ।

य एष दृश्यते राजन् विमाने सर्वकाञ्चने ॥ १६ ॥

रावण के इस प्रश्न को सुन, पर्वत मुनि बोले—हे राजन्! जो यह सोने के विमान पर चढ़ा हुआ दिखलाई पड़ता है ॥१६॥

अप्सरोगणसंयुक्ते पूर्णचन्द्रनिभाननः ।

सुवर्णदो महाराज विचित्राभरणाम्बरः ॥ १७ ॥

और जो अप्सराओं के साथ चला जाता है और जो पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुखवाला है, इसने सुवर्ण का दान किया है। इसीसे विचित्र वस्त्राभूषणसे भूषित हो ॥ १७॥

एष गच्छति शीघ्रेण यानेन तु महाद्युतिः ।

पर्वतस्य वचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

यह महाकान्तिमान् शीघ्रगामी सवारी पर सवार हो, जा रहा है। पर्वत के इस वचन को सुन रावण ने कहा ॥ १८ ॥

एते वै यान्ति राजानो ब्रूहि त्वमृषिसत्तम ।

कोऽह्यत्र याचितो दद्याद्युद्धातिथ्यं ममाद्य वै ॥ १९ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ! इतने राजा चले जाते हैं, क्या इनमें ऐसा भी राजा है, जो प्रार्थना करने से युद्ध द्वारा मेरा आतिथ्य करे ॥ १९ ॥

तं ममाख्याहि धर्मज्ञ पिता मे त्वं हि धर्मतः ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच रावणं पर्वतस्तदा ॥ २० ॥

हे धर्मज्ञ ! तुम धर्म के मेरे पिता हो । मुझसे युद्ध करने योग्य किसी राजा को तुम मुझे वतला दो । यह कहने पर पर्वत ने रावण से कहा ॥ २० ॥

स्वर्गार्थिनो महाराज नैते युद्धार्थिनो नृपाः ।
वक्ष्यामि ते महाभाग यस्ते युद्धं प्रदास्यति ॥ २१ ॥

हे महाराज ! ये सब राजा तो स्वर्गवास की चाहना रखने वाले हैं, युद्धाभिलाषी नहीं हैं । हे महाभाग ! जो राजा तुमसे लडेगा उसका नाम मैं तुम्हें वतलाये देता हूँ ॥ २१ ॥

स तु राजा महातेजाः सप्तद्वीपेश्वरो महान् ।
मान्धातेत्यभिविख्यातः स ते युद्धं प्रदास्यति ॥ २२ ॥

सात द्वीपों के अधीश्वर, अति तेजस्वी मान्धाता नाम के एक प्रसिद्ध राजा हैं । वे तेरे साथ युद्ध करेंगे ॥ २२ ॥

पर्वतस्य वचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
कुतोसौ तिष्ठते राजा तत्समाचक्ष्व सुव्रत ॥ २३ ॥

पर्वत के यह वचन सुन, रावण ने उनसे कहा—हे सुव्रत ! यह राजा कहाँ रहता है ? तुम सविस्तर मुझे वतलाओ ॥२३॥

सोहं यास्यामि तत्रैव यत्रासौ नरपुङ्गवः ।
रावणस्य वचः श्रुत्वा मुनिर्वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

जिससे मैं वहीं जाऊँ, जहाँ वह पुरुषश्रेष्ठ (राजा) रहता है । रावण का वचन सुन, मुनि जी बोले ॥ २४ ॥

युवनाश्वसुतो राजा मान्धाता राजसत्तमः ।
सप्तद्वीपसमुद्रान्तां जित्वेहास्यागमिष्यति ॥ २५ ॥

नृपश्रेष्ठ मान्धाता, महाराज युवनाश्व के पुत्र हैं। सप्तद्वीपमयी आसमुद्रान्त समस्त पृथिवी को जीत यहाँ आवेंगे ॥ २५ ॥

अथापश्यन् महाबाहुस्त्रैलोक्ये वरदर्पितः ।
अयोध्यायाः पतिं वीरं मान्धातारं नृपोत्तमम् ॥ २६ ॥

इतने में त्रिलोकी में विख्यात और वरगर्वित महाबली रावण ने देखा कि, अयोध्याधिपति नृपश्रेष्ठ वीर महाराज मान्धाता, ॥ २६ ॥

सप्तद्वीपाधिपं यान्तं चन्दनेन विराजता ।
काञ्चनेन विचित्रेण माहेन्द्राभेण भास्वता ॥ २७ ॥

जो सातों द्वीपों के अधीश्वर हैं दिव्यचन्दन लगाए और इन्द्र के रथ की तरह चमचमाते सोने के विचित्र रथ पर बैठे हुए आ रहे हैं; ॥ २७ ॥

जाज्वल्यमानं रूपेण दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
तमुवाच दशग्रीवो युद्धं मे दीयतामिति ॥ २८ ॥

वे अपने रूप से प्रकाशमान हैं और दिव्यगन्धयुक्त अनुलेपन (चन्दनादि) लगाए हुए हैं। उनसे रावण ने कहा कि, आप मुझसे युद्ध कीजिए ॥ २८ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवं प्रहस्येदमुवाच ह ।
यदि ते जीवितं नेष्टं ततो युद्धस्व राक्षस ॥ २९ ॥

यह सुन कर, महाराज मान्धाता ने हँस कर उससे कहा— हे राक्षस! यदि तुझे अपना जीवन भार मालूम पड़ता हो, तो तू मुझसे लड़ ॥ २९ ॥

मान्धातुर्वचनं श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
वरुणस्य कुबेरस्य यमस्यापि न विव्यथे ॥ ३० ॥

महाराज मान्धाता के ये वचन सुन, रावण कहने लगा—जो रावण वरुण, कुबेर और यम तक से युद्ध करने में व्यथित न हुआ; ॥ ३० ॥

किं पुनर्मानुषात्त्वत्तो रावणो भयमाविशेत् ।
एवमुक्त्वा राक्षसेन्द्रः क्रोधात् संप्रज्वलन्निव ॥ ३१ ॥

वह रावण भला तुम्ह मनुष्य से क्या डरेगा ? यह कह कर रावण ने क्रोध से आग बबूला हो ॥ ३१ ॥

आज्ञापयामास तदा राक्षसान् युद्धदुर्मदान् ।
अथ क्रुद्धास्तु सचिवा रावणस्य दुरात्मनः ॥ ३२ ॥

अपने साथी युद्धदुर्मद राक्षसों को लड़ने की आज्ञा दी । दुरात्मा रावण के मंत्री क्रुद्ध हुए ॥ ३२ ॥

ववर्षुः शरजालानि क्रुद्धा युद्धविशारदाः ।
अथ राज्ञा बलवता कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ॥ ३३ ॥

और वे रणनिपुण राक्षस बाण बरसाने लगे । तब महाबली महाराज मान्धाता ने कंकपत्र युक्त पैने पैने ॥ ३३ ॥

इषुभिस्ताडिताः सर्वे प्रहस्तशुकसारणाः ।
महोदरविरूपाक्षा ह्यकम्पनपुरोगमाः ॥ ३४ ॥

बाणों से प्रहस्त, शुक, सारण, महोदर, विरूपाक्ष, अकम्पनादि मुख्य राक्षसों को व्यथित किआ ॥ ३४ ॥

अथ प्रहस्तस्तु नृपमिषुवर्षैरवाकिरत् ।
अप्राप्तानेव तान् सर्वान् प्रचिच्छेद नृपोत्तमः ॥ ३५ ॥

प्रहस्त ने बाण वर्षा कर महाराज मान्धाता को ढक दिया। किन्तु उन सब बाणों को नृपश्रेष्ठ महाराज ने, अपने पास आने के पूर्व ही काट कर गिरा दिआ ॥ ३५ ॥

भुशुण्डीभिश्च भल्लैश्च भिन्दिपालैश्च तोमरैः ।
नरराजेन दह्यन्ते तृणभारा इवाग्निना ॥ ३६ ॥

आग जिस प्रकार तिनकों को जला कर भस्म कर डालती है, नरराज महाराज मान्धाता ने उसी प्रकार राक्षसों की सेना को सैकड़ों भुशुण्डियों, भालों, भिन्दिपालों और तोमरों से विदीर्ण कर डाला ॥ ३६ ॥

ततो नृपवरः क्रुद्धः पञ्चभिः प्रबिभेद तम् ।
तोमरैश्च महावेगैः पुनः क्रौञ्चमिवाग्निजः ॥ ३७ ॥

अग्निकुमार कार्तिकेय ने जैसे अपने तीरों से क्रौञ्चपर्वत को विदीर्ण कर डाला था, वैसे ही मान्धाता ने क्रोध में भर, पाँच अति वेगवान् तोमरों से प्रहस्त को घायल किआ ॥ ३७ ॥

ततो मुहुर्भ्रामयित्वा मुद्गरं यमसन्निभम् ।
प्राहरत् सोऽतिवेगेन राक्षसस्य रथं प्रति ॥ ३८ ॥

तदनन्तर महाराज ने यम के समान भयङ्कर मुद्गर को कई बार घुमा कर, रावण के रथ पर फैंका ॥ ३८ ॥

[टिप्पणी—रावण तो पुष्पकविमान में बैठ कर घूमता फिरता था। उसके पास चन्द्रलोक में रथ कहाँ से आया ? इन प्रक्षिप्त सर्गों के बनाने वाले महात्मा ने इस बात का ध्यान नहीं रखा।]

स पपात महावेगो मुद्गरो वज्रसन्निभः ।
स तूर्णं पातितस्तेन रावणः शक्रकेतुवत् ॥ ३९ ॥

वज्र के तुल्य मुद्गर महावेग से रावण के रथ के ऊपर गिरा । उसके गिरने से इन्द्रध्वज की तरह रावण रथ के नीचे गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

तदा स नृपतिः प्रीत्या हर्षोद्गतबलो बभौ ।
सकलेन्दुकलाः स्पृष्ट्वा यथाम्बु लवणांभसः ॥ ४० ॥

उस समय महाराज मान्धाता ऐसे प्रसन्न हुए, जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा को छूने के लिए क्षीर समुद्र हर्षित हो, उमड़ता है ॥ ४० ॥

ततो रक्षो बलं सर्वं हाहा भूतमचेतनम् ।
परिवार्याथ तं तस्थौ राक्षसेन्द्रं समन्ततः ॥ ४१ ॥

रावण की सेना के लोग हाहाकार करते हुए मूर्छित रावण को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गए ॥ ४१ ॥

ततश्चिरात् समाश्वास्य रावणो लोकरावणः ।
मान्धातुः पीडयामास देहं लङ्केश्वरो भृशम् ॥ ४२ ।

बहुत देर बाद रावण को चेत हुआ । चेत होने पर लोकों को रुलाने वाले रावण ने महाराज मान्धाता पर बड़े बड़े शस्त्र चलाए और वह उन्हें बहुत पीड़ित करने लगा ॥ ४२ ॥

मूर्च्छितं त नृपं दृष्ट्वा प्रहृष्टास्ते निशाचराः ।
चुक्रुशुः सिंहनादांश्च प्रदवेलन्तो महाबलाः ॥ ४३ ॥

रावण के प्रहारों से महाराज मान्धाना भी मूर्च्छित हो गए । उनके मूर्च्छित होते ही राक्षस सिंहनाद करके गर्जने और उछलने लगे ॥ ४३ ॥

लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन अयोध्याधिपतिस्तदा ।
दृष्ट्वा तं मन्त्रिभिः शत्रुं पूज्यमानं निशाचरैः ॥ ४४ ॥

किन्तु मुहूर्त भर ही मूर्च्छित रह, अयोध्यापति महाराज मान्धाता सचेत हो गए। सचेत होने पर उन्होंने देखा कि, रावण के मंत्री रावण की बड़ी बड़ाई कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

जातकोपो दुराधर्षश्चन्द्रार्कसदृशद्युतिः ।
महता शरवर्षेण पातयद्राक्षसं बलम् ॥ ४५ ॥

यह देख, दुराधर्ष और चन्द्रमा की तरह द्युतिमान महाराज मान्धाता अत्यन्त क्रुद्ध हुए और बाणों की वर्षा से राक्षसी सेना को ध्वस्त करने लगे ॥ ४५ ॥

चापस्यैव निनादेन तस्य बाणरवेण च ।
सञ्चचाल ततः सैन्यमुद्भूत इव सागरः ॥ ४६ ॥

उस समय खलबलाते हुए समुद्र की तरह महाराज मान्धाता के धनुष की टंकार से और बाणों की सरसराहट से रावण की सेना खलबला उठी ॥ ४६ ॥

तद्युद्धमभवद्घोरं नरराक्षससङ्कुलम् ।
अथाविष्टौ महात्मानौ नरराक्षस सत्तमौ ॥ ४७ ॥

इस प्रकार नर और राक्षस का घोर संग्राम होने लगा। तदनन्तर महात्मा नरराज मान्धाता और राक्षसश्रेष्ठ रावण ॥ ४७ ॥

कार्मुकासिधरौ वीरौ वीरासनगतौ तदा ।
मान्धाता रावणं चैव रावणश्चैव तं नृपम् ॥ ४८ ॥

धनुष और तलवार ले और वीरासन बाँध लड़ने लगे ॥४८॥

क्रोधेन महताविष्टौ शरवर्षं मुमोचतुः ।
तौ परस्परसंक्षोभात् प्रहारैःक्षतविक्षतौ ॥ ४९ ॥

दोनों ही महाक्रोध में भर एक दूसरे के ऊपर बाणों की वर्षा करने लगे। उस समय क्षुब्ध हो कर प्रहार करते हुए, दोनों ही के शरीर शस्त्रों के आघात से घायल हो गए ॥४९॥

कार्मुकेऽस्त्रं समाधाय रौद्रमस्त्रमयुञ्जत ।
आग्नेयेन तु मान्धाता तदस्त्रं पर्यवारयत् ॥ ५० ॥

रावण ने धनुष पर रौद्रास्त्र रख कर छोड़ा, तब मान्धाता ने आग्नेयास्त्र से उसको निवारण किया ॥ ५० ॥

गान्धर्वेण दशग्रीवो वारुणेन च राजराट् ।
गृहीत्वा स तु ब्रह्मास्त्रं सर्वभूतभयावहम् ॥ ५१ ॥

जब रावण ने गन्धर्वास्त्र चलाया, तब मान्धाता ने उसको वारुणास्त्र से निवारण किया । फिर रावण ने सब प्राणियों को भयभीत करने वाला ब्रह्मास्त्र उठाया ॥ ५१ ॥

वेदयामास मान्धाता दिव्यं पाशुपतं महत् ।
तदस्त्रं घोररूपं तु त्रैलोक्यभयवर्धनम् ॥ ५२ ॥

तब महाराज मान्धाता ने दिव्य पाशुपतास्त्र हाथ में लिया त्रिलोकी को भयभीत करने वाले उस महाभयङ्कर अस्त्र को ॥५२॥

दृष्ट्वा त्रस्तानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
वरदानात्तु रुद्रस्य तपमाराधितं महत् ॥ ५३ ॥

देख कर, सब चराचर प्राणी त्रस्त हो गए। उस अस्त्र को महाराज ने तप द्वारा महादेव जी को प्रसन्न कर वरदान में पाया था ॥ ५३ ॥

ततः संकम्पते सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
देवाः संकम्पिताः सर्वे लयं नागाश्च सङ्गताः ॥ ५४ ॥

उस समय चराचर समेत तीनों लोक थर्रा उठे। देवता काँप उठे और नाग भाग कर पाताल में घुस गए ॥ ५४ ॥

अथ तौ मुनिशार्दूलौ ध्यानयोगादपश्यताम् ।
पुलस्त्यो गालवश्चैव वारयामास तं नृपम् ॥ ५५ ॥

इसी बीच में मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्य जी और गालव ने योग-बल से इस भावी अनर्थ को जान लिआ। तब वे दोनों वहाँ पहुँचे और मान्धाता को उस महास्त्र के चलाने से रोका ॥ ५५ ॥

सोपालंभैश्च विविधैर्वाक्यै राक्षससत्तमम् ।
तौ तु कृत्वा तदा प्रीतिं नरराक्षसयोस्तदा ।
संप्रस्थितौ सुसंहृष्टौ पथा येनैव चागतौ ॥ ५६ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः ॥

उन्होंने रावण को विविध प्रकार के वचन कह कर धिक्कारा भी। तदनन्तर महाराज मान्धाता और राक्षसराज रावण में मैत्री हो गई और दोनों ही हर्षित होते हुए जिस मार्ग से आए थे; उसी मार्ग से चले गए ॥ ५६ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त तीसरा सर्ग पूरा हुआ।

प्रक्षिप्तेषु चतुर्थः सर्गः

—: :—

गताभ्यामथ विप्राभ्यां रावणो राक्षसाधिपः ।
दशयोजनसाहस्रं प्रथमं तु मरुत्पथम् ॥ १ ॥

उन दोनों ब्राह्मणों (पुलस्त्य और गालव) के चले जाने पर राक्षसराज रावण दस सहस्र योजन की दूरी पर प्रथम वायुमार्ग में चला गया ॥ १ ॥

यत्र तिष्ठन्ति नित्यं हि हंसाः सर्वगुणान्विताः ।
अथ ऊर्ध्वं तु गत्वा वै मरुत्पथमनुत्तमम् ॥ २ ॥

जहाँ पर सर्वगुणसम्पन्न हंस पक्षी सदा रहते हैं । इससे भी ऊँचे दूसरे पवनमार्ग में रावण चढ़ गया ॥ २ ॥

दशयोजनसाहस्रं तदेव परिगण्यते ।
तत्र सन्निहिता मेघास्त्रिविधा नित्यशः स्थिताः ॥ ३ ॥

इस वायुमण्डल का परिमाण भी दस सहस्र योजन का माना जाता है । यहाँ तीन प्रकार के मेघ सदा रहते हैं ॥ ३ ॥

आग्नेयाः पक्षिणो ब्राह्मास्त्रिविधास्तत्र ते स्थिताः ।
अथ गत्वा तृतीयं तु वायोः पन्थानमुत्तमम् ॥ ४ ॥

ये अग्नि, पक्षज और ब्रह्मज यहाँ सदा रहते हैं । तदनन्तर रावण दूसरे से तीसरे वायुमार्ग में चढ़ गया जो कि, बड़ा उत्तम है ॥ ४ ॥

नित्यं यत्र स्थिताः सिद्धाश्चारणाश्च मनस्विनः ।
दशैव तु सहस्राणि योजनानां तथैव च ॥ ५ ॥

वहाँ बड़े बड़े मनस्वी सिद्ध और चारण वास करते हैं। इसका भी परिमाण दस सहस्र योजन का है॥ ५॥

चतुर्थं वायुमार्गं तु शीघ्रं गत्वा परन्तप।
वसन्ति यत्र नित्यस्था भूताश्च सविनायकाः॥ ६॥

शत्रुविनाशी राक्षसराज रावण शीघ्र तीसरे से चौथे वायुमण्डल में पहुँचा यहाँ पर भूत और विनायकगण सदा वास किया करते हैं॥ ६॥

अथ गत्वा स वै शीघ्रं पञ्चमं वायुगोचरम्।
दशैव च सहस्राणि योजनानां तथैव च॥ ७॥

चौथे वायुमण्डल से रावण तुरन्त पाँचवें वायुमण्डल में पहुँचा। इस मण्डल का भी परिमाण दस सहस्र योजन का है॥ ७॥

गङ्गा यत्र सरिच्छ्रेष्ठा नागा वै कुमुदादयः।
कुञ्जरास्तत्र तिष्ठन्ति ये तु मुञ्चन्ति सीकरम्॥ ८॥

यहाँ पर नदियों में श्रेष्ठ श्रीगङ्गा और कुमुदादि हाथी रहते हैं; जो जल की बूँदें टपकाया करते हैं॥ ८॥

गङ्गातोयेषु क्रीडन्ति पुण्यं वर्षन्ति सर्वशः।
ततो रविकरभ्रष्टं वायुना पेशलीकृतम्॥ ९॥

ये बड़े बड़े गजेन्द्र श्रीगङ्गा जी में विहार करते और पवित्र जल बरसाया करते हैं। वहाँ सूर्य की किरणों से छूटा हुआ और पवन द्वारा निर्मल॥ ९॥

जलं पुण्यं प्रपतति हिमं वर्षति राघव
ततो जगाम षष्ठं स वायुमार्गं महाद्युते ॥ १० ॥

और पवित्र हो कर जल गिरता है। हे राम! वहाँ हिम की भी वर्षा होती है। हे महाद्युते! फिर रावण छठवे वायुमण्डल में गया ॥ १० ॥

योजनानां सहस्राणि दशैव तु स राक्षसः।
यत्रास्ते गरुडो नित्यं ज्ञातिबान्धवसत्कृतः ॥ ११ ॥

इस वायुमण्डल का भी परिमाण दस सहस्र का है। वहाँ गरुड़ जी अपने कुटुम्बियों और बान्धवों से सत्कारित हो रहा करते हैं ॥ ११ ॥

दशैव तु सहस्राणि योजनानां तथोपरि।
सप्तमे वायुमार्गे च यत्रैते ऋषयः स्मृताः ॥ १२ ॥

तदनन्तर रावण दस सहस्र योजन के भी ऊपर सातवें वायुमण्डल में, जहाँ सप्तर्षिगण वास करते हैं, गया ॥ १२ ॥

अत ऊर्ध्वं तु गत्वा वै सहस्राणि दशैव तु।
अष्टमं वायुमार्गं तु यत्र गङ्गा प्रतिष्ठिता ॥ १३ ॥

तदनन्तर रावण दस सहस्र योजन के भी ऊपर आठवें वायुमण्डल में गया, जहाँ पर श्रीगङ्गा जी हैं ॥ १३ ॥

आकाशगङ्गा विख्याता आदित्यपथसंस्थिता।
वायुना धार्यमाणा सा महावेगा महास्वना ॥ १४ ॥

उन महावेग वाली और महाशब्द करने वाली, प्रसिद्ध आकाशगङ्गा को पवन आदित्य मार्ग में धारण किए हुए हैं ॥ १४ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि चन्द्रमा यत्र तिष्ठति ।
अशीतिं तु सहस्राणि योजनानां प्रमाणतः ॥ १५ ॥

आठवें वायुमण्डल के ऊपर चन्द्रमा हैं। यह अस्सी हज़ार योजन की दूरी पर है ॥ १५ ॥

चन्द्रमास्तिष्ठते यत्र नक्षत्रग्रहसंयतः ।
शतं शतसहस्राणि रश्मयश्चन्द्रमण्डलात् ॥ १६ ॥

यहीं पर नक्षत्रों और ग्रहों सहित चन्द्रमा विराजमान हैं। चन्द्रमण्डल से सैकड़ों हज़ारों किरनें निकलती हैं ॥ १७ ॥

प्रकाशयन्ति लोकांस्तु सर्वसत्त्वसुखावहाः ।
ततो दृष्ट्वा दशग्रीवं चन्द्रमा निर्दहन्निव ॥ १७ ॥

और लोकों को प्रकाशित कर सुखी करती हैं । फिर चन्द्रमा ने मानों देखते ही–रावण को जलाया ॥ १७ ।

स तु शीताग्निना शीघ्रं प्रादहद्रावणं तदा ।
नासहंस्तस्य सचिवाः शीताग्निभयपीडिताः ॥ १८ ॥

चन्द्रमा अपने शीताग्नि से रावण को शीघ्र भस्म करने लगे । तब रावण के मन्त्री उस ठंड को न सह सके। जब वे भय से पीड़ित हुए ।। १८ ।

रावणं जयशब्देन प्रहस्तोऽथैनमब्रवीत् ।
राजञ्शीतेन वत्स्यामो निवर्ताम इतो वयम् ॥ १९ ॥

तब 'महाराज की जय' हो, कह कर, प्रहस्त ने रावण से कहा हे राजन् ! हम लोग तो मारे शीत के ऐंठे जाते हैं । अतः हम लोग यहाँ नहीं ठहर सकते । हम तो यहाँ से लौट जाते हैं ॥ १९ ॥

चन्द्ररश्मिप्रतापेन रक्षसां भयमाविशत् ।
स्वभाव एष राजेन्द्र शीतांशोर्दहनात्मकः ॥ २० ॥

हे राजेन्द्र ! चन्द्रमा की किरणों के प्रभाव से राक्षस भयभीत हो गए हैं। क्योंकि चन्द्रमा का स्वभाव शीताग्नि से जलाने का ही है ॥ २० ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रहस्तस्य रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
विस्फार्य धनुरुद्यम्य नाराचैस्तमपीडयत् ॥ २१ ॥

प्रहस्त के इन वचनों को सुन, रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और धनुष पर रोदा चढ़ा चन्द्रमा को बाणों से पीड़ित करने लगा ॥ २१ ॥

अथ ब्रह्मा तदागच्छत् सोमलोकं त्वरान्वितः ।
दशग्रीव महाबाहो साक्षाद्विश्रवसः सुत ॥ २२ ॥

तब तो तत्काल ब्रह्मा जी चन्द्रलोक में आ उपस्थित हुए और रावण से बोले—हे दशानन ! हे महाबाहु ! हे विश्रवा के पुत्र ! ॥ २२ ॥

गच्छ शीघ्रमितः सौम्य मा चन्द्रं पीडयस्व वै ।
लोकस्य हितकामो वै द्विजराजो महाद्युतिः ॥ २३ ॥

हे सौम्य ! तुम यहाँ से तुरन्त चले जाओ और चंद्रमा को पीड़ित मत करो। क्योंकि यह महाकान्तिमान द्विजराज चन्द्रदेव, सदा लोकों के हितसाधन ही में प्रवृत्त रहते हैं ॥ २३ ॥

मन्त्रं च सम्प्रदास्यामि प्राणात्ययगतिर्यदा ।
यस्त्वेतं संस्मरन् मन्त्रं नासौ मृत्युमवाप्नुयात् ॥२४॥

मैं तुमको एक मंत्र बतलाता हूँ। प्राणों पर सङ्कट आ पड़ने पर, यह स्मरण करने योग्य है। जो इस मंत्र का जप करता है, उसे मृत्यु का भय नहीं रहता ॥ २४ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवः प्राञ्जलिर्देवमब्रवीत् ।
यदि तुष्टोऽसि मे देव लोकनाथ महाव्रत ॥ २५ ॥

यदि मन्त्रश्च मे देयो दीयतां मम धार्मिक ।
यं जप्त्वाहं महाभाग सर्वदेवेषु निर्भयः ॥ २६ ॥

असुरेषु च सर्वेषु दानवेषु पतत्रिषु ।
त्वत् प्रसादात्तु देवेश स्यामजेयो न संशयः ॥ २७ ॥

ब्रह्मा जी के वचन सुन, रावण ने हाथ जोड़ कर कहा—हे देव ! हे लोक नाथ ! हे महाव्रत ! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हो और मुझे मंत्रोपदेश देना चाहते हो, तो हे धार्मिक ! मुझे मंत्रोपदेश दो, जिससे मैं उस मंत्र का जप कर, सब देवताओं, असुरों, दानवों और पक्षियों से, तुम्हारे अनुग्रह से निस्संशय अजेय हो जाऊँ। ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
प्राणात्ययेषु जप्तव्यो न नित्यं राक्षसाधिप ॥ २८ ॥

जब रावण ने इस प्रकार कहा, तब ब्रह्मा जी कहने लगे। हे राक्षसाधिप ! इस मंत्र को नित्य मत जपना। जब प्राणों पर कभी सङ्कट आ पड़े, तब ही इसे जपना चाहिए ॥ २८ ॥

अक्षसूत्रं गृहीत्वा तु जपेन् मन्त्रमिमं शुभम् ।
जप्त्वा तु राक्षसपते त्वमजेयो भविष्यसि ॥ २९ ॥

--इस मंत्र को रुद्राक्ष की माला पर जपना चाहिए। हे राक्षस-राज! इसका जप करने से तुम अजेय हो जाओगे॥ २९॥

अजप्त्वा राक्षसपते न ते सिद्धिर्भविष्यति।
शृणु मन्त्रं प्रवक्ष्यामि येन राक्षसपुङ्गव॥ ३०॥

अगर जप न करोगे तो तुम्हारी कार्यसिद्धि न होगी। हे राक्षसश्रेष्ठ! सुनो, मैं तुमको बतलाता हूँ। ३०॥

मन्त्रस्य कीर्तनादेव प्राप्स्यसे समरे जयम्।
नमस्ते देवदेवेश सुरासुरनमस्कृते॥ ३१॥

जिसका जप करने से युद्ध में तुम्हारी जीत हुआ करेगी। हे देवदेवेश! हे सुरासुर नमस्कृत! तुमको नमस्कार है॥३१॥

भूतभव्य महादेव हरिपिङ्गललोचन।
बालस्त्वं वृद्धरूपी च वैयाघ्रवसनच्छद॥ ३२॥

हे भूतभव्य! हे महादेव! हे हरिपिङ्गल लोचन! तुमको प्रणाम है। तुम बालक हो, वृद्ध हो और व्याघ्रचर्म धारण करते हो॥ ३२॥

अर्चनीयोऽसि देव त्वं त्रैलोक्यप्रभुरीश्वरः।
हरो हरितनेमी च युगान्तदहनोऽनलः॥ ३३॥

हे देव! तुम पूजनीय हो, तीनों लोकों के स्वामी हो और ईश्वर हो, तुम हर हो, तुम हरितनेमि हो, तुम युगान्त हो, तुम दहनकारी अनल (अग्नि) हो॥ ३३॥

गणेशो लोकशम्भुश्च लोकपालो महाभुजः।
महाभागो महाशूली महादंष्ट्री महेश्वरः॥ ३४॥

तुम गणेश, लोकशम्भु, लोकपाल, महाभुज, महाभाग, महाशूली, महादंष्ट्र और महेश्वर हो ॥ ३४ ॥

कालश्च बलरूपी च नीलग्रीवो महोदरः ।
देवान्तगस्तपोन्तश्च पशूनां पतिरव्ययः ॥ ३५ ॥

तुम काल, बलरूपी, नील ग्रीव, महोदर और देवान्तक, तपस्या में पारगामी, अविनाशी, पशुपति हो ॥ ३५ ॥

शूलपाणिर्वृषःकेतुर्नेता गोप्ता हरो हरिः ।
जटी मुण्डी शिखण्डी च लकुटी च महायशाः॥ ३६ ॥

तुम शूलपाणि, वृषकेतु, नेता, गोप्ता, हरहरि, जटी, मुण्डी, शिखण्डी, लकुटी और महायशा हो ॥ ३६ ॥

भूतेश्वरो गणाध्यक्षः सर्वात्मा सर्वभावनः ।
सर्वगः सर्वहारी च स्रष्टा च गुरुरव्ययः ॥ ३७ ॥

तुम भूतेश्वर, गणाध्यक्ष, सर्वात्मा और सर्वभावन हो । तुम सर्वग, सर्वहारी, स्रष्टा और अविनाशी गुरु हो ॥ ३७ ॥

कमण्डलुधरो देवः पिनाकी धूर्जटिस्तथा ।
माननीयश्च ओङ्कारो वरिष्ठो ज्येष्ठसामगः ।
मृत्युश्च मृत्युभूतश्च पारियात्रश्च सुव्रतः ॥ ३८ ॥

तुम कमण्डलुधारी देव हो, तुम पिनाकी, धूर्जटी, मान्य, ओंकार, वरिष्ठ, ज्येष्ठ और सामग हो । तुम मृत्यु के भी मृत्यु, पारियात्र और सुव्रत हो ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचारी गुहावासी वीणापणवतूणवान् ।
अमरो दर्शनीयश्च बालसूर्यनिभस्तथा ॥ ३९ ॥

तुम ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वीणापटव-तूण-धारी, अमर, दर्शनीय और बालसूर्य के समान हो ॥ ३९ ॥

श्मशानवासी भगवानुमापतिरनिन्दितः ।
भगस्याक्षिनिपाती च पूष्णो दशननाशनः ॥ ४० ॥

तम श्मशानवासी, भगवान्, उमापति, अनिन्दित, भगनयन, निपाती और पूषा के दाँत तोड़ने वाले हो ॥ ४० ॥

ज्वरहर्ता पाशहस्तः प्रलयः काल एव च ।
उल्कामुखोऽग्निकेतुश्च मुनिर्दीप्तो विशांपतिः ॥ ४१ ॥

तुम ज्वरहारी, पाशहस्त, प्रलयरूपीकाल, उल्कामुख, अग्निकेतु, मुनि, दीप्त और विशाम्पति हो ॥ ४१ ॥

उन्मादो वेपनकरश्चतुर्थो लोकसत्तमः ।
वामनो वामदेवश्च प्राक्प्रदक्षिणवामनः ॥ ४२ ॥

तुम उन्मादी, वेपनकर, चतुर्थ लोकसत्तम, वामन, वामदेव, प्राक्प्रदक्षिण और वामन हो ॥ ४२ ॥

भिक्षुश्च भिक्षुरूपी च त्रिजटी कुटिलः स्वयम् ।
शक्रहस्तप्रतिष्ठभी वसूनां स्तंभनस्तथा ॥ ४३ ॥

तुम भिक्षु, भिक्षुरूपी, त्रिजटी, कुटिल और इन्द्र के हाथ को स्तम्भन करनेवाले हो और तुम वसुरोधी हो ॥ ४३ ॥

ऋतुर्ऋतुकरः कालो मधुर्मधुकलोचनः ।
वानस्पत्यो वाजसनो नित्यमाश्रमपूजितः ॥ ४४ ॥

तुम क्रतु, क्रतुकर, काल, मधु, मधुकलोचन, वानस्पत्य, वाजसन और नित्याश्रम पूजित हो ॥ ४४ ॥

जगद्धाता च कर्ता च पुरुषः शाश्वतो ध्रुवः ।
धर्माध्यक्षो विरुपाक्षस्त्रिधर्मा भूतभावनः ॥ ४५ ॥

तुम जगत् के धाता, कर्त्ता, पुरुष, शाश्वत, ध्रुव, धर्माध्यक्ष, विरूपाक्ष, त्रिधर्म और भूतभावन हो ॥ ४४ ॥

त्रिनेत्रो बहुरूपश्च सूर्यायुतसमप्रभः ।
देवदेवोऽतिदेवश्च चन्द्राङ्कितजटस्तथा ॥ ४६ ॥

तुम त्रिनेत्र, बहुरूप, और दस सहस्र सूर्यों के समान प्रभा वाले हो। तुम देवदेव, अतिदेव, और चन्द्राङ्कित जटाधारी हो ॥ ४६ ॥

नर्तको लासकश्चैव पूर्णेन्दुसदृशाननः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च सर्वजीवमयस्तथा ॥ ४७ ॥

तुम नर्तक, लासक, (क्रीड़ा करने वाले) पूर्णमासी के चंद्रमा की तरह मुखवाले, ब्रह्मण्य, शरण्य और सर्वजीवमय हो ॥४७।

सर्वतूर्यनिनादी च सर्वबन्धविमोक्षकः ।
मोहनो बन्धनश्चैव सर्वदा निधनोत्तमः ॥ ४८ ॥

तुम सर्वतूर्यनिनादी, सब बन्धनों से छुटाने वाले, मोहन, बन्धन, और सदा निधनोत्तम हो ॥ ४८ ॥

पुष्पदन्तो विभागश्च मुख्यः सर्वहरस्तथा ।
हरिश्मश्रुर्धनुर्धारी भीमो भीमपराक्रमः ॥ ४९ ॥

तुम पुष्पदन्त, विभाग, मुख्य, सर्वहर, हरिश्मश्रु, धनुर्धारी, भीम और भीमपराक्रम हो ॥ ४९ ॥

मया प्रोक्तमिदं पुण्यं नामाष्टशतमुत्तमम् ।
सर्वपापहरं पुण्यं शरण्यं शरणार्थिनम् ॥ ५० ॥

मेरे कथित ये १०८ उत्तम नाम, समस्त पापों को नष्ट करने वाले, पुण्यदायी और रक्षा के अभिलाषी की रक्षा करने वाले हैं ॥ ५० ॥

जप्तमेतद्दशग्रीव कुर्याच्छत्रुविनाशनम् ॥ ५१ ॥
इति प्रक्षिप्तेषु चतुर्थः सर्गः ॥

हे दशग्रीव ! इन नामों के जपने से शत्रु का नाश होता है । ५१ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

प्रक्षिप्तेषु पंचमः सर्गः

—:o:—

दत्त्वा तु रावणस्यैवं वरं स कमलोद्भवः ।
पुनरेवागमत् क्षिप्रं ब्रह्मलोकं पितामहः ॥ १ ॥

हे राम ! लोकपितामह और कमल से उत्पन्न ब्रह्मा जी, रावण को इस तरह वर दे कर, अति शीघ्र ब्रह्मलोक को चले गए ॥ १ ॥

रावणोऽपि वरं लब्ध्वा पुनरेवागमत्तथा ।
केनचित्त्वथ कालेन रावणो लोकरावणः ॥ २ ॥

रावण भी वर प्राप्त कर वहाँ से लौटा । फिर कुछ दिनों बाद लोकों को रुलाने वाला रावण ॥ २ ॥

पश्चिमार्णवमागच्छत् सचिवैः सह राक्षसः ।
द्वीपस्थो दृश्यते तत्र पुरुषः पावकप्रभः ॥ ३ ॥

अपने मन्त्रियों को साथ लिये हुए पश्चिमसागर पर गया। वहाँ एक द्वीप (टापू) में उसने अग्नि के समान एक पुरुष देखा ॥ ३ ॥

महाजाम्बूनदप्रख्य एक एव व्यवस्थितः ।
दृश्यते भीषणाकारो युगान्तानलसन्निभः ॥ ४ ॥

वह सोने की तरह कान्तिमान् पुरुष वहाँ अकेला था और वह युगान्त की आग की तरह प्रकाशमान भयङ्कर आकार वाला था ॥ ४ ॥

देवानामिव देवेशो ग्रहाणामिव भास्करः ।
शरभाणां यथा सिंहो हस्तिष्वैरावतो यथा ॥ ५ ॥

देवताओं में जिस प्रकार महादेव जी, ग्रहों में जैसे सूर्य हैं, शरभों में जैसे सिंह है, हाथियों में जैसे ऐरावत है, ॥ ५ ॥

पर्वतानां यथा मेरुः पारिजातश्च शाखिनाम् ।
तथा तं पुरुषं दृष्ट्वा स्थितं मध्ये महाबलम् ॥ ६ ॥

समस्त पर्वतों में जैसे सुमेरु है और वृक्षों में कल्पवृक्ष है, वैसे ही समस्त पुरुषों में इस महाबलवान पुरुष को देख कर, ॥ ६ ॥

अब्रवीच्च दशग्रीवो युद्धं मे दीयतामिति ।
अभवत्तस्य सा दृष्टिर्ग्रहमाला इवाकुला ॥ ७ ॥

रावण ने उससे कहा कि, मुझसे युद्ध करो। उस समय रावण की दृष्टि ग्रहमाला की तरह चलायमान हो गई ॥ ७ ॥

दन्तान्सन्दशतः शब्दो यन्त्रस्येवाभिभिद्यतः।
जगर्जोच्चैः स बलवान्सहामात्यो दशाननः ॥ ८ ॥

उसके दाँतों के पीसने का ऐसा शब्द हुआ जैसा कि, यंत्र की रगड़ का (चक्की चलने का)। तब मंत्रियों सहित रावण बड़े जोर से गर्जा ॥ ८ ॥

स गर्जन्विविधैर्नादैर्लम्बहस्तं भयानकम्।
दंष्ट्रालं विकटं चैव कम्बुग्रीवं महोरसम् ॥ ९ ॥

वह अनेक प्रकार के शब्द कर गर्जने लगा। गर्जते गर्जते वह लम्बे हाथोंवाला, भयङ्कराकार, दंष्ट्रयुक्त, विकटाकार, कम्बुग्रीव, चौड़ी छाती वाला ॥ ९ ॥

मण्डूककुक्षिं सिंहास्यं कैलासशिखरोपमम्।
पद्मपादतलं भीमं रक्ततालुकराम्बुजम् ॥ १० ॥
महानादं महाकायं मनोनिलसमं जवे।
भीममाबद्धतूणीरं सघण्टाबद्धचामरम् ॥ ११ ॥
ज्वालामालापरिक्षिप्तं किङ्किणीजालनिःस्वनम्।
मालया स्वर्णपद्मानां कण्ठदेशेऽवलम्बया ॥ १२ ॥
ऋग्वेदमिव शोभन्तं पद्ममालाविभूषितम्।
सोऽञ्जनाचलसङ्काशं काञ्चनाचलसन्निभम् ॥ १३ ॥

मेढक की तरह उदरवाला, सिंहवदन, कैलास शिखर के समान चरणों वाला, लाल तालु वाला, लाल हाथोंवाला, भयङ्कर

महाकायवाला, महानाद करने वाला, मन और वायु की तरह वेगवान्, भीम, पीठ पर तरकस बाँधे हुए, घंटा एवं चमर सहित, ज्वाला की माला से शोभायमान, किङ्किणीजाल की तरह मधुर शब्द करने वाला, गले में सुवर्ण के कमलपुष्प का हार पहिने हुए, ऋग्वेद की तरह शोभायमान, कमल पुष्प की तरह द्युतिमान ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

प्राहरद्राक्षसपतिः शूलशक्त्यृष्टिपट्टिशैः ।
द्वीपिना स सिंह इव ऋषभेणेव कुञ्जरः ॥ १४ ॥
सुमेरुरिव नागेन्द्रैर्नदीवेगैरिवार्णवः ।
अकम्पमानः पुरुषो राक्षसं वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

महापुरुष के ऊपर रावण ने शूल, शक्ति, यष्टि और पट्टों की वर्षा की। चीते के आक्रमण से जैसे सिंह, वैल के आक्रमण से जैसे हाथी, हस्तिराज के आक्रमण से जैसे सुमेरु और नदी के वेग से जैसे महासागर क्षुब्ध नहीं होता, वैसे ही उस महा-पुरुष ने रावण के चलाए शस्त्रों के प्रहारों से क्षुब्ध न हो कर, रावण से कहा ॥ १४ ॥ १५ ॥

युद्धश्रद्धां हि ते रक्षो नाशयिष्यामि दुर्मते ।
रावणस्य च यो वेगः सर्वलोकभयङ्करः ॥ १६ ॥

हे राक्षस ! हे दुर्मते ! मैं तेरी युद्धलालसा को नष्ट कर दूँगा। हे राम ! रावण का जो समस्त लोकों का भय देने वाला युद्ध का वेग था ॥ १६ ॥

तथा वेगसहस्राणि संश्रितानि तमेव हि ।
धर्मस्तस्य तपश्चैव जगतः सिद्धिहेतुकौ ॥ १७ ॥

उससे सहस्र गुना अधिक युद्धवेग उस महापुरुष में था। इसके अतिरिक्त जगत् की सिद्धि के मूलकारण धर्म और तप ॥ १७ ॥

ऊरू ह्याश्रित्य तस्थाते मन्मथः शिश्नमाश्रितः ।
विश्वेदेवाः कटीभागेमरुतो बस्तिपार्श्वयोः ॥ १८ ॥

उसकी जाँघो के आश्रित थे अथवा जाँघों का सहारा लिए हुए थे। कामदेव उसके शिश्न में था, विश्वेदेव कमर में, मरुद्गण पेड़ू और दोनों कोखा में थे ॥ १८ ॥

मध्येऽष्टौ वसवस्तस्य समुद्राः कुक्षितः स्थिताः ।
पार्श्वादिषु दिशः सर्वाः सर्वसन्धिषु मारुताः १९ ॥

उसके शरीर के वीच में आठों वसु, समस्त समुद्र, उसकी कोख में समस्त दिशाएँ उसके पार्श्वादि में और मरुत उसके जोड़ों में थे ॥ १९ ॥

पृष्ठं च भगवान् रुद्रो हृदयं च पितामहः ।
पितरश्चाश्रिताः पृष्ठं हृदयं च पितामहाः ॥ २० ॥

उसके पृष्ठभाग पर रुद्र और पितर तथा हृदय में ब्रह्मा विराजमान थे ॥ २० ॥

गोदानानि पवित्राणि भूमिदानानि यानि च ।
सुवर्णवरदानानि कक्षलोमानुगानि च ॥ २१ ॥

पवित्र गोदान, भूमिदान, सुवर्णदान इत्यादि समस्त पुण्य-वर्द्धक दान उसकी कोख के रोम में थे ॥ २१ ॥

हिमवान् हेमकूटश्च मन्दरो मेरुरेव च ।

नरं तु तं समाश्रित्य अस्थि भूतान्यवस्थिताः ॥ २२ ॥

हिमालय, हेमकूट, मन्दर और मेरुपर्वत ये सब उस पुरुष की हड्डियों के स्थान में थे ॥ २२ ॥

पाणिर्वज्रोऽभवत्तस्य शरीरे द्यौरवस्थिता ।

कृकाटिकायां सन्ध्या च जलवाहाश्च ये घनाः ॥२३॥

वज्र उसकी हथेली में और आकाश उसके शरीर में था। सन्ध्या और जलवृष्टि करने वाले मेघ उसकी ग्रीवा में थे ॥ २३ ॥

बाहू धाता विधाता च तथा विद्याधरादयः ।

शेषश्च वासुकिश्चैव विशालाक्ष इरावतः ॥ २४ ॥

कम्बलाश्वतरौ चोभौ कर्कोटकधनञ्जयौ ।

स च घोरविषो नागस्तक्षकः सोपतक्षकः ॥ २५ ॥

धाता, विधाता और विद्याधर उसकी दोनों भुजाओं में विद्यमान थे। अनन्त, वासुकि, विशालाक्ष ऐरावत, कम्बल, अश्वतर, कर्कोटक, धनञ्जय, घोरविष, तक्षक और उपतक्षक ॥ २४ ॥ २५ ॥

करजानाश्रिताश्चैव विषवीर्यमुमुक्षवः ।

अग्निरास्यमभूत्तस्य स्कन्धौ रुद्रैरधिष्ठितौ ॥ २६ ॥

ये सब बड़े बड़े विषैले नाग उसके हाथों और नखों में बसते थे। अग्नि उसके मुख में, रुद्र उसके कन्धों पर ॥ २६ ॥

पक्षमासर्तवश्चैव दंष्ट्रयोरुभयोः स्थिताः ।

नासे कुहूरमावास्या छिद्रेषु वायवः स्थिताः ॥ २७ ॥

पक्ष, मास, वत्सर और छओं ऋतुएं उसकी दन्तपंक्ति में, पूर्णिमा और अमावास्या उसके नाक के छेदों में और उननचास पवन उसके शरीर के रन्ध्रों में थे ॥ २७ ॥

ग्रीवा तस्याभवद्देवी वीणा चापि सरस्वती ।
नासत्यौ श्रवणे चोभौ नेत्रे च शशिभास्करौ ॥ २८ ॥

वीणा लिये हुए भगवती सरस्वती देवी उसके कण्ठ में रहती थीं, दोनों अश्विनीकुमार उसके दोनों कानों में और चन्द्र एवं सूर्य उसके दोनों नेत्रों में थे ॥ २८ ॥

वेदाङ्गानि च यज्ञाश्च तारारूपाणि यानि च ।
सुवृत्तानि च वाक्यानि तेजांसि च तपांसि च ॥ २९ ॥

हे राम ! समस्त वेदाङ्ग और यज्ञ उसकी आँख की पुतलियाँ थीं, तेज और तप उसके सुन्दर वचन थे ॥ २९ ॥

एतानि नररूपस्य तस्य देहाश्रितानि वै ।
तेन वज्रप्रहारेण लब्धमात्रेण लीलया ॥ ३० ॥
पाणिना पीडितं रक्षो निपपात महीतले ।
पतितं राक्षसं ज्ञात्वा विद्राव्य स निशाचरान् ॥ ३१ ॥

ये सब उस नररूपी पुरुष की देह का आश्रय लिये हुए थे। उस पुरुष ने वज्र के समान रावण के प्रहार को सह कर, बिना प्रयास रावण को हाथ से पकड़ कर दबा दिआ। उसके दाब से पीड़ित हो, रावण भूमि पर गिर पड़ा। रावण को गिरा हुआ जान, उसने रावण के साथी अन्य राक्षसों को भी भगा दिआ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

ऋग्वेदप्रतिमः सोऽथ पद्ममालाविभूषितः ।
प्रविवेश च पातालं निजं पर्वतसन्निभः ॥ ३२ ॥

ऋग्वेद के समान और कमलों की माला धारण किए हुए वह स्वयं पर्वत की कन्दरा के समान मार्ग से पाताल में चला गया ॥ ३२ ॥

उत्थाय च दशग्रीव आहूय सचिवान् स्वयम् ।
क्व गतः सहसा ब्रूत प्रहस्तशुकसारणाः ॥ ३३ ॥

कुछ देर बाद रावण उठ कर और स्वयं अपने मंत्रियों को बुला कर, उनसे पूँछने लगा कि, हे प्रहस्त! हे शुक! हे सारण! वह पुरुष कहाँ चला गया? ॥ ३३ ॥

एवमुक्ता रावणेन राक्षसास्ते तदाब्रुवन् ।
प्रविष्टः स नरोऽत्रैव देवदानवदर्पहा ॥ ३४ ॥

जब रावण ने इस प्रकार पूँछा, तब उन राक्षसों ने उत्तर देते हुए कहा—वह देवताओं और दानवों का दर्प दलन करने वाला पुरुष इस जगह घुस गया है ॥ ३४ ॥

अथ संगृह्य वेगेन गरुत्मानिव पन्नगम् ।
स तु शीघ्रं बिलद्वारं सम्प्रविश्य च दुर्मतिः ॥ ३५ ॥

गरुड़ जिस प्रकार साँप को पकड़ने के लिए, बड़े वेग से झपटते हैं; उसी प्रकार दुर्मति रावण पराक्रम प्रदर्शित कर, बड़े वेग से बिल के द्वार पर पहुँचा और निर्भय हो उसमें घुस गया ॥ ३५ ॥

प्रविवेश च तद्द्वारं रावणो निर्भयस्तदा ।
स प्रविश्य च पश्यद्वै नीलाञ्जनचयोपमान् ॥ ३६ ॥

जिस समय रावण निर्भय हो, उस बिल के मुँह में घुसा, उस समय भीतर जाने पर वह काजल के ढेर की तरह देख पड़ा ॥ ३६ ॥

केयूरधारिणः शूरान् रक्तमाल्यानुलेपनान् ।
वरहाटकरत्नाद्यैर्विविधैश्च विभूषितान् ॥ ३७ ॥

बाजू पहिने शूर, लाल माला से भूपित, लाल चन्दन से सुशोभित, श्रेष्ठ और सोने तथा रत्नों के समूह से अलङ्कृत ॥ ३७ ॥

दृश्यन्ते तत्र नृत्यन्त्यस्तिस्रः कोट्यो महात्मनाम् ।
नृत्योत्सवा वीतभया विमलाः पावकप्रभाः ॥ ३८ ॥

रावण ने वहाँ पर देखा कि तीन करोड़ भयरहित विमल पावक की तरह महात्मा पुरुष, उत्सव में लीन हो नाच रहे हैं ॥ ३८ ॥

नृत्यन्त्यः पश्यते तांस्तु रावणो भीमविक्रमः ।
द्वारस्थो रावणस्तत्र तासु कोटिषु निर्भयः ॥ ३९ ॥

घोर पराक्रमी रावण उनको देख कर ज़रा भी न डरा और दरवाज़े पर खड़ा खड़ा, उनका नाच देखने लगा ॥ ३९ ॥

यथा दृष्टः स तु नरस्तुल्यांस्तानपि सर्वशः ।
एकवर्णानेकवेषानेकरूपान् महौजसः ॥ ४० ॥

रावण ने जिस पुरुष को पहिले देखा था, उसी पुरुष जैसे ये सब पुरुष थे। वे सब एक रंग, एक वेष और एक रूप के थे तथा बड़े तेजस्वी थे ॥ ४० ॥

चतुर्भुजान् महोत्साहांस्तत्रापश्यत् स राक्षसः ।
तांस्तु दृष्ट्वा दशग्रीव ऊर्ध्वरोमा बभूव ह ॥ ४१ ॥

उन चार भुजाओं वाले महाउत्साही पुरुषों को रावण ने देखा। उनको देखने से रावण का शरीर रोमाञ्चित हो गया ॥ ४१ ॥

स्वयंभुवा दत्तवरस्ततः शीघ्रं विनिर्ययौ ।
अथापश्यत् परं तत्र पुरुषं शयने स्थितम् ॥ ४२ ॥

ब्रह्मा जी का वरदान था, अतः उसके प्रभाव से रावण वहाँ से (जीता जागता) तुरन्त निकल आया। तदनन्तर रावण ने देखा कि, अन्य स्थान पर एक और पुरुष शय्या पर पड़ा सो रहा है ॥ ४२ ॥

पाण्डुरेण महार्हेण शयनासनवेश्मना ।
शेते स पुरुषस्तत्र पावकेनाभगुण्ठितः ॥ ४३ ॥

उसका घर, सेज और बिस्तरे सफेद रंग के तथा बहुमूल्य बने थे। वह मनुष्य अग्नि से मुख ढाँप कर सो रहा है ॥४३॥

दिव्यस्रगनुलेपा च दिव्याभरणभूषिता ।
दिव्याम्बरधरा साध्वी त्रैलोक्यस्यैकभूषणम् ॥ ४४ ॥

दिव्यमाला, दिव्यआभूषण और दिव्य वसन पहिने हुए तीनों लोकों में अद्वितीय स्त्री थी। (बल्कि कहें तो कह सकते हैं कि,) वह त्रिलोकी का एक गहना थी ॥ ४४ ॥

वाल्यव्यजनहस्ता च देवी तत्र व्यवस्थिता ।
लक्ष्मी देवी सपद्मा वै भ्राजते लोकसुन्दरी ॥ ४५ ॥

कमल हाथ में लिये त्रिलोकसुन्दरी लक्ष्मी देवी, उस पुरुष की बग़ल में बैठी, चँवर डुलाती हुई, शोभायमान हो रही थी ॥ ४५ ॥

प्रविष्टः स तु रक्षेन्द्रो दृष्ट्वा तां चारुहासिनीम् ।
जिघृक्षुः सहसा साध्वीं सिंहासनसमास्थिताम् । ४६ ॥

रावण वहाँ जा और वैसी सुन्दरी तथा मनोहर हँसने वाली सिंहासनोपस्थित उस सती को देख, उस पर मोहित हो गया ॥ ४६ ॥

विनापि सचिवैस्तत्र रावणो दुर्मतिस्तदा ।
हस्ते ग्रहीतुमन्विच्छन् मन्मथेन वशीकृतः ॥ ४७ ॥

उस समय रावण के साथ उसका कोई मंत्री न था । दुर्गति रावण ने काम से पीड़ित हो, उसे हाथ से वैसे ही पकड़ना चाहा; ॥ ४७ ॥

सुप्तमाशीविषं यद्वद्रावणः कालनोदितः ।
अथ सुप्तो महाबाहुः पावकेनावगुण्ठितः ॥ ४८ ॥

जैसे काल का भेजा हुआ कोई पुरुष सोते हुए भयानक विषधर सर्प को जगावे । (कारण इसका यह था कि रावण के सिर पर काल खेल रहा था ।) जब उस पुरुष ने, जो अपने मुंह को आग (की चादर) से ढक कर सो रहा था ॥ ४८ ॥

ग्रहीतुकामं तं ज्ञात्वा व्यपविद्धपटं तदा ।
जहासोच्चैर्भृशं देवस्तं दृष्ट्वा राक्षसाधिपम् ॥ ४९ ॥

यह जान कर कि, रावण उस सती पर हाथ लपकाया चाहता है, अपने मुँह की चादर उघारी और राक्षसराज रावण को देख वह बड़े जोर से हँसा ॥ ४९ ॥

तेजसा सहसा दीप्तो रावणो लोकरावणः ।
कृत्तमूलो यथा शाखी निपपात महीतले ॥ ५० ॥

उस समय रावण उस तेज से सहसा दग्ध होने लगा और जड़ कटे हुए वृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ५० ॥

पतितं राक्षसं ज्ञात्वा वचनं चेदमब्रवीत् ।
राक्षसश्रेष्ठ उत्तिष्ठ मृत्युस्ते नाद्य विद्यते ॥ ५१ ॥

रावण को गिरा हुआ जान, उस पुरुष ने कहा—हे राक्षसश्रेष्ठ ! उठ बैठो । इस समय तुम्हारी मौत नहीं आयी है ॥ ५१ ॥

प्रजापतिवरो रक्ष्यस्तेन जीवसि राक्षस ।
गच्छ रावण विस्रब्धो नाधुना मरणं तव ॥ ५२ ॥

हे राक्षस ! प्रजापति ब्रह्मा का वर मानना आवश्यक है । इसीलिए तू जीवित है । हे रावण ! तू यहाँ से बेखटके चला जा । इस समय तू मरने वाला नहीं है ॥ ५२ ॥

लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन रावणो भयमाविशत् ।
एवमुक्तस्तदोत्थाय रावणो देवकण्टकः ॥ ५३ ॥
लोमहर्षणमापन्नो ह्यब्रवीत्तं महाद्युतिम् ।
को भवान् वीर्यसम्पन्नो युगान्तानलसन्निभः ॥५४॥

एक मुहूर्त बाद जब रावण सचेत हुआ, तब वह बहुत डरा हुआ था । उस पुरुष के मुख से उन वचनों के निकलते ही देवकण्टक रावण उठ बैठा, किन्तु उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया था । रावण ने (उठ कर) उस महाद्युतिमान् पुरुष से कहा, आप बड़े पराक्रमी और कालाग्नि के समान कौन हैं ? ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

ब्रूहि त्वं को भवान्देव कुतो भूत्वा व्यवस्थितः ।
एवमुक्तस्ततो देवो रावणेन दुरात्मना ॥ ५५ ॥

हे देव! आप बतलावें कि, आप कौन हैं और कहाँ से आ कर यहाँ विराजमान हुए हैं? जब दुरात्मा रावण ने उस पुरुष से इस प्रकार पूछा ॥ ५५ ॥

प्रत्युवाच हसन् देवो मेघगम्भीरया गिरा ।
किं ते मया दशग्रीव वध्योऽसि नचिरान् मम ॥५६॥

तब उस पुरुष ने मेघ की तरह गम्भीर स्वर से मुसक्याते हुए कहा—यह बात जान कर तू क्या करेगा? अब मेरे हाथ से तेरे मारे जाने में बहुत विलंब नहीं है ॥ ५६ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रजापतेस्तु वचनान्नाहं मृत्युपथं गतः ॥ ५७ ॥

यह सुन रावण ने हाथ जोड़ कर कहा - इस समय मैं ब्रह्मा जी के वरदान से नहीं मरा ॥ ५७ ॥

न स जातो जनिष्यो वा मम तुल्यः सुरेष्वपि ।
प्रजापतिवरं यो हि लङ्घयेद्वीर्यमाश्रितः ॥ ५८ ॥

औरों की तो बात ही क्या है, देवताओं में भी ऐसा कोई उत्पन्न नहीं हुआ और न आगे होगा, जो अपने बल बूते पर ब्रह्मा जी के वरदान को उलङ्घन करे ॥ ५८ ॥

न तत्र परिहारोऽस्ति प्रयत्नश्चापि दुर्बलः ।
त्रैलोक्ये तं न पश्यामि यो मे कुर्याद्वरं वृथा ॥५६॥

ब्रह्मा जी का वरदान अन्यथा नहीं हो सकता और उसको अन्यथा करने के लिए कोई उपाय भी काम नहीं दे सकता।

मुझे तो तीनों लोकों में ऐसा कोई भी नहीं देख पड़ता, जो (ब्रह्मा से प्राप्त) मेरे वर को वृथा कर दे ॥ ५६ ॥

अमरोऽहं सुरश्रेष्ठ तेन मां नाविशङ्कयम् ।

अथापि च भवेन्मृत्युस्त्वद्धस्तान्नान्यतः प्रभो ॥ ६० ॥

हे सुरश्रेष्ठ ! मै तो अमर हूँ । अतः मैं इसके लिए नहीं डरता । किन्तु हे प्रभो ! मेरी आप से यह विनय अवश्य है कि अगर मुझे मरना ही पड़े, तो मैं तुम्हारे ही हाथ से मारा जाऊँ ॥ ६० ॥

यशस्यं श्लाघनीयं च त्वद्धस्तान् मरणं मम ।

अथास्य गात्रे संपश्यद्रावणो भीमविक्रमः ॥ ६१ ॥

क्योंकि आपके हाथ से मारे जाने से मेरी बड़ाई होगी और मुझे यश प्राप्त होगा । तदनन्तर भीमविक्रमी रावण ने उस महापुरुष के शरीर को देखा ॥ ६१ ॥

तस्य देवस्य सकलं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

आदित्या मरुतः साध्या वसवोऽथाश्विनावपि ॥ ६२ ॥

उसके शरीर में उसने सचराचर तीनों लोकों को देखा । सूर्य, मरुत, साध्य, वसु, अश्विनी-कुमार ॥ ६२ ॥

रुद्राश्च पितरश्चैव यमो वैश्रवणस्तथा ।

समुद्रा गिरयो नद्यो वेदाविद्यास्त्रयोऽग्नयः ॥ ६३ ॥

रुद्र, पितर, यम, कुबेर, समुद्र, पहाड़, नदी, वेद, विद्या, तीनों अग्नि ॥ ६३ ॥

ग्रहास्ताराग्णा व्योम सिद्धा गन्धर्वचारणाः ।

महर्षयो वेदविदो गरुडोऽथ भुजङ्गमाः ॥ ६४ ॥

ग्रह, तारागण, आकाश, सिद्ध, गन्धर्व चारण, वेदवित् महर्षिगण, गरुड़, नाग ॥ ६४ ॥

ये चान्ये देवतासङ्घाः संस्थिता दैत्यराक्षसाः ।
गात्रेषु शयनस्थस्य दृश्यन्ते सूक्ष्ममूर्तयः ॥ ६५ ॥

अन्य देवतागण तथा दैत्य एवं राक्षस ये सब ही, सूक्ष्म रूप से उस पुरुष के शरीर में देख पड़े ॥ ६५ ॥

आह रामोऽथ धर्मात्मा ह्यगस्त्यं मुनिसत्तमम् ।
द्वीपस्थः पुरुषः कोऽसौ तिस्रः कोट्यस्तु काश्च ताः ॥६६॥

यह कथा सुन कर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी से पूँछा कि, आपने उस द्वीपस्थित जिन महापुरुष की कथा कही, वे थे कौन ? और वे तीन करोड़ मनुष्य कौन थे ? ॥ ६६ ॥

शयानः पुरुषः कोऽसौ दैत्यदानवदर्पहा
रामस्य वचनं श्रुत्वा ह्यगस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६७ ॥

दैत्यों और दानवों का दर्पनाश करने वाला वह शयन करता हुआ पुरुष कौन था ? श्रीरामचन्द्र जी के इन प्रश्नों को सुन अगस्त्य जी कहने लगे ॥ ६७ ॥

श्रूयतामभिधास्यामि देवदेव सनातन ।
भगवान् कपिलो नाम द्वीपस्थो नर उच्यते ॥ ६८ ॥

हे सनातन देवदेव ! मैं बतलाता हूँ, आप सुनिए । उस द्वीप में विराजमान महापुरुष कपिलदेव जी थे ॥ ६८ ॥

ये तु नृत्यन्ति वै तत्र स्वरास्ते तस्य धीमतः ।
तुल्यतेजः प्रभावस्ते कपिलस्य नरस्य वै ॥ ६९ ॥

और जो पुरुष वहाँ नाच रहे थे, वे समस्त पुरुष उन बुद्धिमान कपिलदेव जी के समान तेजस्वी और प्रभाव वाले थे ॥ ६६ ॥

नासौ क्रुद्धेन दृष्टस्तु राक्षसः पापनिश्चयः ।
न बभूव तदा तेन भस्मसाद्राम रावणः ॥ ७० ॥

हे राम ! क्रोधपूर्वक उस महापुरुष ने रावण की ओर नहीं देखा था, नहीं तो वह पापी रावण निश्चय ही उसी समय भस्म हो जाता ॥ ७० ॥

खिन्नगात्रो नगप्रख्यो रावणः पतितो भुवि ।
वाक्शरैस्तं बिभेदाशु रहस्यं पिशुनो यथा ॥ ७१ ॥

जब खिन्नगात्र हो रावण पृथिवी पर गिर पड़ा, तब उस महापुरुष ने रावण से बड़े कठोर वचन कहे। उन वचनों से उस महापुरुष ने रावण को वैसे ही छेद डाला, जैसे चुगलखोर मनुष्य किसी दूसरे के गुप्त रहस्य को खोल, उस पुरुष को छेद डालता है ॥ ७१ ॥

अथ दीर्घेण कालेन लब्धसंज्ञः स राक्षसः ।
आजगाम महातेजा यत्र ते सचिवाः स्थिताः ॥ ७२ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु पञ्चमः सर्गः ॥

महातेजस्वी रावण बहुत देर बाद सचेत हो कर, वहाँ चला आया, जहाँ उसके मन्त्री ठहरे हुए (उसकी प्रतीक्षा कर रहे) थे ॥ ७२ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:-o-:—

चतुर्विंशः सर्गः

— :-o-: —

निवर्तमानः संहृष्टो रावणः स दुरात्मवान् ।
जह्रे पथि नरेन्द्रर्षिदेवदानवकन्यकाः ॥ १ ॥

जब रावण (वहाँ से) लङ्का को लौटा, तब उस समय रास्ते में उसने हर्षित अन्तःकरण से राजर्षियों, देवताओं और दानवों की कन्याएँ हरण कीं ॥ १ ॥

दर्शनीयां हि यां रक्षः कन्यां स्त्रीं वाथ पश्यति ।
हत्वा बन्धुजनं तस्या विमाने तां रुरोध सः ॥ २ ॥

वह दुष्ट जिस किसी सुन्दरी (अविवाहित) कन्या या, (विवाहिता) स्त्री को रास्ते में देख लेता, उसके बन्धुजनों को मार कर उसे हर कर अपने विमान मे बिठा लेता था ॥ २ ॥

एवं पन्नगकन्याश्च राक्षसासुरमानुषीः ।
यक्षदानवकन्याश्च विमाने सोऽध्यरोपयत् ॥ ३ ॥

इस प्रकार रावण ने कितनी ही राक्षस-कन्नाएँ, असुर कन्याएँ, मनुष्य-कन्याएँ, पन्नग-कन्याएँ और यक्ष-कन्याए अपने विमान में बैठा लीं ॥ ३ ॥

[टिप्पणी—यह घटनाएँ इस युग की पश्चिमोत्तर भारत की घटनाओं से प्रतिद्वन्द्विता करने वाली घटनाएँ हैं । जब रावण जैसा अत्याचारी जो देवताओं के वर से अवध्य था अपने दुराचरणों के कारण मारा गया । तब क्षयशील आधुनिक अत्याचारी क्योंकर रक्षा पा सकता है । यह ऐतिहासिक सत्य, इसकी घोषणा है ।]

ता हि सर्वाः समं दुःखात् मुमुचुर्बाष्पजं जलम् ।
तुल्यमग्न्यर्चिषां तत्र शोकाग्निमयसम्भवम् ॥ ४ ॥

वे बेचारी दुखी हो रो रही थीं । वे सब शोक से आर्त हो, एक ही साथ शोकाग्नि और भय से उत्पन्न आँसू बहाने लगीं । उनके वे आँसू अग्निज्वाला की तरह उष्ण थे ॥ ४ ॥

ताभिः सर्वानवद्याभिर्नदीभिरिव सागरः ।
आपूरितं विमानं तद्भयशोकाशिवाश्रुभिः ॥ ५ ॥

उन सब अत्यन्त सुन्दरी ललनाओं से वह विमान वैसे ही भर गया था, जैसे कि, समुद्र नदियों के जल से भर जाता है। वे सब भय और दुःख के मारे अमङ्गलकारी आँसू बहा रही थीं ॥ ५ ॥

नागगन्धर्वकन्याश्च महर्षितनयाश्च याः ।
दैत्यदानवकन्याश्च विमाने शतशोऽरुदन् ॥ ६ ॥

उस विमान में नागों, गन्धर्वों, महर्षियों, दैत्यों और दानवों की सैकड़ों कन्याएँ रो रही थीं ॥ ६ ॥

[टिप्पणी--"महर्षितनया" देख पता लगता है कि महर्षि भी, गृहस्थाश्रमी हुआ करते थे ।]

दीर्घकेश्यः सुचार्वङ्ग्यः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।
पीनस्तनतटा मध्ये वज्रवेदिसम[1] प्रभाः ॥ ७ ॥

उनके लंबे लंबे केश, सुन्दर अंग और पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुख थे। उनके कठोर स्तन और पतली कमरें थीं। इनके स्तनो के बीच का भाग हीरे की जड़ाऊ भूमि की तरह उजला था ॥ ७ ॥

रथकूबरसङ्काशैः श्रोणीदेशैर्मनोहराः ।
स्त्रियः सुराङ्गनाप्रख्या निष्टप्तकनकप्रभाः ॥ ८ ॥

रथकूबर (रथ के जुएँ) की तरह उनकी कमरें पतली पतली थीं। वे सब बड़ी सुन्दरी थीं और तपाये हुए सोने की तरह उनके शरीर की कान्ति थी ॥ ८ ॥

---

१ मध्येवज्रवेदिसमप्रभाः—अन्तराले, वज्रवेदिसमा प्रभा यासां ताः । (शि०)

शोकदुःखभयत्रस्ता विह्वलाश्च सुमध्यमाः ।
तासां निःश्वासवातेन सर्वतः सम्प्रदीपितम् ॥ ९ ॥

वे सब पतली कमरवाली सुन्दरी ललनाएँ घबड़ाई हुई थीं और शोक तथा भय से ग्रस्त थीं । उनकी उसाँसों के पवन से वह विमान सर्वत्र प्रदीप्त सा हो कर ॥ ९ ॥

अग्निहोत्रमिवाभाति सन्निरुद्धाग्निपुष्पकम् ।
दशग्रीववशं प्राप्तास्तास्तु शोकाकुलाः स्त्रियः ॥१०॥

ऐसा जान पड़ता था, मानों उसमें अग्निहोत्र हो रहा हो । दुष्ट रावण के पाले पड़ीं उन शोकाकुल ललनाओं ॥ १० ॥

दीनवक्त्रेक्षणाः श्यामा मृग्यः सिंहवशा इव ।
काचिच्चिन्तयती तत्र किं नु मां भक्षयिष्यति ॥ ११ ॥

के मुख मलिन और आँखे शोकाकुल हो गईं थीं । सिंह के पंजे में फँसी मृगी की तरह वे सब पीड़ित हो रही थीं । उनमें से कोई तो यह सोच कर घबड़ा रही थी कि, यह दुष्ट कहीं मुझको खा तो न डालेगा ॥ ११ ॥

काचिद्दध्यौ सुदुःखार्ता अपि मां मारयेदयम् ।
इति मातॄः पितॄन् स्मृत्वा भर्तॄन् भ्रातॄंस्तथैव च ॥१२॥

और उनमें से कोई कोई दुःखार्त हो सोच रही थी कि, कदाचित् यह हमको मार डाले । इस प्रकार अपने अपने माता, पिता, भाई और पति का स्मरण कर के ॥ १२ ॥

दुःखशोकसमाविष्टा विलेपुः सहिताः स्त्रियः ।
कथं नु खलु मे पुत्रो भविष्यति मया विना ॥१३॥

दुःख और शोक से भरी वे सब विलाप कर रहीं थी। विलाप कर कोई कहती कि, मेरे बिना मेरा पुत्र कैसे जीता बचेगा ॥१३॥

कथं माता कथं भ्राता निमग्नाः शोकसागरे ।
हा कथं नु करिष्यामि भर्तुस्तस्मादहं विना ॥ १४ ॥

कोई कहती कि, मेरा भाई और मेरी माता शोक समुद्र में निमग्न होगी। हा ! मैं अपने उस पति के विना क्या करूँगी ! ॥ १४ ॥

मृत्यो प्रसादयामि त्वां नय मां दुखःभागिनीम् ।
किं नु तद्दुष्कृतं कर्म पुरा देहान्तरे कृतम् ॥ १५ ॥

अतएव हे मृत्युदेव ! मैं तुम्हारी प्रार्थना करती हूँ कि, तुम मुझ दु खियारी को ले चलो। हा ! पूर्वजन्म में हमसे ऐसा कौनसा पापकर्म बन पड़ा था ॥ १५ ॥

एवं स्म दुःखिताः सर्वाः पतिताः शोकसागरे ।
न खल्विदानीं पश्यामो दुःखस्यास्यान्तमात्मना ॥१६॥

जिससे आज हम सब इस प्रकार दुःखित हो शोक सागर में पड़ी हैं। हमको तो अपने इस दुःख को अब समाप्ति ही दिखाई नहीं पड़ती ॥ १६ ॥

अहो धिङ्मानुषं लोकं नास्ति खल्वधमः परः ।
यद्दुर्बला बलवता भर्तारो रावणेन नः ॥ १७ ॥

हा ! इस मनुष्यलोक को धिक्कार है। क्योंकि इस जैसा अधम लोक दूसरा नहीं, जहाँ हमारे निर्बल पतियों को इस बलवान् रावण ने वैसे ही ॥ १७ ॥

सूर्येणोदयता काले नक्षत्राणीव नाशिताः ।
अहो सुबलवद्रक्षो वधोपायेषु रज्यते ॥ १८ ॥

नष्ट कर डाला; जैसे सूर्योदय होते ही नक्षत्रों का प्रकाश नष्ट हो जाता है । हा ! यह राक्षस बड़ा ही बलवान है । इसी से तो यह जहाँ चाहता है, वहाँ मारता काटता घूमता फिरता है ॥ १८ ।

अहोदुर्वृत्तमास्थाय नात्मानं वै जुगुप्सते ।
सर्वथा सदृशस्तावद्विक्रमोस्य दुरात्मनः ॥ १९ ॥

अहो ! यह कामी ऐसे दुराचारों में रत रह, अपने को निन्दित नहीं समझता । यह जैसा दुष्ट है, वैसा ही यह पराक्रमी भी तो है ॥ १९ ॥

इदं त्वसदृशं कर्म परदाराभिमर्शनम् ।
यस्मादेष परक्यासु रमते राक्षसाधमः ॥ २० ॥

परस्त्रीगमन करना बहुत बुरा काम है । यह राक्षसाधम परस्त्रियों में प्रीति रखता है और उनके साथ रमण करना चाहता है ॥ २० ॥

तस्माद्वै स्त्रीकृतेनैव वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः ।
सतीभिर्वरनारीभिरेवं वाक्येऽभ्युदीरिते ॥ २१ ॥

सो यह दुर्मति परस्त्री के कारण ही मारा भी जायगा । उन पतिव्रता स्त्रियों के मुख से इन वचनों के निकलते ही ॥२१।

नेदुर्दुन्दुभयः खस्थाः पुष्पवृष्टिः पपात च ।
शप्तः स्त्रीभिः स तु समं हतौजा इव निष्प्रभः ॥२२॥

आकाश में नगाड़े बजे और फूलों की वर्षा हुई। स्त्रियों के इस शाप से रावण का पराक्रम नष्ट हो गया और उसकी प्रभा क्षीण पड़ गई॥ २२॥

पतिव्रताभिः साध्वीभिर्बभूव विमना इव।
एवं विलपितं तासां शृण्वन् राक्षसपुङ्गवः॥ २३॥

उन पतिव्रता एवं साध्वी स्त्रियों के शाप को सुन रावण उदास हो गया। रावण इस प्रकार उन स्त्रियों का विलाप सुनता हुआ॥ २३॥

प्रविवेश पुरीं लङ्कां पूज्यमानो निशाचरैः।
एतस्मिन्नन्तरे घोरा राक्षसी कामरूपिणी॥ २४॥

निशाचरों से सत्कारित हो लङ्का नगरी में जा पहुँचा। इतने में कामरूपिणी भयङ्कर राक्षसी॥ २४॥

सहसा पतिता भूमौ भगिनी रावणस्य सा।
तां स्वसारं समुत्थाप्य रावणः परिसान्त्वयन्॥ २५॥

जो रावण की बहिन थी, आकर रावण के सामने अचानक पृथिवी पर गिर पड़ी। रावण ने बहिन को उठाया और उसे समझा बुझा कर॥ २५॥

अब्रवीत् किमिदं भद्रे वक्तुकामासि मां द्रुतम्।
सा बाष्पपरिरुद्धाक्षी रक्ताक्षी वाक्यमब्रवीत्॥ २६॥

उससे पूँछा—हे भद्रे! बात क्या है? शीघ्र बतलाओ कि, तुम मुझको क्या कहना चाहती हो? लाल लाल नेत्रों वाली निशाचरी ने आँखों में आँसू भर कर कहा,॥ २६॥

कृतास्मि विधवा राजंस्त्वया बलवता बलात् ।
एते राजंस्त्वया वीर्याद्दैत्या विनिहता रणे ॥ २७ ॥

हे राजन् ! तू बलवान है, अतः बलपूर्वक तूने मुझे विधवा कर डाला । तूने अपने विक्रम के प्रभाव से, युद्ध में दैत्यों का संहार किआ ॥ २७ ॥

कालकेया इति ख्याताः सहस्राणि चतुर्दश ।
प्राणेभ्योऽपि गरीयान् मे तत्र भर्ता महाबलः ॥ २८ ॥

तुमने चौदह सहस्र कालकेय दैत्यों के मारने के समय मेरे प्राणों से अधिक प्यारे महाबलवान पति को भी ॥ २८ ॥

सोऽपि त्वया हतस्तात रिपुणा भ्रातृगन्धिना ।
त्वयास्मि निहता राजन् स्वयमेव हि बन्धुना ॥ २९ ॥

हे तात ! तूने शत्रु समझ कर मार डाला । अतः तू मेरा नाम मात्र का भाई है । तुमने उसे क्या मारा मानों मुझे ही मार डाला ॥ २९ ॥

राजन् वैधव्यशब्दं च भोक्ष्यामि त्वत्कृतं ह्यहम् ।
ननु नाम त्वया रक्ष्यो जामाता समरेष्वपि ॥ ३० ॥

हे राजन् ! अब तेरे कारण मुझे विधवापन भोगना पड़ा । तुझको उचित था कि, संग्राम में अपने बहनोई की तो रक्षा करता ॥ ३० ॥

स त्वया निहतो युद्धे स्वयमेव न लज्जसे ।
एवमुक्तो दशग्रीवो भगिन्या क्रोशमानया ॥ ३१ ॥

किन्तु तूने तो उसको स्वयं मार डाला। तिस पर भी तुझको लाज़ नहीं आती। इस प्रकार रोती और विलाप करती हुई अपनी बहिन की बातें सुन, ॥ ३१ ॥

अब्रवीत् सान्त्वयित्वा तां सामपूर्वमिदं वचः ।
अलं वत्से रुदित्वा ते न भेतव्यं च सर्वशः ॥ ३२ ॥

रावण ने ढाढ़स बँधाते हुए उससे नम्रता पूर्वक कहा—बहिन! तुम मत रोओ! किसी बात के लिए डरो भी मत ॥ ३२ ॥

दानमानप्रसादैस्त्वां तोषयिष्यामि यत्नतः ।
युद्धप्रमत्तो व्याक्षिप्तो जयाकांक्षी क्षिपञ्शरान् ॥ ३३ ॥

मैं दान मान और अनुग्रह से यत्नपूर्वक तुझे सदा सन्तुष्ट करता रहूँगा। उस समय विजय की अभिलाषा से युद्ध करता हुआ, मैं उन्मत्त सा हो रहा था और निरन्तर बाणों को छोड़ रहा था ॥ ३३ ॥

नाहमज्ञासिषं युध्यन् स्वान् परान् वापि संयुगे ।
जामातरं न जाने स्म प्रहरन् युद्धदुर्मदः ॥ ३४ ॥

उस युद्ध में मुझे अपने बिराने का कुछ भी ध्यान नहीं था। उस समय मुझे यह ज्ञान न था कि, मेरा बहनोई कहाँ है। युद्ध मे उन्मत्त हो, मैं प्रहार कर रहा था ॥ ३४ ॥

तेनासौ निहतः संख्ये मया भर्ता तव स्वसः ।
अस्मिन् काले तु यत्प्राप्तं तत्करिष्यामि ते हितम् ॥३५॥

इसीसे तेरा स्वामी मेरे हाथ से मारा गया। जो हुआ सो हुआ, इस समय जो तेरे हित की बात होगी, वही मैं करने को तैयार हूँ ॥ ३५ ॥

भ्रातुरैश्वर्ययुक्तस्य खरस्य वस पार्श्वतः ।
चतुर्दशानां भ्राता ते सहस्राणां भविष्यति ॥ ३६ ॥

अब तू अपने भाई ऐश्वर्यवान् खर के पास जाकर रह । तेरा महाबली भाई खर अब से १४ हज़ार राक्षसों का अधिपति होगा ॥ ३६ ॥

प्रभुः प्रयाणे दाने च राक्षसानां महाबलः ।
तत्र मातृष्वसेयस्ते भ्रातायं वै खरः प्रभुः ॥ ३७ ॥

उसे अधिकार होगा कि वह अपने अधीनस्थ राक्षसों को जहाँ चाहें वहाँ भेजे और जिसको जो कुछ देना चाहे दे । वह खर तेरी मौसी का पुत्र है ॥ ३७ ॥

भविष्यति तवादेशं सदा कुर्वन्निशाचरः ।
शीघ्रं गच्छत्वयं वीरो दण्डकान् परिरक्षितुम् ॥ ३८ ॥

सो वह सदा तेरी आज्ञा में रहेगा । अतः हे वीर खर ! तुम दण्डक वन की रक्षा के लिए जाओ ॥ ३८ ॥

दूषणोऽस्य बलाध्यक्षो भविष्यति महाबलः ।
तत्र ते वचनं शूरः करिष्यति तदा खरः ॥ ३९ ॥

महाबली दूषण उसका सेनापति होगा । वहाँ पर शूरवीर खर सदा तुम्हारी आज्ञा का पालन करेगा ॥ ३९ ॥

रक्षसां कामरूपाणां प्रभुरेव भविष्यति ।
एवमुक्त्वा दशग्रीवः सैन्यमस्यादिदेश ह ॥ ४० ॥

यह कामरूपी राक्षसों का स्वामी होगा । यह कह कर दशग्रीव ने खर के साथ रहने के लिये सैनिक राक्षसों को आज्ञा दी ॥ ४० ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां वीर्यशालिनाम् ।
स तैः परिवृतः सर्वैः राक्षसैर्घोरदर्शनैः ॥ ४१ ॥
आगच्छत खरः शीघ्रं दण्डकानकुतोभयः ।
स तत्र कारयामास राज्यं निहतकण्टकम् ।
सा च शूर्पणखा तत्र न्यवसद्दण्डके वने ॥ ४२ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

बल-वीर्य-युक्त एवं भयङ्कर सूरत शक्ल वाले चौदह सहस्र राक्षसों को साथ ले, खर निर्भीक हो दण्डक वन में तुरन्त जा पहुँचा और वहाँ निष्कण्टक राज्य करने लगा। वह शूर्पणखा वहीं दण्डक वन में रहने लगी ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

उत्तरकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

पञ्चविंशः सर्गः

—:०:—

स तु दत्त्वा दशग्रीवो बलं घोरं खरस्य तत् ।
भगिनीं च समाश्वास्य हृष्टः स्वस्थतरोऽभवत् ॥ १ ॥

दशग्रीव उस खर को घोर सेना दे और अपनी बहिन को धीरज बँधा, हर्षित और स्वस्थ हुआ ॥ १ ॥

ततो निकुम्भिला नाम लङ्कोपवनमुत्तमम् ।
तद्राक्षसेन्द्रो बलवान् प्रविवेश सहानुगः ॥ २ ॥

तदनन्तर राक्षसराज रावण अपने अनुचरों को साथ ले निकुम्भिला नामक लङ्का के एक उत्तम उपवन में गया ॥ २ ॥

तवो यूपशताकीर्णं सौम्यचैत्योपशोभितम् ।
ददर्श विष्ठितं यज्ञं श्रिया संप्रज्वलन्निव ॥ ३ ॥

उसने सैकड़ो यज्ञस्तम्भों और विविध प्रकार की यज्ञशालाओ से सुशोभित उस स्थान को अत्यन्त सुसज्जित देखा ॥ ३ ॥

ततः कृष्णाजिनधरं कमण्डलुशिखाध्वजम् ।
ददर्श स्वसुतं तत्र मेघनादं भयावहम् ॥ ४ ॥

फिर वहाँ उसने काले हिरन का चर्म ओढ़े, दण्ड कमण्डलु लिए, भयङ्कर रूपधारी अपने पुत्र मेघनाद को देखा ॥ ४ ॥

तं समासाद्य लङ्केशः परिष्वज्याथ बाहुभिः ।
अब्रवीत् किमिद वत्स वर्तसे ब्रूहि तत्त्वतः ॥ ५ ॥

रावण ने अपनी बीसो भुजाओ को फैला मेघनाद को अपनी छाती से लगा कर, उससे कहा—हे बेटा ! तू यह क्या कर रहा है ? मुझसे समस्त यथार्थ वृत्तान्त कहा ॥ ५ ॥

उशना त्वब्रवीत्तत्र यज्ञसम्पत् समृद्धये ।
रावणं राक्षसश्रेष्ठं द्विजश्रेष्ठो महातपाः ॥ ६ ॥

तब महातपस्वी द्विजश्रेष्ठ शुक्राचार्य ने यज्ञसम्पत्ति बढ़ाने के लिए राक्षसराज रावण से कहा ॥ ६ ॥

अहमाख्यामि ते राजञ्छ्रूयतां सर्वमेव तत् ।
यज्ञास्ते सप्त पुत्रेण प्राप्तास्ते बहुविस्तराः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! मै तुम से सब वृत्तान्त कहता हूँ । तुम सुनो । तुम्हारे पुत्र ने अत्यन्त विस्तार के साथ सात प्रसिद्ध यज्ञ किए है ॥ ७ ॥

अग्निष्टोमोऽश्वमेधश्च यज्ञो वहुसुवर्णकः ।
राजसूयस्तथा यज्ञो गोमेधो वैष्णवस्तथा ॥ ८ ॥

माहेश्वरे प्रवृत्ते तु यज्ञे पुंभिः सुदुर्लभे ।
वरांस्ते लब्धवान् पुत्रः साक्षात् पशुपतेरिह ॥ ९ ॥

अग्निष्टोम, अश्वमेध, वहुसुवर्णक, राजसूय, गोमेध और वैष्णव इन छः यज्ञों को कर चुकने के वाद जब (इसने) माहेश्वर यज्ञ, जिसे हर कोई नहीं कर सकता, किया; तब तुम्हारे पुत्र ने साक्षात् शिव से दुर्लभ वरदान प्राप्त किए ॥ ८ ॥ ९ ॥

कामगं स्यन्दनं दिव्यमन्तरिक्षचरं ध्रुवम् ।
मायां च तामसीं राम यया सम्पद्यते तमः ॥ १० ॥

इसने इच्छाचारी, दिव्य और आकाश में स्थिर रहनेवाला एक रथ पाया है और इसे तापसी नाम्नी माया भी प्राप्त हुई है। हे राम ! इस माया के द्वारा अँधेरा छा दिया जाता है ॥ १० ॥

एतया किल संग्रामे मायया राक्षसेश्वर ।
प्रयुक्तया गतिः शक्या नहि ज्ञातुं सुरासुरैः ॥ ११ ॥

हे राक्षसेश्वर ! जो इस माया को जानता है, उसकी गति जानने की सामर्थ्य देवताओं और असुरों में भी नहीं है ॥ ११ ॥

अक्षयाविषुधी वाणैश्चापं चापि सुदुर्जयम् ।
अस्त्रं च वलवद्राजञ्छत्रुविध्वंसनं रणे ॥ १२ ॥

हे राजन् ! इनके अतिरिक्त इसे कभी रीते न होने वाले दो तरकस, दुर्जेय धनुष तथा संग्राम में शत्रु का नाश करने वाला एक वड़ा वलवान शस्त्र मिला है ॥ १२ ॥

एतान्सर्वान्वरांल्लब्ध्वा पुत्रस्तेऽयं दशानन ।
अद्य यज्ञसमाप्तौ च त्वां दिदृक्षन् स्थितो ह्यहम् ॥१३॥

हे दशानन ! तुम्हारे इस पुत्र ने आज यज्ञ की समाप्ति मे ये समस्त वरदान पाये हैं। आज यज्ञ समाप्त होने पर हम दोनों आपसे मिलना चाहते थे ॥ १३ ॥

ततोऽब्रवीद्दशग्रीवो न शोभनमिदं कृतम् ।
पूजिताः शत्रवो यस्माद् द्रव्यैरिन्द्रपुरोगमाः ॥ १४ ॥

यह सुन रावण ने कहा—हे पुत्र ! यह काम तो तुमने अच्छा नहीं किया। क्योंकि विविध उपचारों से तुमने मेरे शत्रु इन्द्रादि देवताओं की भी पूजा की है ॥ १४ ॥

एहीदानीं कृतं यद्धि सुकृतं तन्न संशयः ।
आगच्छ सौम्य गच्छाम स्वमेव भवनं प्रति ॥ १५ ॥

अस्तु, जो किया सो ठीक ही किया। इसमें सन्देह नहीं कि, इन कार्यों के करने से पुण्य की प्राप्ति अवश्य होगी। आओ ! अब घर चलें ॥ १५ ॥

ततो गत्वा दशग्रीवः सपुत्रः सविभीषणः ।
स्त्रियोऽवतारयामास सर्वास्ता बाष्पगद्गदाः ॥ १६ ॥

यह कह रावण अपने पुत्र और विभीषण को साथ ले अपने घर गया और उन सब रोती हुई स्त्रियों को विमान से उतारा ॥ १६ ॥

लक्षिण्यो रत्नभूताश्च देवदानवरक्षसाम् ।
तस्य तासु मतिं ज्ञात्वा धर्मात्मा वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

वे सब अच्छे लक्षणों वाली रत्न स्वरूप स्त्रियाँ, देवताओं, दानवों और राक्षसों की कन्याएँ थीं। उन सब स्त्रियों के प्रति रावण का दुष्ट अभिप्राय जान धर्मात्मा विभीषण ने कहा ॥१७॥

ईदृशैस्त्वं समाचारैर्यशोर्थ कुलनाशनैः ।
धर्षणं प्राणिनां ज्ञात्वा स्वमतेन विचेष्टसे ॥ १८ ॥

हे राजन्! तुम यह जानते ही हो कि यश, धन और कुल-नाशक आचरणों से पाप होता है। तिस पर भी तुम प्राणियों को सताने के लिए मनमानी करते हो॥ १८॥

ज्ञातींस्तान् धर्षयित्वेमांस्त्वयानीता वराङ्गनाः ।
त्वामतिक्रम्य मधुरा राजन् कुम्भीनसी हृता ॥ १९ ॥

हे राजन्! जिस प्रकार तुमने इन स्त्रियो के बन्धुजनों को नीचा दिखा कर इनको हरा है; उसी प्रकार मधु ने तुम्हें नीचा दिखाने के लिए, तुम्हारी बहिन कुम्भीनसी को हरा है ॥१९॥

रावणस्त्वब्रवीद्वाक्यं नावगच्छामि किं त्विदम् ।
कोऽयं यस्तु त्वयाख्यातो मधुरित्येव नामतः ॥ २० ॥

रावण ने कहा—मै नहीं समझ सकता कि, तुम कह क्या रहे हो। जिसका तुमने नाम लिआ वह मधु है कौन? ॥ २० ॥

विभीषणस्तु संक्रुद्धो भ्रातरं वाक्यमब्रवीत् ।
श्रूयतामस्य पापस्य कर्मणः फलमागतम् ॥ २१ ॥

तब विभीषण ने क्रोध में भर रावण से कहा—परस्त्रीहरण रूप आपके इस पाप का फल जो प्राप्त हुआ, उसे सुन ॥ २१ ॥

मातामहस्य योऽस्माकं ज्येष्ठो भ्राता सुमालिनः ।
माल्यवानिति विख्यातो वृद्धः प्राज्ञो निशाचरः ॥२२॥

हम लोगों के नाना सुमाली के ज्येष्ठ भ्राता माल्यवान वृद्ध हैं और समझदार निशाचार हैं ॥ २२ ॥

पिता ज्येष्ठो जनन्या नो ह्यस्माकं चार्यकोऽभवत् ।
तस्य कुम्भीनसी नाम दुहितुर्दुहिताऽभवत् ॥ २३ ॥
मातृष्वसुरथास्माकं सा च कन्या नलोद्भवा ।
भवत्यस्माकमेवैषा भ्रातॄणां धर्मतः स्वसा ॥ २४ ॥

वे हमारी माता के पिता के वड़े भाई हैं और हम लोगों के मान्य हैं। उनकी लड़की की लड़की कुम्भीनसी –(अर्थात् हम लोगों की मौसी) अनला की वेटी हम लोगों की धर्म की बहिन हुई ॥ २३ ॥ २४ ॥

सा हृता मधुना राजन् राक्षसेन बलीयसा ।
यज्ञप्रवृत्ते पुत्रे तु मयि चान्तर्जलोषिते ॥ २५ ॥

हे राजन्! उसी कुम्भीनसी को महावली मधु नामक राक्षस हर कर ले गया है। उस समय तुम्हारा पुत्र तो यज्ञ करने में लगा हुआ था और मैं तप करने के लिए जल में स्थित था ॥ २५ ॥

कुम्भकर्णो महाराज निद्रामनुभवत्यथ ।
निहत्य राक्षसश्रेष्ठानमात्यानिह संमतान् ॥ २६ ॥

हे महाराज! उस समय कुम्भकर्ण सो रहा था। सो आपके कृपापात्र राक्षसश्रेष्ठ मन्त्रियों को मार कर ॥ २६ ॥

धर्षयित्वा हृता राजन् गुप्ताप्यन्तःपुरे तव ।
अत्वापि तन् महाराज क्षान्तमेव हतो न सः ॥ २७ ॥

तुम्हारे अन्तःपुर में रक्षित कुम्भीनसी को बरजोरी हर ले गया है। उसकी इस उद्दण्डता को सुन कर भी मैंने उसे क्षमा कर दिया, उसे मारा नहीं ॥ २७ ॥

यस्मादवश्यं दातव्या कन्या भर्त्रे हि भ्रातृभिः ।
तदेतत् कर्मणो ह्यस्य फलं पापस्य दुर्मतेः ॥ २८ ॥

क्योंकि मैंने सोचा कि, कुआरी बहिन का विवाह करना भ्राता का आवश्यक कर्त्तव्य है। सो तो किया ही नहीं गया था। हे दुर्मते! यह दुर्घटना तुम्हारे ही दुष्कर्मों का फल है ॥ २८ ॥

अस्मिन्नेवाभिसम्प्राप्तं लोके विदितमस्तु ते ।
विभीषणवचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रः स रावणः ॥ २९ ॥

सो तुमको इस कन्याहरण रूप पाप का फल इसी लोक में (हाथों हाथ) मिल गया। इसे तुम याद रखो। विभीषण के इन वचनों को सुन राक्षसेन्द्र रावण ॥ २९ ॥

दौरात्म्येनात्मनोद्भूतस्तप्ताम्भ इव सागरः ।
ततोऽब्रवीद्दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः ॥ ३० ॥

अपने उस दुष्कर्म से वैसा ही सन्तप्त हुआ, जैसे पानी के गर्म होने से समुद्र खलबला उठता है। तदनन्तर वह मारे क्रोध के लाल लाल नेत्र कर कहने लगा ॥ ३० ॥

कल्प्यतां मे रथः शीघ्रं शूराः सज्जीभवन्तु नः ।
भ्राता मे कुम्भकर्णश्च ये च मुख्या निशाचराः ॥ ३१ ॥

तुरन्त मेरा रथ तैयार करो, मेरे शूर योद्धा लड़ने के लिये कमर कस तैयार हों, मेरा भाई कुम्भकर्ण और मुख्य मुख्य राक्षस ॥ ३१ ॥

वाहनान्यधिरोहन्तु नानाप्रहरणायुधाः ।
अद्य तं समरे हत्वा मधुं रावणनिर्भयम् ॥ ३२ ॥

विविध प्रकार के शस्त्र ले सवारियों पर सवार हों। आज मैं उस मधु को जो रावण से भी नहीं डरता ॥ ३२ ॥

सुरलोकं गमिष्यामि युद्धाकाङ्क्षी सुहृद्वृतः ।
अक्षौहिणीसहस्राणि चत्वार्यग्र्याणि रक्षसाम् ॥ ३३ ॥

मार कर लड़ने के लिए अपने हितैषियों के साथ देवलोक में जाऊँगा। (रावण की आज्ञा पा) मुख्य मुख्य चार सहस्र अक्षौहिणी राक्षस आगे चले ॥ ३३ ॥

नानाप्रहरणान्याशु निर्ययुर्युद्धकाङ्क्षिणाम् ।
इन्द्रजित्त्वग्रतः सैन्यात् सैनिकान् परिगृह्य च ॥३४॥

उनके पास विविध प्रकार के हथियार थे। वे लड़ने की अभिलाषा से चले। मेघनाद सब सेनापतियों को साथ ले आगे हो लिआ ॥ ३४ ॥

जगाम रावणो मध्ये कुम्भकर्णश्च पृष्ठतः ।
विभीषणश्च धर्मात्मा लङ्कायां धर्ममाचरन् ॥ ३५ ॥

बीच में रावण और सब के पीछे कुम्भकर्ण था। किन्तु धर्मात्मा विभीषण लङ्का में रह गये और वे अपने धर्माचरण में लगे रहे ॥ ३५ ॥

शेषाः सर्वे महाभागा ययुर्मधुपुरं प्रति ।
खरैरुष्ट्रैर्हयैर्दीप्तैः शिशुमारैर्महोरगैः ॥ ३६ ॥

बचे हुए अन्य समस्त राक्षस मधुपुरी की ओर रवाना हो गए। वे ऊँटो घोड़ो सूसों और बड़े बड़े साँपों के ऊपर सवार थे ॥ ३६ ॥

राक्षसाः प्रययुः सर्वे कृत्वाकाशं निरन्तरम् ।
दैत्याश्च शतशस्तत्र कृतवैराश्च दैवतैः ॥ ३७ ॥

उस समय वे राक्षस आकाश को ढक कर जाने लगे। देवताओं से वैर रखने वाले सैकड़ों दैत्य ॥ ३७ ॥

रावणं प्रेक्ष्य गच्छन्तमन्वगच्छन् हि पृष्ठतः ।
स तु गत्वा मधुपुरं प्रविश्य च दशाननः ॥ ३८ ॥

रावण को चढ़ाई करने के लिए जाते देख, उसके पीछे लग लिए। रावण चलते चलते मधु के नगर में पहुँचा ॥ ३८ ॥

न ददर्श मधुं तत्र भगिनीं तत्र दृष्टवान् ।
सा च प्रह्वाञ्जलिर्भूत्वा शिरसा चरणौ गता ॥ ३९ ॥

वहाँ पर उसे मधु तो न देख, पड़ा, किन्तु उसे वहाँ उसकी वहिन कुम्भीनसी मिली ! वह भाई को देख, हाथ जोड़ उनके पैरों पर गिर पड़ी। ३९ ॥

तस्य राक्षसराजस्या त्रस्ता कुम्भीनसी तदा ।
तां समुत्थापयामास न भेतव्यमिति ब्रुवन् ॥ ४० ॥

क्योंकि वह रावण से डरती थी। उस समय कुम्भीनसी को पैरों पर गिरी हुई देख, रावण ने उसे उठाया और कहा, डर मत ॥ ४० ॥

रावणो राक्षसश्रेष्ठः किं चापि करवाणि ते।
साऽब्रवीद्यदि मे राजन् प्रसन्नस्त्वं महाभुज ॥ ४१ ॥

मैं राक्षसश्रेष्ठ रावण हूँ। अब बतला कि, मैं तेरे लिए क्या करूँ? उत्तर में कुम्भीनसी ने कहा—हे राजन्! हे महाभुज! यदि तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हुए हो ॥ ४१ ॥

भर्तारं न ममेहाद्य हन्तुमर्हसि मानद।
न हीदृशं भयं किञ्चित् कुलस्त्रीणामिहोच्यते ॥ ४२ ॥

तो हे मानद! अब तुम मेरे पति का वध न करो। क्योंकि कुलीन स्त्रियों के लिए (पतिवध सा) दूसरा और कोई भय ही नहीं है ॥ ४२ ॥

भयानामपि सर्वेषां वैधव्यं व्यसनं महत्।
सत्यवाग्भव राजेन्द्र मामवेक्षस्व याचतीम् ॥ ४३ ॥

समस्त विपत्तियों से बढ़ कर कुलीन स्त्रियों के लिए विधवापन की विपत्ति है। हे राजेन्द्र! तुम अपने वचन को सत्य करो। मैं प्रार्थना कर रही हूँ। तुम मेरी ओर देखो ॥ ४३ ॥

[टिप्पणी—कुलीन स्त्रियों के लिए विधवापन से बढ़ कर अन्य कोई विपत्ति नहीं है। कुम्भीनसी के इस कथन से स्पष्ट है कि, उस समय कुलीन राक्षसों के घरानों में भी पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं थी और विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता था।]

त्वयाऽप्युक्तं महाराज न भेतव्यमिति स्वयम् ।
रावणस्त्वब्रवीद्धृष्टः स्वसारं तत्र संस्थिताम् ॥ ४४ ॥

तुमने स्वयं अभी अपने मुख से कहा है कि, "डरो मत"। तब रावण हर्षित हो, सामने खड़ी हुई अपनी मौसेरी बहिन से बोला ॥ ४४ ॥

क्व चासौ तव भर्ता वै मम शीघ्रं निवेद्यताम् ।
सह तेन गमिष्यामि सुरलोकं* जयाय हि ॥ ४५ ॥

शीघ्र बतला तेरा पति कहाँ है। मैं उसे अपने साथ ले कर जय के लिए स्वर्गलोक को जाऊँगा ॥ ४५ ॥

तव कारुण्यसौहार्दान्निवृत्तोऽस्मि मधोर्वधात् ।
इत्युक्ता सा समुत्थाप्य प्रसुप्तं तं निशाचरम् ॥ ४६ ॥

तेरे ऊपर दया कर और तेरे स्नेहवश मैं अब मधु का वध नहीं करूँगा। यह सुन कर, कुम्भीनसी ने अपने सोते हुए पति को जगाया ॥ ४६ ॥

अब्रवीत् संप्रहृष्टेव राक्षसी सा पतिं वचः ।
एष प्राप्तो दशग्रीवो मम भ्राता महाबलः ॥ ४७ ॥

और हर्षित हो उससे कहा—मेरे महाबली भाई रावण यहाँ आए हुए हैं ॥ ४७ ॥

सुरलोकजयाकाङ्क्षी साहाय्ये त्वां वृणोति च ।
तदस्य त्वं सहायार्थं सबन्धुर्गच्छ राक्षस ॥ ४८ ॥

वे देवलोक जीतने के लिए जा रहे हैं और तुम्हारी सहायता चाहते हैं। अतः हे राक्षस ! अपने भाईबदों सहित उनकी सहायता के लिए उनके साथ जाओ ॥ ४८ ॥

---

* पाठान्तरे—"जयावहे"।

स्निग्धस्य भजमानस्य युक्तमर्थाय कल्पितुम्[1] ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा तथेत्याह मधुर्वचः ॥ ४६ ॥

मुझे देखते ही स्नेहवश रावण ने तुमको अपना बहनोई मान लिया है। अतः उनको सहायता देना तुमको उचित है। कुम्भीनसी के यह वचन सुन, निशाचर मधु ने कहा कि, मैं अवश्य उनकी सहायता करूँगा ॥ ४६ ॥

ददर्श राक्षसश्रेष्ठं यथान्यायमुपेत्य सः ।
पूजयामास धर्मेण रावणं राक्षसाधिपम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर मधु, राक्षसश्रेष्ठ रावण से मिला और उसने यथाविधि, यथोचित एवं धर्मानुसार राक्षसोचित रावण का सत्कार किया ॥ ५० ॥

प्राप्य पूजां दशग्रीवो मधुवेश्मनि वीर्यवान् ।
तत्र चैकां निशामुष्य गमनायोपचक्रमे ॥ ५१ ॥

बलवान रावण ने मधु के भवन में सत्कार प्राप्त कर, वहाँ एक रात वास कर, अगले दिन, वहाँ से प्रस्थान करने की तैयारी की ॥ ५१ ॥

ततः कैलासमासाद्य शैलं वैश्रवणालयम् ।
राक्षसेन्द्रो महेन्द्राभः सेनामुपनिवेशयत् ॥ ५२ ॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ।

इन्द्र के समान राक्षसराज रावण, कुबेर के वासस्थान कैलास पर्वत के शिखर पर गया और वहाँ अपनी सेना का शिबिर स्थापित किया ॥ ५२ ॥

उत्तरकाण्ड का पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

[1] स्निग्धस्य भजमानस्य—त्वयि जामातृभाव भजतः। (रा०)

षड्विंशः सर्गः

—:-※-:—

स तु तत्र दशग्रीवः सह सैन्येन वीर्यवान् ।
अस्तं प्राप्ते दिनकरे निवासं समरोचयत् ॥ १ ॥

सायङ्काल होने पर, पराक्रमी रावण ने सेना सहित वहाँ वास करना पसंद किया ॥ १ ॥

उदिते विमले चन्द्रे तुल्यपर्वतवर्चसि ।
प्रसुप्तं सुमहत्सैन्यं नानाप्रहरणायुधम् ॥ २ ॥

कुछ देर बाद पर्वत के समान विमल चन्द्रमा उदय हुआ। तब विविध प्रकार के आयुधों को धारण किए हुए वह विशाल वाहिनी सो गई ॥ २ ॥

रावणस्तु महावीर्यो निषण्णः शैलमूर्धनि ।
स ददर्श गुणांस्तत्र चन्द्रपादपशोभितान् ॥ ३ ॥

किन्तु रावण, उस पर्वत की चोटी पर लेटा हुआ, विविध प्रकार के पेड़ों और चन्द्रोदय के कारण उस पर्वत की अनेक शोभाओं को देखने लगा ॥ ३ ॥

कर्णिकारवनैर्दीप्तैः *कदम्बबकुलैस्तथा ।
पद्मिनीभिश्च फुल्लाभिर्मन्दाकिन्या जलैरपि ॥ ४ ॥

चम्पकाशोकपुन्नागमन्दारतरुभिस्तथा ।
चूतपाटललोध्रैश्च प्रियंग्वर्जुनकेतकैः ॥ ५ ॥

---

* पाठान्तरे—"कदम्बगहनैस्तथा" ।

तगरैर्नारिकेरैश्च प्रियालपनसैस्तथा ।
एतैरन्यैश्च तरुभिरुद्भासितवनान्तरे ॥ ६ ॥

भली भाँति चमचमाते कर्णिकार वृक्षों के वन, कदम्ब, मौलसिरी, मन्दाकिनी का जल, पुष्पित कमलों का वन, चम्पा, अशोक, नागकेसर, मन्दार, आम, गुलाब, लोध्र, प्रियङ्गु, अर्जुन, केवड़ा, तगर, नारियल, चिरौंजी, कटहर तथा अन्य वृक्षों से वह स्थान भूषित हो रहा था ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

किन्नरा मदनेनार्ता रक्ता मधुरकण्ठिनः ।
समं सम्प्रजगुर्यत्र मनस्तुष्टिविवर्धनम् ॥ ७ ॥

उस वन में, काम से विकल और मधुर कण्ठ वाले किन्नर-गण एकत्र हो, साथ साथ, चित्त को हर्षित करने वाले गीत गा रहे थे ॥ ७ ॥

विद्याधरा मदक्षीबा मदरक्तान्तलोचनाः ।
योषिद्भिः सह संक्रान्ताश्चिक्रीडुर्जहृषुश्च वै ॥ ८ ॥

मदमाते विद्याधर मद के नशे से लाल लाल नेत्र किए, अपनी स्त्रियों के साथ हर्षित हो, क्रीड़ा कर रहे थे ॥ ८ ॥

घण्टानामिव सन्नादः शुश्रुवे मधुरस्वनः ।
अप्सरोगणसङ्घानां गायतां धनदालये ॥ ९ ॥

कुबेर के भवन में गाने वाली अप्सराओं की बड़ी रसील और मीठी ध्वनि, घंटे के नाद की तरह, सुन पड़ती थी ॥ ९ ॥

पुष्पवर्षाणि मुञ्चन्तो नगाः पवनताडिताः ।
शैलं तं वासयन्तीव मधुमाधवगन्धिनः ॥ १० ॥

हवा चलने पर वृक्षों से पुष्पों की वर्षा होती थी। जिनसे वह सारे का सारा पर्वत सुवासित हो रहा था। उन फूलों से वसन्त ऋतु के फूलों जैसी सुगन्धि निकल रही थी ॥ १० ॥

मधुपुष्परजः पृक्तं गन्धमादाय पुष्कलम् ।
प्रववौ वर्धयन् कामं रावणस्य सुखोऽनिलः ॥ ११ ॥

पुष्पपरागयुक्त मकरन्द की गन्ध से भलीभाँति युक्त एवं सुखदायी पवन, रावण का कामोद्दीपन करता हुआ वहने लगा ॥ ११ ॥

गेयात्पुष्पसमृद्ध्या च शैत्याद्वायोर्गिरेर्गुणात् ।
प्रवृत्तायां रजन्यां च चन्द्रस्योदयनेन च ॥ १२ ॥
रावणः स महावीर्यः कामस्य वशमागतः ।
विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य शशिनं समवैक्षत ॥ १३ ॥

उस समय रात्रि होने पर चन्द्रोदय होने से, संगीत सुनने से, पुष्पों की वृद्धि से एवं वायु की शीतलता से तथा पर्वत की शोभा से वलवान राक्षसराज रावण कामदेव के वश में हो, वारंवार लंबी साँसें लेता हुआ, चन्द्रमा की ओर देखने लगा ॥ १२ ॥ १३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र दिव्याभरणभूषिता ।
सर्वाप्सरोवरा रम्भा पूर्णचन्द्रनिभानना ॥ १४ ॥

इतने ही में वहाँ समस्त भूषणों से भूषित समस्त अप्सराओं में श्रेष्ठ, चन्द्राननी रम्भा देख पड़ी ॥ १४ ॥

दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गी मन्दारकृतमूर्धजा ।
दिव्योत्सवकृतारम्भा दिव्यपुष्पविभूषिता ॥ १५ ॥

उस समय वह अपने अंगों में चन्दन लगाए हुए थी। उसके बालों में कल्पवृक्ष के फूल गुथे हुए थे। वह किसी अच्छे उत्सव (जलसे) में शामिल होने के लिए जल्दी जल्दी जा रही थी ॥ १५ ॥

चक्षुर्मनोहरं पीनं मेखलादामभूषितम् ।
समुद्वहन्ती जघनं रतिप्राभृतमुत्तमम् ॥ १६ ॥

उसके नेत्र सुन्दर और कुच कड़े थे। करधनी से भूषित उसके पीन नितम्ब रति के आश्रयस्थल थे ॥ १६ ॥

कृतैर्विशेषकैरार्द्रैः षड्तु कुसुमोद्भवैः ।
बभावन्यतमेव श्रीः कान्तिश्रीद्युतिकीर्तिभिः ॥ १७ ॥

छःओं ऋतुओं मे उत्पन्न हुए फूलों के बने हुए विविध प्रकार के आभूषणों को पहिने हुए रम्भा, कान्ति, शोभा और कीर्ति में दूसरी लक्ष्मी की तरह जान पड़ती थी ॥ १७ ॥

नीलं सतोयमेघाभं वस्त्रं समवगुण्ठिता ।
यस्या वक्त्रं शशिनिभं भ्रुवौ चापनिभे शुभे ॥ १८ ॥

वह सजल मेघ की तरह नीली साड़ी पहिने थी। उसका मुख चन्द्रमा की तरह था और सुन्दर भौंहें धनुष की तरह तनी हुई थीं ॥ १८ ॥

ऊरू करिकराकारौ करौ पल्लवकोमलौ ।
सैन्यमध्येन गच्छन्ती रावणेनोपलक्षिता ॥ १९ ॥

उसकी जाँघें हाथी की सूँड़ की तरह और उसके दोनों हाथ पत्तों से भी अधिक कोमल थे। वह रम्भा, रावण की सैनिक छावनी में हो कर जा रही थी कि, उस पर रावण की दृष्टि पड़ी ॥ १९ ॥

तां समुत्थाय गच्छन्तीं कामबाणवशं गतः ।
करे गृहीत्वा लज्जन्तीं स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ २० ॥

उस समय रावण काम के वशीभूत तो था ही, अतः उसने उठ कर तुरन्त रम्भा का हाथ पकड़ लिआ। यद्यपि रम्भा उस समय बहुत लजाई; तथापि रावण ने मुसक्या कर उससे कहा ॥ २० ॥

क्व गच्छसि वरारोहे कां सिद्धिं भजसे स्वयम् ।
कस्याभ्युदयकालोऽयं यस्त्वां समुपभोक्ष्यते ॥ २१ ॥

हे वरारोहे ! तुम कहाँ जाती हो ? तुम्हारी क्या इच्छा है ? यह समय किसके अभ्युदय का है कि, तुम्हारे साथ भोग करेगा ? २१ ॥

त्वदाननरसस्याद्य पद्मोत्पलसुगन्धिनः ।
सुधामृतरसस्येव कोऽद्य तृप्तिं गमिष्यति ॥ २२ ॥

हे प्रिये ! कमल जैसे सुगन्धियुक्त तुम्हारे अधरों का अमृत-पान कर आज कौन व्यक्ति परितृप्त होगा ? ॥ २२ ॥

स्वर्णकुम्भनिभौ पीनौ शुभौ भीरु निरन्तरौ ।
कस्योरस्थलसंस्पर्शं दास्यतस्ते कुचाविमौ ॥ २३ ॥

हे भीरु ! तुम्हारे सुन्दर बड़े बड़े और सुवर्ण घट की तरह गोल स्तन, जो आपस में सटे हुए हैं, किस पुरुष की छाती का स्पर्श करेंगे ॥ २३ ॥

सुवर्णचक्रप्रतिमं स्वर्णदामाचितं पृथु ।
अध्यारोक्ष्यति कस्तेऽद्य जघनं स्वर्गरूपिणम् ॥ २४

हे भामिनी! सुवर्ण चक्र की तरह सोने की करधनी से भूषित मोटी और स्वर्गतुल्य सुखदायी इन जाँघों पर कौन सवार होगा? ॥२४॥

मद्विशिष्टः पुमान् कोऽद्य शक्रो विष्णुरथाश्विनौ।
मामतीत्य हि यच्च त्वं यासि भीरु न शोभनम् ॥ २५ ॥

हे भीरु! इस जगत में मुझसे बढ़ कर कौन पुरुष है? इन्द्र, विष्णु अथवा अश्विनीकुमार कोई भी मेरी-बराबरी नहीं कर सकता। अतः मुझे छोड़ कर, तेरा अन्य के पास जाना अच्छी बात नहीं ॥ २५ ॥

विश्रम त्वं पृथुश्रोणि शिलातलमिदं शुभम्।
त्रैलोक्ये यः प्रभुश्चैव मदन्यो नैव विद्यते ॥ २६ ॥

हे बड़े नितम्बों वाली! आओ इस शिला पर विश्राम करो। त्रिलोकी मे मुझे छोड़ दूसरा कोई प्रभु (तुझे मिलना कठिन है।) नहीं है ॥ २६ ॥

तदेवं प्राञ्जलिः प्रह्वो याचते त्वां दशाननः।
भर्तुर्भर्ता विधाता च त्रैलोक्यस्य भजस्व माम् ॥२७॥

देख, मैं दशग्रीव, (तेरे) प्रभु का प्रभु और तीनों लोकों का विधाता हो कर भी, नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े तुझसे प्रार्थना करता हूँ। अतः हे सुन्दरी! मेरा कहना मान ले ॥ २७ ॥

एवमुक्ताऽब्रवीद्रम्भा वेपमाना कृताञ्जलिः।
प्रसीद नार्हसे वक्तुमीदृशं त्वं हि मे गुरुः ॥ २८ ॥

रावण के ऐसे वचन सुन, रम्भा काँप उठी और हाथ जोड़ कर बोली—हे राक्षसराज ! तुम मेरे बड़े हो, अतः तुमको ऐसा कहना उचित नहीं है ॥ २८ ॥

अन्येभ्योऽपि त्वया रक्ष्या प्राप्नुयां धर्षणं यदि ।
तद्धर्मतः स्नुषा तेहं तत्त्वमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २६ ॥

प्रत्युत यदि अन्य कोई मेरा अपमान करता हो तो, तुमको उसके हाथ से मेरी रक्षा करनी चाहिए। धर्मानुसार मैं तुम्हारी पुत्रवधू हूँ। मैं यह आपसे सत्य ही सत्य कहती हूँ ॥ २६ ॥

अथाब्रवीद्दशग्रीवश्चरणाधोमुखीं स्थिताम् ।
रोमहर्षमनुप्राप्तां दृष्टमात्रेण तां तदा ॥ ३० ॥

यह कह रम्भा नीचे को मुख कर अपने चरणों की ओर निहारती हुई खड़ी रही। रावण को देखते ही उसका शरीर थर्राने लगा ॥ ३० ॥

सुतस्य यदि मे भार्या ततस्त्वं हि स्नुषा भवेः ।
बाढमित्येव सा रम्भा प्राह रावणमुत्तरम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर रावण ने रम्भा से कहा कि, यदि तू मेरे पुत्र की भार्या होती तो तू मेरी पुत्रवधू हो सकती थी। इसके उत्तर में रम्भा ने कहा—सो बात तो है ही ॥ ३१ ॥

धर्मतस्ते सुतस्याहं भार्या राक्षसपुङ्गव ।
पुत्रः प्रियतरः प्राणैर्भ्रातुर्वैश्रवणस्य ते ॥ ३२ ॥
विख्यातस्त्रिषु लोकेषु नलकूबर इत्ययम् ।
धर्मतो यो भवेद्विप्रः क्षत्रियो वीर्यतो भवेत् ॥ ३३ ॥

हे राक्षसपुङ्गव ! मैं धर्म से तुम्हारी पुत्रवधू ही हूँ। सुनो, तुम्हारे भाई कुवेर का, प्राणों से भी अधिक प्यारा नलकूवर नाम का त्रैलोक्य में प्रसिद्ध एक पुत्र है। वह धर्म का पालन करने मे ब्राह्मण जैसा, पराक्रम मे क्षत्रिय जैसा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

क्रोधाद्यश्च भवेदग्निः क्षान्त्या च वसुधासमः ।
तस्यास्मि कृतसङ्केता लोकपालसुतस्य वै ॥ ३४ ॥

क्रोध मे अग्नि जैसा और क्षमा में पृथिवी के समान है। उस लोकपाल-कुमार के सङ्केतानुसार ॥ ३४ ॥

तमुद्दिश्य तु मे सर्वं विभूषणमिद कृतम् ।
यथा तस्य हि नान्यस्य भावो मां प्रतितिष्ठति ॥३५॥

आज मैं उसके पास जाती हूँ। उसके पास जाने ही को मैंने यह सारा शृंगार किया है। मुझ पर जैसा उनका अनुराग है, वैसा अनुराग अन्य किसी पर नहीं है ॥ ३५ ॥

तेन सत्येन मां राजन् मोक्तुमर्हस्यरिन्दम ।
स हि तिष्ठति धर्मात्मा मां प्रतीक्ष्य समुत्सुकः ॥३६॥

हे अरिन्दम ! उस वादे को पूरा करने के लिए, तुमको उचित है कि मुझे छोड़ दो। क्योंकि वह धर्मात्मा उत्कण्ठा-पूर्वक मेरी बाट जोह रहा होगा। ३६ ॥

तत्र विघ्नं तु तस्येह कर्तुं नार्हसि मुञ्च माम् ।
सद्भिराचरितं मार्गं गच्छ राक्षसपुङ्गव ॥ ३७ ॥

सो तुमको उसके काम मे विघ्न डालना उचित नहीं है। हे राक्षसश्रेष्ठ ! साधुजन जिस मार्ग का अनुसरण करते हैं, उसी मार्ग का अनुसरण तुम भी करो ॥ ३७ ॥

माननीयो मम त्वं हि पालनीया तथास्मि ते ।
एवमुक्तो दशग्रीवः प्रत्युवाच विनीतवत् ॥ ३८ ॥

तुम मेरे मान्य हो, तुमको मेरी रक्षा करनी चाहिए । रम्भा के ये वचन कहने पर, रावण ने उससे बड़ी नम्रता से कहा ॥ ३८ ॥

स्नुषास्मि यदवोचस्त्वमेकपत्नीष्वयं क्रमः ।
देवलोकस्थितिरियं सुराणां शाश्वती मता ॥ ३९ ॥

तुमने जो यह कहा कि—"मैं तुम्हारी पुत्रवधू हूँ," सो यह ठीक नहीं । क्योंकि यह नियम तो उन स्त्रियों के लिए है, जिनका एक पति होता है । इस बात को देवता भी मानते हैं और सनातन से यही बात निश्चित है ॥ ३९ ॥

पतिरप्सरसां नास्ति न चैकस्त्रीपरिग्रहः ।
एवमुक्त्वा स तां रक्षो निवेश्य च शिलातले ॥ ४० ॥

अप्सरा के न तो एक पति होता है और न देवता के एक स्त्री । यह कह कर, रावण ने रम्भा को पर्वत की शिला पर लिटा लिआ ॥ ४० ॥

कामभोगाभिसंरक्तो मैथुनायोपचक्रमे ।
सा विमुक्ता ततो रम्भा भ्रष्टमाल्यविभूषणा ॥ ४१ ॥

और कामभोग में आसक्त हो, उसके साथ विहार करना आरम्भ किआ । जब वह भोग कर चुका, तब रम्भा की वह पुष्पमाला जो वह पहिने हुए थी मसल गई और गहनेभी ढीले ढाले हो गए ॥ ४१ ॥

गजेन्द्राक्रीडमथिता नदीवाकुलतां गता ।
लुलिताकुलकेशान्ता करवेपितपल्लवा ॥ ४२ ॥

गजेन्द्र की क्रीड़ा से विलोड़ित नदी की तरह, रम्भा विकल हो गई। उसके सिर के बाल बिखर गए। वृक्ष के पत्तों की तरह उसके हाथ काँपने लगे ॥ ४२ ॥

पवनेनावधूतेव लता कुसुमशालिनी।
सा वेपमाना लज्जन्ती भीताकरकृताञ्जलिः ॥ ४३ ॥

पवन के झोकों से झकोरी हुई पुष्पलता की तरह काँपती, लजाती और भयभीत रम्भा, हाथ जोड़े हुए ॥ ४३ ॥

नलकूबरमासाद्य पादयोर्निपपात ह।
तदवस्थां च तां दृष्ट्वा महात्मा नलकूबरः ॥ ४४ ॥

नलकूबर के पास गई और पास पहुँच वह उसके चरणों में गिर पड़ी। महात्मा नलकूबर ने उसकी दशा को देख, उससे ॥ ४४ ॥

अब्रवीत् किमिदं भद्रे पादयोः पतितासि मे।
सा वै निःश्वसमाना तु वेपमाना कृताञ्जलिः ॥ ४५ ॥

कहा; हे भद्रे! यह क्या? तुम मेरे चरणों पर क्यों गिरीं? तब रम्भा काँपती हुई और लंबी लंबी साँसें लेती हुई तथा हाथ जोड़ कर ॥ ४५ ॥

तस्मै सर्वं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे।
एष देव दशग्रीवः प्राप्तो गन्तुं त्रिविष्टपम् ॥ ४६ ॥

सब हाल ज्यों का त्यों कहने लगी। (वह बोली) हे देव! रावण स्वर्गलोक में जाने के लिए यहाँ आया है ॥ ४६ ॥

तेन सैन्यसहायेन निशेयं परिणामिता।
आयान्ती तेन दृष्टास्मि त्वत्सकाशमरिन्दम ॥ ४७ ॥

वह समस्त सेनासहित आज की रात यहाँ बिता रहा था। हे अरिन्दम! रावण ने मुझको तुम्हारे पास आते हुए देख लिआ ॥ ४७ ॥

गृहीता तेन पृष्टास्मि कस्य त्वमिति रक्षसा ।
मया तु सर्वं यत्सत्यं तस्मै सर्वं निवेदितम् ॥ ४८ ॥

और मुझे पकड़ कर पूँछा कि तू किसके पास जाती है? मैंने उससे जो सच्ची बात थी, सो सब कह दी ॥ ४८ ॥

काममोहाभिभूतात्मा नाश्रौषीत्तद्वचो मम ।
याच्यमानो मया देवस्नुषा तेहमिति प्रभो ॥ ४९ ॥

किन्तु वह तो काम से अन्धा हो रहा था; अतः उसने मेरी एक भी बात न सुनी। मैंने बहुत प्रार्थना की कि, हे प्रभो! मैं तेरी पुत्रवधू हूँ ॥ ४९ ॥

तत्सर्वं पृष्ठतः कृत्वा बलात्तेनास्मि धर्षिता ।
एवं त्वमपराधं मे क्षन्तुमर्हसि सुव्रत ॥ ५० ॥

किन्तु उसने मेरी एक भी बात न सुनी और मेरे साथ बलात्कार किआ अर्थात् बलपूर्वक मेरे साथ विहार किआ। हे सुव्रत! अतः तुम मेरा यह अपराध क्षमा करो ॥ ५० ॥

नहि तुल्यं बलं सौम्य स्त्रियाश्च पुरुषस्य हि ।
एतच्छ्रुत्वा तु संक्रुद्धस्तदा वैश्रवणात्मजः ॥ ५१ ॥

हे सौम्य! स्त्री का बल कभी भी पुरुष के समान नहीं होता। यह सुन कर कुबेर के पुत्र को क्रोध चढ़ आया ॥ ५१ ॥

धर्षणां तां परां श्रुत्वा ध्यानं सम्प्रविवेश ह ।
तस्य तत्कर्म विज्ञाय तदा वैश्रवणात्मजः ॥ ५२ ॥

सारा वृत्तान्त सुन उसने ध्यान लगा कर (योगबल से) उसके साथ किए गए बलात्कार का सारा वृत्तान्त जान लिआ ॥ ५२ ॥

मुहूर्तात्क्रोधताम्राक्षस्तोयं जग्राह पाणिना ।
गृहीत्वा सलिलं सर्वमुपस्पृश्य यथाविधि ॥ ५३ ॥

तब क्रोध के मारे लाल लाल आँखें कर, उसने उसी समय हाथ में जल ले कर और समस्त इन्द्रियों को स्पर्श कर, एवं विधिपूर्वक आचमन कर ॥ ५३ ॥

उत्ससर्ज तदा शापं राक्षसेन्द्राय दारुणम् ।
अकामा तेन यस्मात्त्वं बलाद्भद्रे प्रधर्षिता ॥ ५४ ॥

राक्षसराज रावण को अति दारुण शाप देते हुए (रम्भा से) कहा—हे भद्रे ! तेरी इच्छा के विरुद्ध उसने तेरे साथ बलात्कार किआ है ॥ ५४ ॥

तस्मात्स युवतीमन्यां नाकामामुपयास्यति ।
यदा ह्यकामां कामार्तो धर्षयिष्यति योषितम् ॥ ५५ ॥

अतः फिर वह इस प्रकार दूसरी स्त्री पर उसकी (इच्छा के विरुद्ध) बलात्कार न कर सकेगा । यदि वह फिर किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार करेगा ॥ ५५ ॥

मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकलीभविता तदा ।
तस्मिन्नुदाहृते शापे ज्वलिताग्निसमप्रभे ॥ ५६ ॥

तो उसके सिर के सात टुकड़े हो जाँयगे। उसके मुँह से जलती हुई आग की तरह इस शाप के निकलते ही ॥ ५६ ॥

देव दुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता।
पितामहमुखाश्चैव सर्वे देवाः प्रहर्षिताः ॥ ५७ ॥

देवताओं के नगाड़े बजने लगे और आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी। ब्रह्मा आदि समस्त देवता प्रसन्न हुए ॥ ५७ ॥

ज्ञात्वा लोकगतिं सर्वां तस्य मृत्युं च रक्षसः।
श्रुत्वा तु स दशग्रीवस्तं शापं रोमहर्षणम् ॥ ५८ ॥

क्योंकि इन सब देवताओं ने लोक की दुर्गति करने वाले दशग्रीव की मौत का यह द्वार (उपाय) समझा। दशग्रीव ने जब से इस रोमाञ्चकारी शाप को सुना ॥ ५८ ॥

नारीषु मैथुनीभावं नाकामास्वभ्यरोचयत्।
तेन नीताः स्त्रियः प्रीतिमापुः सर्वाः पतिव्रताः।
नलकूवरनिर्मुक्तं शापं श्रुत्वा मनःप्रियम् ॥ ५९ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

तब से उसने अकामा स्त्रियों पर बलात्कार करना त्याग दिआ। जिन पतिव्रता स्त्रियों को पहले वह ले गया था, उनको जब नलकूबर के शाप का वृत्तान्त अवगत हुआ, तब वे भी अपने मन में बड़ी प्रसन्न हुइ। ५९ ॥

उत्तरकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:-०-:—

तो उसके सिर के सात टुकड़े हो जाँयगे। उसके मुँह से जलती हुई आग की तरह इस शाप के निकलते ही ॥ ५६ ॥

देव दुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता।
पितामहमुखाश्चैव सर्वे देवाः प्रहर्षिताः ॥ ५७ ॥

देवताओं के नगाड़े बजने लगे और आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी। ब्रह्मा आदि समस्त देवता प्रसन्न हुए ॥ ५७ ॥

ज्ञात्वा लोकगतिं सर्वां तस्य मृत्युं च रक्षसः।
श्रुत्वा तु स दशग्रीवस्तं शापं रोमहर्षणम् ॥ ५८ ॥

क्योंकि इन सब देवताओं ने लोक की दुर्गति करने वाले दशग्रीव की मौत का यह द्वार (उपाय) समझा। दशग्रीव ने जब से इस रोमाञ्चकारी शाप को सुना ॥ ५८ ॥

नारीषु मैथुनीभावं नाकामास्वभ्यरोचयत्।
तेन नीताः स्त्रियः प्रीतिमापुः सर्वाः पतिव्रताः।
नलकूबरनिर्मुक्तं शापं श्रुत्वा मनःप्रियम् ॥ ५९ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

तब से उसने अकामा स्त्रियों पर बलात्कार करना त्याग दिया। जिन पतिव्रता स्त्रियों को पहले वह ले गया था, उनको जब नलकूबर के शाप का वृत्तान्त अवगत हुआ, तब वे भी अपने मन में बड़ी प्रसन्न हुइ। ५९ ॥

उत्तरकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:-०-:—

सप्तविंशः सर्गः

—❀—

कैलासं लङ्घयित्वा तु ससैन्यबलवाहनः ।
आससाद महातेजा इन्द्रलोकं दशाननः ॥ १ ॥

अब कैलास पर्वत को लाँघ कर महातेजस्वी दशग्रीव फौज फाटा और सवारियों सहित, इन्द्रलोक में पहुँचा ॥ १ ॥

[टिप्पणी—इस वर्णन से जान पड़ता है कि, इन्द्रलोक भी इसी पृथिवी-मण्डल पर कहीं था और इन्द्रादि देवता पृथिवी के किसी उत्तरी भाग में रहा करते थे। यदि ऐसा न होता तो सेना के साथ की सवारियाँ इन्द्रलोक में कैसे जा सकती थीं !]

तस्य राक्षससैन्यस्य समन्तादुपयास्यतः ।
देवलोके बभौ शब्दो भिद्यमानार्णवोपमः ॥ २ ॥

चारों ओर से घेर कर जब राक्षसी सेना इन्द्रलोक में पहुँची तब ऐसा कोलाहल हुआ जैसा कि, खलबलाते हुए समुद्र में होता है ॥ २ ॥

श्रुत्वा तु रावणं प्राप्तमिन्द्रश्चलित आसनात् ।
देवानथाब्रवीत्तत्र सर्वानेव समागतान् ॥ ३ ॥

रावण की चढ़ाई का वृत्तान्त जान कर, इन्द्र का सिंहासन डोल उठा। जब सब देवता जमा हो गए तब उन्होंने उनसे कहा ॥ ३ ॥

आदित्यांश्च वसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
सज्जा भवत युद्धार्थं रावणस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥
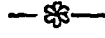
एकत्र हुए बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, साध्यगण तथा उनचास मरुद्गण से कहा—आप लोग दुष्ट रावण के साथ लड़ने के लिए तैयार हों ॥ ४ ॥

एवमुक्तास्तु शक्रेण देवाः शक्रसमा युधि ।
सन्नह्य सुमहासत्त्वा युद्धश्रद्धासमन्विताः ॥ ५ ॥

संग्राम में इन्द्र ही के समान प्रभाव वाले महाबली समस्त देवता लोग इन्द्र के ऐसे वचन सुन, लड़ने की अभिलाषा मन में रखे हुए कवचादि धारण करने लगे ॥ ५ ॥

स तु दीनः परित्रस्तो महेन्द्रो रावणं प्रति ।
विष्णोः समीपमागत्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ६ ॥

उधर इन्द्र, रावण से भयभीत हो भगवान् विष्णु के निकट गए और उनसे बोले ॥ ८ ॥

विष्णोः कथं करिष्यामि रावणं राक्षसं प्रति ।
अहोऽतिबलवद्रक्षो युद्धार्थमभिवर्तते ॥ ७ ॥

हे भगवन्! इस राक्षस रावण के विषय में मुझे क्या करना चाहिए। हाय, यह अति बली रावण लड़ने के लिए आ रहा है ॥ ७ ॥

वरप्रदानाद्बलवान्न खल्वन्येन हेतुना ।
तत्तु सत्यं वचः कार्यं यदुक्तं पद्मयोनिना ॥ ८ ॥

वह केवल वरदान के बल से बलवान् हो रहा है। क्योंकि साक्षात् ब्रह्मा जी ने उससे जो कह दिया है, उसे तो सत्य करना ही पड़ेगा ॥ ८ ॥

तद्यथा नमुचिर्वृत्रो बलिर्नरकशम्बरौ ।
त्वद्बलं समवष्टभ्य मया दग्धास्तथा कुरु ॥ ६ ॥

अतः हे भगवन् ! जिस प्रकार नमुचि, वृत्र, बलि, नरक और शम्बर को तुम्हारी अपार सहायता से मैंने भस्म कर डाला; उसी प्रकार कोई उपाय इस समय भी करो ॥ ६ ॥

न ह्यन्यो देवदेवेश त्वदृते मधुसूदन ।
गतिः परायणं चापि त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ १० ॥

क्योंकि हे देवदेवेश मधुसूदन ! इस चराचरयुक्त त्रैलोक्य में तुमको छोड़ न तो कोई दूसरा आश्रयदाता है और न कोई रक्षक ही ॥ १० ॥

त्वं हि नारायणः श्रीमान् पद्मनाभः सनातनः ।
त्वयेमे स्थापिता लोकाः शक्रश्चाहं सुरेश्वरः ॥ ११ ॥

तुम हो सनातन पद्मनाभ श्री मन्नारायण हो, तुम्हीं ने इन समस्त लोकों को स्थापित किया है और तुम्हारा ही बनाया हुआ मैं सुरपति बना हुआ हूँ ॥ ११ ॥

त्वया सृष्टमिदं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
त्वामेव भगवन् सर्वे प्रविशन्ति युगक्षये ॥ १२ ॥

हे भगवन् ! इस चराचरमय समस्त जगत् के बनाने वाले तुम्हीं हो, और युगान्त में ये सब तुम्हीं में लीन भी हो जाते हैं ॥ १२ ॥

तदाचक्ष्व यथातत्त्वं देवदेव मम स्वयम् ।
असिचक्रसहायस्त्वं योत्स्यसे रावणं प्रति ॥ १३ ॥

अतः हे देवदेव ! जिस प्रकार मेरी जीत हो, तुम मुझे वही उपाय बतला दो। अथवा बतलाओ कि खड्ग और चक्र धारण कर तुम स्वयं रावण से युद्ध करोगे ? ॥ १३ ॥

एवमुक्तः स शक्रेण देवो नारायणः प्रभुः ।
अब्रवीन्न परित्रासः कर्तव्य श्रूयतां च मे ॥ १४ ॥

न तावदेष दुष्टात्मा शक्यो जेतुं सुरासुरैः ।
हन्तुं चापि समासाद्य वरदानेन दुर्जयः ॥ १५ ॥

वे देवदेव भगवान् श्रीमन्नारायण, इन्द्र के इन वचनों को सुन कर बोले—तुम डरो मत ! सुनो। इस दुष्ट रावण को न तो देवता जीत सकते हैं और न दैत्य। न कोई अन्य ही इसे मार सकता है। वरदान के प्रभाव से अभी यह दुर्जेय है ॥ १४ ॥ १५ ॥

सर्वथा तु महत्कर्म करिष्यति बलोत्कटः ।
राक्षसः पुत्रसहितो दृष्टमेतन्निसर्गतः ॥ १६ ॥

इस समय तो यह बड़ा पराक्रम दिखलावेगा। पुत्र की सहायता से यह महाभयङ्कर युद्ध करेगा। यह बात मुझे ज्ञान-दृष्टि से अवगत हो चुकी है ॥ १६ ॥

यत्तु मां त्वमभाषिष्ठा युद्धस्वेति सुरेश्वर ।
नाहं तं प्रतियोत्स्यामि रावणं राक्षसं युधि ॥ १७ ॥

हे सुरेश्वर ! मुझसे तमने जो रावण के साथ युद्ध करने के लिए कहा—सो मैं उसके साथ (अभी) न लड़ूँगा ॥ १७ ॥

नाहत्वा समरे शत्रुं विष्णुः प्रतिनिवर्तते ।
दुर्लभश्चैव कामोऽद्य वरगुप्ताद्धि रावणात् ॥ १८ ॥

क्योंकि शत्रु को मारे बिना विष्णु समरभूमि से लौटते नहीं, किन्तु रावण वरदान के बल (अभी) सुरक्षित है; अतः मेरा अभीष्ट पूर्ण होना कठिन है ॥ १८ ॥

प्रतिजाने च देवेन्द्र त्वत् समीपे शतक्रतो ।
भवितास्मि यथास्याहं रक्षसो मृत्युकारणम् ॥ १६ ॥

हे शतयज्ञकारी सुरपति ! किन्तु मैं तुम्हारे सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि, इस राक्षस की मौत का कारण मैं ही होऊँगा ॥१६॥

अहमेव निहन्तास्मि रावणं सपुरःसरम् ।
देवता नन्दयिष्यामि ज्ञात्वा कालमुपागतम् ॥ २० ॥

मैं ही इसे परिवार सहित मार कर (तुम समस्त) देवताओं को हर्षित करूँगा। परन्तु मारूँगा समय आने पर, अभी नहीं ॥ २० ॥

एतत्ते कथितं तत्त्वं देवराज शचीपते ।
युध्यस्व विगतत्रासः सुरैः सार्धं महाबल ॥ २१ ॥

हे महाबली शचीपति देवराज ! जो वास्तव में बात थी वह मैंने तुमको बतला दी। अब तुम जाओ और निडर हो कर, देवताओं को अपने साथ ले रावण से लड़ो ॥ २१ ॥

ततो रुद्राः सहादित्या वसवो मरुतोऽश्विनौ ।
सन्नद्धा निर्ययुस्तूर्णं राक्षसानभितः पुरात् ॥ २२ ॥

तदनन्तर ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, उनन-चास मरुद्गण और दोनों अश्विनीकुमार, कवचों को पहिन पहिन कर, नगर से निकले और इन लोगों ने राक्षसों के ऊपर आक्रमण किया ॥ २२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे नादः शुश्राव रजनीक्षये ।
तस्य रावणसैन्यस्य प्रयुद्धस्य समन्ततः ॥ २३ ॥

इतने में रावण की सेना के राक्षस सवेरा होते ही विकट युद्ध करने लगे। चारों ओर से उन सैनिक वीरों का कोलाहल सुनाई पड़ने लगा ॥ २३ ॥

ते प्रबुद्धा महावीर्या अन्योन्यमभिवीक्ष्य वै ।
संग्राममेवाभिमुखा अभ्यवर्तन्त हृष्टवत् ॥ २४ ॥

वे महावीर्यवान राक्षस परस्पर एक दूसरे को देख और उत्साह पा कर, हर्षित अन्तःकरण से युद्ध में अग्रसर हो, लड़ने लगे ॥ २४ ॥

ततो दैवतसैन्यानां संक्षोभः समजायत ।
तदक्षयं महासैन्यं दृष्ट्वा समरमूर्धनि ॥ २५ ॥

तदनन्तर राक्षसों की अपार अक्षय्य वाहिनी को देख, देवताओं की सेना में खलबली मच गई ॥ २५ ॥

ततो युद्धं समभवद्देवदानवरक्षसाम् ।
घोरं तुमुलनिर्ह्रादं नानाप्रहरणोद्यतम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर विविध आयुधधारी देवताओं, राक्षसों और दानवों का बड़े कोलाहल के साथ तुमुल युद्ध आरम्भ हुआ ॥२६।

एतस्मिन्नन्तरे शूरा राक्षसा घोरदर्शनाः ।
युद्धार्थं समवर्तन्त सचिवा रावणस्य ते ॥ २७ ॥

उसी अवसर में भयङ्कर शक्ल सूरत के रावण के शूरवीर मन्त्रिगण युद्ध करने के लिए तैयार हुए ॥ २७ ॥

मारीचश्च प्रहस्तश्च महापार्श्वमहोदरौ ।
अकम्पनो निकुम्भश्च शुकः सारण एव च ॥ २८ ॥

मारीच, प्रहस्त, महापार्श्व, महोदर अकम्पन, निकुम्भ, शुक तथा सारण ॥ २८ ॥

संह्रादो धूमकेतुश्च महादंष्ट्रो घटोदरः ।
जम्बुमाली महाह्रादो विरूपाक्षश्च राक्षसः ॥ २९ ॥

संह्राद, धूमकेतु, महादंष्ट्र, घटोदर, जम्बुमाली, महाह्राद और राक्षस विरूपाक्ष ॥ २९ ॥

सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च दुर्मुखो दूषणः खरः ।
त्रिशिराः करवीराक्षः सूर्यशत्रुश्च राक्षसः ॥ ३० ॥

सुप्तघ्न, यज्ञकोप, दुर्मुख, खर, त्रिशिरा, करवीराक्ष और राक्षस सूर्यशत्रु ॥ ३० ॥

महाकायोऽतिकायश्च देवान्तकनरान्तकौ ।
एतैः सर्वैः परिवृतो महावीर्यैर्महाबलः ॥ ३१ ॥

महाकाय, अतिकाय, देवान्तक और नरान्तक; इन सब महावीर्य युक्त राक्षसों को साथ ले कर, महाबलवान ॥ ३१ ॥

रावणस्यार्यकः सैन्यं सुमाली प्रविवेश ह ।
स देवतगणान् सर्वान्नानाप्रहरणैः शितैः ॥ ३२ ॥
व्यध्वंसयत् समं क्रुद्धो वायुर्जलधरानिव ।
तद्दैवतबलं राम हन्यमानं निशाचरैः ॥ ३३ ॥

सुमाली, जो रावण का नाना था, देवताओं की सेना में घुस गया। वह विविध प्रकार के पैने पैने शस्त्रों से क्रोध में भर उनको ऐसे ध्वस्त करने लगा, जैसे हवा मेघों को ध्वस्त करती है। हे राम! देवताओं की सेना, राक्षसों द्वारा मारी जा कर ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

प्रणुन्नं सर्वतो दिग्भ्यः सिंहनुन्ना मृगा इव ।
एतस्मिन्नन्तरे शूरो वसूनामष्टमो वसुः ।
सावित्र इति विख्यातः प्रविवेश रणाजिरम् ॥ ३४ ॥

सिंह से त्रस्त मृगों की तरह दसो दिशाओं को भाग खड़ी हुई। इतने में शूरवीर और वसुओं में अष्टम वसु जिनका नाम सावित्र था, समरभूमि में आये ॥ ३४ ॥

सैन्यैः परिवृतो हृष्टैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ।
त्रासयञ्शत्रुसैन्यानि प्रविवेश रणाजिरम् ॥ ३५ ॥

वह हर्षित हो, बहुत सी सेना को साथ लिए हुए अनेक प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों को चला, शत्रुसैन्य को त्रस्त करते हुए समरभूमि में आए।

तथादित्यौ महावीर्यौ त्वष्टा पूषा च तौ समम् ।
निर्भयौ सहसैन्येन तदा प्राविशतां रणे ॥ ३६ ॥

त्वष्टा और पूषा नाम के दो महाबलवान आदित्य देवता भी, निर्भय हो अपनी सेनासहित समरभूमि में आए ॥ ३६ ॥

ततो युद्धं समभवत्सुराणां सह राक्षसैः ।
क्रुद्धानां रक्षसां कीर्तिं समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ३७ ॥

देवता लोग, राक्षसो की कीर्ति को न सह कर और रण से मुँह न फेर, राक्षसों से लड़ने लगे ॥ ३७ ॥

ततस्ते राक्षसाः सर्वे विबुधान् समरे स्थितान् ।
नानाप्रहरणैर्घोरैर्जघ्नुः शतसहस्रशः ॥ ३८ ॥

तब वे सब राक्षस भी विविध घोर अस्त्र शस्त्र चला चला कर, संग्राम में स्थित सैकड़ों सहस्रों देवताओं का संहार करने लगे ॥ ३८ ॥

देवाश्च राक्षसान् घोरान् महाबलपराक्रमान् ।
समरे विमलैः शस्त्रैरुपनिन्युर्यमक्षयम् ॥ ३९ ॥

देवता लोग भी युद्ध में महाबलवान पराक्रमी राक्षसों को अपने चमचमाते अस्त्रों के आघात से यमालय भेजने लगे ॥३९॥

एतस्मिन्नन्तरे राम सुमाली नाम राक्षसः ।
नानाप्रहरणैः क्रुद्धस्तत् सैन्यं सोऽभ्यवर्तत ॥ ४० ॥

हे राम ! इतने में राक्षस सुमाली विविध प्रकार के हथियार ले और क्रोध में भर, लड़ने के लिए सामने गया ॥ ४० ॥

स दैवतबलं सर्वं नानाप्रहरणैः शितैः ।
व्यध्वंसयत संक्रुद्धो वायुर्जलधरं यथा ॥ ४१ ॥

जैसे हवा बादलों की घटाओं को दूर भगा देती है, वैसे ही सुमाली भी क्रोध में भर विविध प्रकार के पैने शस्त्रों का प्रयोग कर, देवसेना को नष्ट करने लगा ॥ ४१ ॥

ते महाबाणवर्षैश्च शूलप्रासैः सुदारुणैः ।
हन्यमानाः सुराः सर्वे न व्यतिष्ठन्त संहताः ॥ ४२ ॥

वे सब देवता राक्षसों के बाणों की महावृष्टि, तथा शलों, प्रासों आदि दारुण शस्त्रों की मार के सामने समरभूमि में न ठहर सके ॥ ४२ ॥

ततो विद्राव्यमाणेषु दैवतेषु सुमालिना ।
वसूनामष्टमः क्रुद्धः सावित्रो वै व्यवस्थितः ॥ ४३ ॥

जब सुमाली ने देवताओं को भगा दिया; तब वसुओं में अष्टम वसु सावित्र ने क्रोध में भर, उसका सामना किया ॥४३॥

संवृतः स्वैरथानीकैः प्रहरन्तं निशाचरम् ।
विक्रमेण महातेजा वारयामास संयुगे ॥ ४४ ॥

महातेजस्वी सावित्र ने सावधान हो और अपनी रथारूढ वाहिनी को साथ ले, राक्षसों पर प्रहार करना आरम्भ किया और अपने वीर विक्रम से सुमाली को युद्ध में रोक दिया ॥४४॥

ततस्तयोर्महद्युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
सुमालिनो वसोश्चैव समरेष्वनिवर्तिनोः ॥ ४५ ॥

तब संग्राम भूमि में पीठ न दिखाने वाले दोनों सुमाली और वसु का रोमाञ्चकारी बड़ा भयङ्कर युद्ध होने लगा ॥ ४५ ॥

ततस्तस्य महाबाणैर्वसुना सुमहात्मना ।
निहतः पन्नगरथः क्षणेन विनिपातितः ॥ ४६ ॥

महाबली वसु ने बड़े बड़े बाणों को चला उसके सर्परथ को टुकड़े टुकड़े कर क्षणमात्र में गिरा दिया ॥ ४६ ॥

हत्वा तु संयुगे तस्य रथं बाणशतैश्चितम् ।
गदां तस्य वधार्थाय वसुर्जग्राह पाणिना ॥ ४७ ॥

सैकड़ों बाणों को चला और उसके रथ को नष्ट कर, वसु ने सुमाली का वध करने के लिए हाथ में गदा उठायी ॥ ४७ ॥

तत: प्रगृह्य दीप्ताग्रां कालदण्डोपमां गदाम् ।
तां मूर्ध्नि पातयामास सावित्रो वै सुमालिनः ॥ ४८ ॥

सावित्र ने प्रज्वलित और कालदण्ड के समान अपनी गदा उठा सुमाली के सिर में मारी ॥ ४८ ॥

सा तस्योपरि चोल्काभा पतन्ती विबभौ गदा ।
इन्द्रप्रमुक्ता गर्जन्ती गिराविव महाशनिः ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार इन्द्र का चलाया वज्र गर्जता हुआ पर्वतशिखर पर गिरता है, उसी प्रकार वह उल्का की तरह प्रभायुक्त गदा सुमाली के सिर पर गिरी ॥ ४९ ॥

तस्य नैवास्थि न शिरो न मांसं ददृशे तदा ।
गदया भस्मतां नीतं निहतस्य रणाजिरे ॥ ५० ॥

उस गदा के प्रहार से सुमाली की न हड्डी देख पड़ी, न सिर और न माँस ही। उस रणाङ्गन में गदा ने उन सब को भस्म कर, एक ढेर कर दिआ ॥ ५० ॥

तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये राक्षसास्ते समन्ततः ।
व्यद्रवन् सहिताः सर्वे क्रोशमानाः परस्परम् ।
विद्राव्यमाणा वसुना राक्षसा नावतस्थिरे ॥ ५१ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

वे राक्षस उसको युद्ध में मरा हुआ देख, रोते और आपस में कहा सुनी करते हुए, चारों ओर भाग गये।

सावित्र के द्वारा खदेड़े हुए राक्षस समरभूमि में खड़े न रह सके ॥ ५१ ॥

उत्तरकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❀:—

अष्टविंशः सर्गः

—:❀:—

सुमालिनं हतं दृष्ट्वा वसुना भस्मसात् कृतम्।
स्वसैन्यं विद्रुतं चापि लक्षयित्वाऽर्दितं सुरैः ॥ १ ॥

सावित्र वसु द्वारा सुमाली का नष्ट और भस्म होना देख तथा समस्त राक्षसी सेना का देवताओं द्वारा पीड़ित हो कर भागना देख ॥ १ ॥

ततः स बलवान् क्रुद्धो रावणस्य सुतस्तदा।
निवर्त्य राक्षसान् सर्वान् मेघनादो व्यवस्थितः ॥ २ ॥

महाबली रावणपुत्र मेघनाद अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और अपनी समस्त राक्षसी सेना को लौटा कर, स्वयं युद्ध करने को उद्यत हुआ ॥ २ ॥

स रथेन महार्हेण कामगेन महारथः।
अभिदुद्राव सेनां तां वनान्यग्निरिव ज्वलन् ॥ ३ ॥

प्रज्वलित आग जिस प्रकार वन की ओर लपकती है, वैसे ही वह महारथी मेघनाद, इच्छानुसार चलने वाले विशाल रथ पर बैठे देवताओं की सेना पर दौड़ा ॥ ३ ॥

ततः प्रविशतस्तस्य विविधायुधधारिणः ।
विदुद्रुवुर्दिशः सर्वा दर्शनादेव देवताः ॥ ४ ॥

विविध प्रकार के आयुधों से सुसज्जित मेघनाद को समरभूमि में प्रवेश करते देखते ही, समस्त देवता भाग खड़े हुए ॥ ४ ॥

न बभूव तदा कश्चिद्युयुत्सोरस्य संमुखे ।
सर्वानाविद्रुत्य वित्रस्तां ततः शक्रोऽब्रवीत्सुरान् ॥ ५ ॥

उसके सामने कोई भी खड़ा न रह सका । समस्त देवसेना को भयभीत हो भागते देख उनसे इन्द्र कहने लगे । ५ ॥

न भेतव्यं न गन्तव्यं निवर्तध्वं रणे सुराः ।
एष गच्छति पुत्रो मे युद्धार्थमपराजितः ॥ ६ ॥

हे देवताओ ! तुमको न तो डरना चाहिए न भागना चाहिए । तुम सब लोग लौटो । देखो यह मेरा कभी न हारने वाला पुत्र लड़ने जाता है ॥ ६ ॥

ततः शक्रसुतो देवो जयन्त इति विश्रुतः ।
रथेनाद्भुतकल्पेन संग्रामे सोऽभ्यवर्तत ॥ ७ ॥

इन्द्रनन्दन जयन्तदेव एक बड़े विलक्षण रथ पर सवार हो समरक्षेत्र में आया ॥ ७ ॥

ततस्ते त्रिदशाः सर्वे परिवार्य शचीसुतम् ।
रावणस्य सुतं युद्धे समासाद्य प्रजघ्निरे । ८ ॥

तब वे समस्त देवता इन्द्र के पुत्र को घेर कर आए और रावणपुत्र मेघनाद पर प्रहार करने लगे ॥ ८ ॥

तेषां युद्धं समभवत्सदृशं देवरक्षसाम् ।
महेन्द्रस्य च पुत्रस्य राक्षसेन्द्रसुतस्य च ॥ ६ ॥

अब पुनः देवताओं और राक्षसों की एवं जयन्त और मेघनाद की बराबरी की लड़ाई होने लगी ॥ ६ ॥

ततो मातलिपुत्रस्य गोमुखस्य स रावणिः ।
सारथेः पातयामास शरान्कनकभूषणान् ॥ १० ॥

इतने में मेघनाद ने मातलिपुत्र गोमुख (जो जयन्त का रथ हाँक रहा था) के बहुत से सुवर्णभूषित बाण मारे ॥ १० ॥

शचीसुतश्चापि तथा जयन्तस्तस्य सारथिम् ।
तं चापि रावणिः क्रुद्धः समन्तात्प्रत्यविध्यत ॥ ११॥

इसके जवाब में शचीसुत जयन्त ने भी क्रोध में भर मेघनाद के सारथि को और मेघनाद को भी बाण मार कर भली भाँति घायल किया ॥ ११ ॥

स हि क्रोधसमाविष्टो बली विस्फारितेक्षणः ।
रावणिः शक्रतनयं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ १२ ॥

तब तो मेघनाद क्रोध में भर और आँखें तरेरता हुआ बाणों की वर्षा कर इन्द्र के पुत्र को पीड़ित करने लगा ॥ १२ ॥

ततो नानाप्रहरणाञ्छितधारान्सहस्रशः ।
पातयामास संक्रुद्धः सुरसैन्येषु रावणिः ॥ १३ ॥

फिर मेघनाद अत्यन्त कोप कर अनेक प्रकार के पैने हज़ारों आयुध देवताओं की सेना के ऊपर चलाने लगा ॥ १३ ॥

शतघ्नीमुसलप्रासगदाखड्गपरश्वधान् ।
महान्ति गिरिशृङ्गाणि पातयमास रावणिः ॥ १४ ॥

शतघ्नी, मूसल, गदा, प्रास, खड्ग, परश्वध और बड़े बड़े पर्वतखण्डों से वह देवसेना पर प्रहार करने लगा ॥ १४ ॥

ततः प्रव्यथिता लोकाः सञ्जज्ञे च तमस्ततः ।
तस्य रावणपुत्रस्य शत्रुसैन्यानि निघ्नतः ॥ १५ ॥

इस प्रकार से मेघनाद शत्रुसैन्य पर प्रहार कर रहा था कि, इसी बीच में उसकी माया से चारों ओर अन्धकार छा गया। जिस से त्रिलोकवासी समस्त प्रजा घबड़ा उठी ॥ १५ ॥

ततस्तद्दैवतबलं समन्तात्तं शचीसुतम् ।
बहुप्रकारमस्वस्थमभवच्छरपीडितम् ॥ १६ ॥

जयन्त को घेर कर जो देवसेना आयी थी, वह मेघनाद के बाणों से पीड़ित हो गयी और बहुप्रकार से विकल हो उठी ॥ १६ ॥

नाभ्यजानन्त चान्योन्यं रक्षो वा देवताथवा ।
तत्र तत्र विपर्यस्तं समन्तात्परिधावत ॥ १७ ॥

उस समय दोनों ओर की सेना की ऐसी दशा हो गयी कि, उन्हें अपने बिराने का ज्ञान तक न रह गया कि, यह देवता पक्ष का व्यक्ति है कि राक्षस पक्ष का। युद्धभूमि में जिधर देखो उधर बड़ी दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो गयी। सब सैनिक घबड़ाते हुए चारों ओर घूमने लगे ॥ १७ ॥

देवा देवान्निजघ्नुस्ते राक्षसान् राक्षसास्तथा ।
संमूढास्तमसाच्छन्ना व्यद्रवन्नपरे तथा ॥ १८ ॥

यहाँ तक कि, देवता देवता को, राक्षस राक्षस ही को मारने लगे। वीर लोग अन्धकार से घबड़ा कर और अत्यन्त घबड़ा कर भागने लगे ॥ १८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरः पुलोमा नाम वीर्यवान् ।
दैत्येन्द्रस्तेन संगृह्य शचीपुत्रोऽपवाहितः ॥ १९ ॥

यह दशा देख, पराक्रमी वीर पुलोमा नामक दैत्य, शची के पुत्र जयन्त को पकड़ कर भाग गया ॥ १९ ॥

संगृह्य तं तु दौहित्रं प्रविष्टः सागरं तदा ।
आर्यकः स हि तस्यासीत् पुलोमाः येन सा शची ॥२०॥

वह पुलोमा शची का पिता था। अतः वह जयन्त का नाना अपने धेवते को ले समुद्र में घुस गया ॥ २० ॥

ज्ञात्वा [१] प्रणाशं तु तदा जयन्तस्याथ देवताः ।
अप्रहृष्टास्ततः सर्वा व्यथिताः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ २१ ॥

तब समरभूमि में जयन्त को न देख और उसे नष्ट हुआ जान, देवता बड़े दुःखी और व्यथित हो, वहाँ से भाग खड़े हुए ॥ २१ ॥

रावणिस्त्वथ संक्रुद्धो बलैः परिवृतः स्वकैः ।
अभ्यधावत देवांस्तान् मुमोच च महास्वनम् ॥ २२॥

फिर मेघनाद अपनी सेना को साथ लिये हुए क्रोध में भर सिंहनाद करता हुआ देवताओं को खदेड़ने लगा ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा प्रणाशं पुत्रस्य दैवतेषु च विद्रुतम् ।
मातलिं चाह देवेशो रथः समुपनीयताम् ॥ २३ ॥

इन्द्र ने अपने पुत्र को वहाँ न देख तथा देवताओं को युद्ध छोड़ कर भागते देख; मातलि से कहा —मेरा रथ लाओ ॥ २३ ॥

स तु दिव्यो महाभीमः सज्ज एव महारथः ।
उपस्थितो मातलिना वाह्यमानो महाजवः ॥ २४ ॥

इन्द्र के दिव्य, विशाल (देखने में) महाभयङ्कर और तेज़ चलने वाले रथ को तैयार कर मातलि शीघ्र ले आया ॥ २४ ॥

ततो मेघा रथे तस्मिंस्तडिद्वन्तो महाबलाः ।
अग्रतो वायुचपला नेदुः परमनिःस्वनाः ॥ २५ ॥

उस रथ में बिजली सहित बड़े बलवान् मेघ लगे हुए थे और उसके अग्रभाग में वायु से चालित बिजली बड़े ज़ोर से कड़-कड़ाती जाती थी ॥ २५ ॥

नानावाद्यान्यवाद्यन्त गन्धर्वाश्च समाहिताः ।
ननृतुश्चाप्सरःसङ्घा निर्याते त्रिदशेश्वरे ॥ २६ ॥

जिस समय इन्द्र, पुरी से निकले; उस समय गन्धर्व लोग तरह तरह के बाजे बजाते और अप्सराएँ रथ के आगे नाचती जाती थीं ॥ २६ ॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां समरुद्गणैः ।
वृतो नानाप्रहरणैर्निर्ययौ त्रिदशाधिपः ॥ २७ ॥

रुद्र, वसु, आदित्य अश्विनीकुमार और मरुद्गण विविध प्रकार के आयुधों को लिये हुए, इन्द्र के रथ को घेर कर चले जाते थे ॥ २७ ॥

निर्गच्छतस्तु शक्रस्य परुषः पवनो ववौ ।
भास्करो निष्प्रभश्चैव महोल्काश्च प्रपेदिरे ॥ २८ ॥

इन्द्र की रणयात्रा के समय रूखी हवा चलने लगी, सूर्य प्रभाहीन हो गए और आकाश से महाउल्कापात हुआ इन्द्र की पराजय के ये सब सूचक थे ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शूरो दशग्रीवः प्रतापवान् ।
आरुरोह रथं दिव्यं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २९ ॥

इस बीच में रावण भी विश्वकर्मा के बनाए दिव्य रथ पर सवार हुआ ॥ २९ ॥

पन्नगैः सुमहाकायैर्वेष्टितं लोमहर्षणैः ।
येषां निःश्वासवातेन प्रदीप्तमिव संयुगे ॥ ३० ॥

उस रथ में ऐसे बड़े भारी भारी साँप लिपटे हुए थे, जिनको देखने से देखने वाले के (मारे भय के) रोंगटे खड़े हो जाते थे। उन महाविषधर सर्पों की फुफकारों से समरभूमि में उजियाला हो जाता था ॥ ३० ॥

दैत्यैर्निशाचरैश्चैव स रथः परिवारितः ।
समराभिमुखो दिव्यो महेन्द्रं सोऽभ्यवर्तत ॥ ३१ ॥

दैत्य और राक्षस उस रथ को घेरे हुए थे। रावण का वह दिव्य रथ युद्धभूमि में इन्द्र के रथ के सामने जा डटा ॥ ३१ ॥

पुत्रं तं वारयित्वा तु स्वयमेव व्यवस्थितः ।
सोऽपि युद्धाद्विनिष्क्रम्य रावणिः समुपाविशत् ॥३२॥

रावण अपने पुत्र मेघनाद को इन्द्र के साथ लड़ने की मनाई कर, स्वयं लड़ने लगा। तब मेघनाद भी रणक्षेत्र छोड़ अलग जा बैठा ॥ ३२ ॥

ततो युद्धं प्रवृत्तं तु सुराणां राक्षसैः सह ।
शस्त्राणि वर्षतां तेषां मेघानामिव संयुगे ॥ ३३ ॥

अब पुनः देवताओं और राक्षसों का विकट युद्ध आरम्भ हुआ। दोनो ही ओर से मेघों से जलवृष्टि की तरह शस्त्रों की वर्षा होने लगी ॥ ३३ ॥

कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा नानाप्रहरणोद्यतः ।
नाज्ञायत तदा राजन् युद्धं केनाभ्यपद्यत ॥ ३४ ॥

हे राजन्! दुष्ट कुम्भकर्ण भी बहुत से शस्त्र लिये हुए था, पर उसको यह ज्ञान न था, कि मैं किससे लड़ूँ अथवा उसे यह तक मालूम न हुआ कि विपक्षी कौन है ॥ ३४ ॥

दन्तैः पादैर्भुजैर्हस्तैः शक्तितोमरमुद्गरैः ।
येन तेनैव संक्रुद्धस्ताडयामास देवताः ॥ ३५ ॥

अतः उसके आगे यदि कोई देवता पड़ जाता तो उसे वह दाँतों से, लातों से, मूकों से, शक्तियों से, तोमरों से और मुद्गरों से अथवा उस समय उसके हाथ जो वस्तु (रणभूमि में) आ जाती, उसीसे क्रोध में भर, मारने लगता था ॥ ३५ ॥

स तु रुद्रैर्महाघोरैः सङ्गम्याथ निशाचरः ।
प्रयुद्धस्तैश्च सङ्ग्रामे क्षतः शस्त्रैर्निरन्तरम् ॥ ३६ ॥

लड़ते लड़ते वह महाभयानक रुद्रों से जा भिड़ा। रुद्रों के शस्त्रप्रहार से उसका सारा शरीर चलनी हो गया ॥ ३६ ॥

ततस्तद्राक्षसं सैन्यं प्रयुद्धं समरुद्गणैः ।
रणे विद्रावितं सर्वं नानाप्रहरणैस्तदा ॥ ३७ ॥

उधर राक्षसी सेना का मरुद्गणों के साथ विकट लड़ाई हो रही थी। मरुद्गण ने विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सारी राक्षसी सेना को भगा दिआ ॥ ३७ ॥

केचिद्धि निहताः कृत्ताश्चेष्टन्ति स्म महीतले ।
वाहनेष्ववसक्ताश्च स्थिता एवापरे रणे ॥ ३८ ॥

कितने ही राक्षस तो मारे गये और कितने ही घायल हो रणभूमि में पड़े तड़फड़ाने लगे और कितने ही अपनी सवारियों पर मूर्छित हो गिर कर, उनसे चिपट गए ॥ ३८ ॥

रथान्नागान् खरानुष्ट्रान् पन्नगांस्तुरगांस्तथा ।
शिशुमारान् वराहांश्च पिशाचवदनानपि ॥ ३९ ॥
तान् समालिंग्य बाहुभ्यां विष्टब्धाः केचिदुत्थिताः ।
देवैस्तु शस्त्रसंभिन्ना मम्रिरे च निशाचराः ॥ ४० ॥

कितने ही राक्षस रथों, हाथियों, गधों और बहुत से ऊँटों, साँपों, घोड़ों, सूंसों, सुअरों और पिशाचमुख घोड़ों को अपनी भुजाओं से लिपटाए हुए अधमरे से हो रहे थे और कितने ही देवताओं के शस्त्रों के प्रहार से मर चुके थे ॥ ३९ ॥ ४० ॥

चित्रकर्म[1] इवाभाति सर्वेषां रणसंप्लवः ।
निहतानां प्रसुप्तानां राक्षसानां महीतले ॥ ४१ ॥

उस समय रणभूमि में मर कर अथवा अधमरे हो कर पड़े हुए राक्षसों से रणभूमि का अद्भुत दृश्य देख पड़ता था ॥ ४१ ॥

---

१ चित्रकर्म आश्चर्यकरआभातीत्यर्थः । (गो०)

शोणितोदकनिष्पन्दा काकगृध्रसमाकुला ।
प्रवृत्ता संयुगमुखे शस्त्रग्राहवती नदी ॥ ४२ ॥

हत आहत सैनिकों के रक्त की नदी बहने लगी थी। वहाँ गीध और कौओं के झुंड के झुंड इकट्ठे हो गए थे। उनमें शस्त्र रूपी मगर (घड़ियाल) देख पड़ते थे ॥ ४२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धो दशग्रीवः प्रतापवान् ।
निरीक्ष्य तु बलं सर्वं दैवतैर्विनिपातितम् ॥ ४३ ॥

अत्यन्त प्रतापवान् रावण देवताओं द्वारा अपनी समस्त राक्षसी सेना का नाश देख अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ ४३ ॥

स तं प्रति विगाह्याशु प्रवृद्धं सैन्यसागरम् ।
त्रिदशान् समरे निघ्नन् शक्रमेवाभ्यवर्तत ॥ ४४ ॥

वह देवसेना रूपी उमड़ते हुए सागर मे तुरंत घुस पड़ा और देवताओं को मारता मारता इन्द्र के सामने जा पहुँचा ॥ ४४ ॥

ततः शक्रो महच्चापं विस्फार्य सुमहास्वनम् ।
यस्य विस्फारनिर्घोषैः स्तनन्ति स्म दिशो दश॥४५॥

रावण को सामने देख, इन्द्र ने अपना विशाल धनुष टंकारा, जिसके टंकार का घोरशब्द दसों दिशाओं मे प्रतिध्वनित हुआ ॥ ४५ ॥

तद्विकृष्य महच्चापमिन्द्रो रावणमूर्धनि ।
पातयामास स शरान् पावकादित्यवर्चसः ॥ ४६ ॥

इन्द्र ने अपने उस विशाल धनुष को तान कर, अग्नि और सूर्य के समान चमचमाते बाण रावण के मस्तक पर मारे॥४६॥

तथैव च महाबाहुर्दशग्रीवो निशाचरः ।
शक्रं कार्मुकविभ्रष्टैः शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ४७ ॥

उसी तरह महावीर रावण ने भी धनुष पर बाण रख, इन्द्र के ऊपर बाणों की वर्षा की ॥ ४७ ॥

प्रयुध्यतोरथ तयोर्बाणवर्षैः समन्ततः ।
नाज्ञायत तदा किञ्चित् सर्वं हि तमसा वृतम् ॥ ४८ ॥

इति अष्टविंशः सर्गः ॥

जब दोनों रथी इस प्रकार युद्ध करते हुए निरन्तर बाणों की वर्षा करने लगे, तब चारों ओर अन्धकार छा गया । अतः उस समय किसी को कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता था ॥ ४८ ॥

उत्तरकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—:o:—

ततस्तमसि सञ्जाते सर्वे ते देवराक्षसाः ।
आयुद्ध्यन्त बलोन्मत्ताः सूदयन्तः परस्परम् ॥ १ ॥

उस समय देवता और राक्षस मतवाले हो, एक दूसरे को पीड़ित करते हुए, तुमुल युद्ध कर रहे थे । १ ॥

इन्द्रश्च रावणश्चैव रावणिश्च महाबलः ।
तस्मिंस्तमोजालवृते मोहमीयुर्न ते त्रयः ॥ २ ॥

उस अंधकार में इन्द्र, रावण और मेघनाद - ये तीन ही सावधान रह सके ॥ २ ॥

स तु दृष्ट्वा बलं सर्वं रावणो निहतं क्षणात् ।
क्रोधमभ्यगमत्तीव्रं महानादं च मुक्तवान् ॥ ३ ॥

एक क्षण भर में अपनी समस्त सेना का नाश देख, रावण बड़ा क्रुद्ध हुआ और गरजा ॥ ३ ॥

क्रोधात् सूतं च दुर्धर्षः स्यन्दनस्थमुवाच ह ।
परसैन्यस्य मध्येन यावदन्तो नयस्व माम् ॥ ४ ॥

दुर्धर्ष रावण ने रथ पर बैठे हुए सूत से क्रोध में भर कहा -मेरा रथ देवसेना के इस छोर से उस छोर तक ले चल ॥ ४ ॥

अद्यैव त्रिदशान् सर्वान् विक्रमैः समरे स्वयम् ।
नानाशस्त्रमहासारैर्नयामि यमसादनम् ॥ ५ ॥

मैं अभी अपने पराक्रम से अनेक शस्त्रों की वृष्टि कर, देवताओं को यमपुर का पाहुन बनाता हूँ ॥ ५ ॥

अहमिन्द्रं वधिष्यामि धनदं वरुणं यमम् ।
त्रिदशान् विनिहत्याशु स्वयं स्थास्याम्यथोपरि ॥ ६ ॥

मैं स्वयं इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम को मार, सब के ऊपर मालिक बन कर रहूँगा ॥ ६ ॥

विषादो नैव कर्तव्यः शीघ्रं वाहय मे रथम् ।
द्विः खलु त्वां ब्रवीम्यद्य यावदन्तं नयस्व माम् ॥ ७ ॥

अयं स नन्दनोद्देशो यत्र वर्तामहे वयम् ।
नय मामद्य तत्र त्वमुदयो यत्र पर्वतः ॥ ८ ॥

तुम दुःखी न हो कर शीघ्र मेरा रथ हाँको। मुझे उस ओर पर पहुँचाओ। मैंने तुमसे दो वार कहा कि, इस समय जहाँ हम लोग हैं, यह नन्दनवन है। तुम उदयाचल तक मेरा रथ ले चलो ॥ ७ ॥ ८ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तुरगान् स मनोजवान् ।
आदिदेशाथ शत्रूणां मध्येनैव च सारथिः ॥ ९ ॥

रावण के यह वचन सुन, सूत ने शत्रुओं के वीच में हो कर ही मन के वेग के समान चलने वाले घोड़ों को हाँका। ९॥

तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा शक्रो देवेश्वरस्तदा ।
रथस्थः समरस्थस्तान् देवान् वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १० ॥

तब समरभूमि में स्थित देवराज इन्द्र ने रावण के इस निश्चय को जान कर, रथ में वैठे हुए देवताओं से कहा ॥१०॥

सुराः शृणुतमद्वाक्यं यत्तावन् मम रोचते ।
जीवन्नेव दशग्रीवः साधु रक्षो निगृह्यताम् ॥ ११ ॥

हे देवताओ! देखो, इस समय मुझे जो ठीक जान पड़ रहा है, वह मैं कहता हूँ। वह यह है कि, रावण को जीवित ही पकड़ लो ॥ ११ ॥

एष ह्यतिबलः सैन्ये रथेन पवनौजसा ।
गमिष्यति प्रवृद्धोर्मिः समुद्र इव पर्वणि ॥ १२ ॥

क्योंकि एक तो अधिक सेना रहने से यह वैसे ही अधिक वलवान है, दूसरे यह वड़े वेगवान रथ पर सवार हो हवा की

सेना के बीच से ऐसे जा रहा है, जैसे पूर्णमासी का महातरङ्गधारी समुद्र उमड़ता है ॥ १२ ॥

नह्येष हन्तुं शक्योऽद्य वरदानात् सुनिर्भयः ।
तद्ग्रहीष्यामहे रक्षो यत्ता भवत संयुगे ॥ १३ ॥

फिर वरदान के कारण यह निर्भय है अर्थात् मारा तो जा ही नहीं सकता । अतः शीघ्र तैयार हो जाओ जिससे हम इसे पकड़ लें ॥ १३ ॥

यथा बलौ निरुद्धे च त्रैलोक्यं भुज्यते मया ।
एवमेतस्य पापस्य निरोधो मम रोचते ॥ १४ ॥

जैसे बलि के बँध जाने पर मैंने त्रिभुवन का राज्य भोगा है, वैसे ही त्रिभुवन की रक्षा के लिये इस पापी रावण को मैं बंदी बनाना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

ततोन्यं देशमास्थाय शक्रः सन्त्यज्य रावणम् ।
अयुध्यत महाराज राक्षसांस्त्रासयन् रणे ॥ १५ ॥

हे राम ! यह कह देवराज इन्द्र, रावण का सामना छोड़, दूसरी जगह जा कर, राक्षसों को त्रस्त करते हुए, उनसे लड़ने लगे ॥ १५ ॥

उत्तरेण दशग्रीवः प्रविवेशानिवर्तकः ।
दक्षिणेन तु पार्श्वेन प्रविवेश शतक्रतुः ॥ १६ ॥

युद्ध से मुख न मोड़ने वाला रावण देरोक टोक उत्तर की ओर से देवसेना में घुस गया और दक्षिण की ओर से इन्द्र राक्षसी सेना में घुसे ॥ १६ ॥

ततः स योजनशतं प्रविष्टो राक्षसाधिपः ।
देवतानां बलं सर्वं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ १७ ॥

रावण सौ योजन तक घुसता ही चला गया । उसने मारे बाणों के समस्त देवसेना को विदारित कर डाला ॥ १७ ॥

ततः शक्रो निरीक्ष्याथ प्रनष्टं तु स्वकं बलम् ।
न्यवर्तयदसम्भ्रान्तः समावृत्य दशाननम् ॥ १८ ॥

इन्द्र अपनी सेना का नाश देख, सावधान हुए और रावण को घेर कर, उसे उधर से लौटाते हुए, स्वयं भी उसके साथ लौटे ॥ १८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे नादो मुक्तो दानवराक्षसैः ।
हा हताः स्म इति ग्रस्तं दृष्ट्वा शक्रेण रावणम् ॥ १९ ॥

इतने में दानवों और राक्षसों ने बड़ा हाहाकार किया । वे सब यह कह कर कि, हा हम सब मारे गए, उच्च स्वर से चिल्लाने लगे । क्योंकि उन लोगों को निश्चय हो गया कि इन्द्र ने रावण को पकड़ लिया ॥ १९ ॥

ततो रथं समास्थाय रावणिः क्रोधमूर्छितः ।
तत् सैन्यमति सङ्क्रुद्धः प्रविवेश सुदारुणम् ॥ २० ॥

तब तो बड़े क्रोध में भर, मेघनाद रथ पर सवार हो, उस दारुण देवसेना में घुसा ॥ २० ॥

तां प्रविश्य महामायां प्राप्तां पशुपतेः पुरा ।
प्रविवेश सुसंरब्धस्तत् सैन्यं समभिद्रवत् ॥ २१ ॥

पूर्वकाल में महादेव जी से वरदान में जो माया मेघनाद ने पाई थी, उसी माया को प्रकट कर देवसेना में घुस वह देवताओं को खदेड़ने लगा ॥ १ ॥

स सर्वा देवतास्त्यक्त्वा शक्रमेवाभ्यधावत ।
महेन्द्रश्च महातेजा नापश्यच्च सुतं रिपोः ॥ २२ ॥

फिर वह समस्त देवताओं का पीछा करना छोड़, अकेले इन्द्र पर झपटा । परन्तु इन्द्र ने शत्रुपुत्र मेघनाद को न देख पाया ॥ २२ ॥

विमुक्तकवचस्तत्र वध्यमानोऽपि रावणिः ।
त्रिदशैः सुमहावीर्यैर्न चकार च किञ्चन ॥ २३ ॥

कवच रहित महाबली मेघनाद देवों के द्वारा प्रहार किए जाने पर भी, ज़रा सा भी विचलित न हुआ ॥ २३ ॥

स मातलिं समायान्तं ताडयित्वा शरोत्तमैः ।
महेन्द्रं बाणवर्षेण भूय एवाभ्यवाकिरत् ॥ २४ ॥

प्रथम तो उसने उत्तम बाण मातलि के मारे, फिर बाणों की वर्षा कर उसने इन्द्र को पीड़ित किया ॥ २४ ॥

ततस्त्यक्त्वा रथं शक्रो विससर्ज च सारथिम् ।
ऐरावतं समारुह्य मृगयामास रावणिम् ॥ २५ ॥

तब इन्द्र, रथ और सारथि को छोड़ ऐरावत पर सवार हो रावण पुत्र मेघनाद को ढूंढने लगे ॥ २५ ॥

स तत्र मायाबलवानदृश्योऽथान्तरिक्षगः ।
इन्द्रं मायापरिक्षिप्तं कृत्वा स प्राद्रवच्छरैः ॥ २६ ॥

किन्तु वह महाबली मेघनाद तो अन्तरिक्ष में माया द्वारा अदृश्य हो रहा था । वह इन्द्र पर बाणों की वृष्टि कर तथा इन्द्र को अपनी माया में फँसा, उन पर दौड़ा ॥ २६ ॥

स तं यदा परिश्रान्तमिन्द्रं जज्ञेऽथ रावणिः ।
तदैनं मायया बद्ध्वा स्वसैन्यमभितोनयत् ॥ २७ ॥

जब उसने जाना कि, इन्द्र थक गए, तब माया से इन्द्र को बाँध. वह उन्हें अपनी सेना में ले गया ॥ २७ ॥

तं तु दृष्ट्वा बलात्तेन नीयमानं महारणात् ।
महेन्द्रममराः सर्वे किं नु स्यादित्यचिंतयन् ॥ २८ ॥

जब महारण से बलपूर्वक इन्द्र को बाँध कर, मेघनाद ले गया तब यह देख, देवता चिन्तित हुए ॥ २८ ॥

दृश्यते न स मायावी शक्रजित्समितिञ्जयः ।
विद्यावानपि येनेन्द्रो माययाऽपहृतो बलात् ॥ २९ ॥

विशेषता यह थी कि, रणविजयी एवं मायावी मेघनाद इन्द्र को बाँध कर तो ले गया, पर स्वयं अदृश्य ही रहा, उसे कोई भी न देख सका। यद्यपि इन्द्र स्वयं अनेक प्रकार की माया जानते थे, तथापि इन्द्रजीत बरजोरी उनको पकड़ कर ले गया ॥ २९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धाः सर्वे सुरगणास्तदा ।
रावणं विमुखीकृत्य शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ३० ॥

इतने में समस्त देवताओं ने क्रोध में भर, बाणों की वृष्टि कर, रावण को विकल कर, उसे रण से विमुख कर दिआ ॥३०॥

रावणस्तु समासाद्य आदित्यांश्च वसूंस्तदा ।
न शशाक स संग्रामे योद्धुं शत्रुभिरर्दितः ॥ ३१ ॥

आदित्य और वसुओं के बीच में फँस, रावण ऐसा ध्वस्त हुआ कि, उसमें उस समय और अधिक लड़ने की शक्ति न रह गई ॥ ३१ ॥

स तं दृष्ट्वा परिम्लान प्रहारैर्जर्जरीकृतम् ।
रावणिः पितरं युद्धे दर्शनस्थोऽब्रवीदिदम् ॥ ३२ ॥

रावण मारे प्रहारो के जर्जरित शरीर हो अत्यन्त थक गया । तब मेघनाद पिता की इस दशा को देख और स्वयं अदृश्य रह कर, यह बोला ॥ ३२ ॥

आगच्छ तात गच्छामो रणकर्म निवर्तताम् ।
जितं नो विदितं तेऽस्तु स्वस्थो भव गतज्वरः ॥३३॥

हे तात ! हम लोग जीत गए । तुम यह जान कर क्लेशित न हो और सावधान हो जाओ । अब लड़ाई समाप्त हो गई । चलिए घर को चलें ॥ ३३ ॥

अयं हि सुरसैन्यस्य त्रैलोक्यस्य च यः प्रभुः ।
स गृहीतो देवबलाद्भग्नदर्पाः सुराः कृताः ॥ ३४ ॥

जो देवताओं की सेना के ही नहीं, बल्कि जो त्रिलोकी के स्वामी हैं, उन इन्द्र को मैंने पकड़ लिआ है । अब देवताओं का अभिमान चूर चूर हो गया ॥ ३४ ॥

यथेष्टं भुंक्ष्व लोकांस्त्रीन्निगृह्यारातिमोजसा ।
वृथा किं ते श्रमेणेह युद्धमद्य तु निष्फलम् ॥ ३५ ॥

अब तुम तीनों लोकों का यथेष्ट भोग करो और अपने शत्रु को बन्दीगृह में बंद कर दो । अब तुम्हारा युद्ध का श्रम उठाना व्यर्थ है ॥ ३५ ॥

ततस्ते दैवतगणा निवृत्ता रणकर्मणः ।
तच्छ्रुत्वा रावणेर्वाक्यं शक्रहीनाः सुरा गताः ॥३६॥

तब देवताओं ने युद्ध बंद कर दिआ। मेघनाद के ये वचन सुन और इन्द्र को गँवा, देवता वहाँ से चल दिये ॥ ३६ ॥

अथ स रणविगतमुत्तमौजा-
स्त्रिदशरिपुः प्रथितो निशाचरेन्द्रः ।
स्वसुतवचनमादृतः प्रियं
तत् समनुनिशम्य जगाद चैव सूनुम् ॥ ३७ ॥

अत्यन्त बलवान् इन्द्रशत्रु एवं प्रसिद्ध राक्षसराज रावण, अपने पुत्र के ऐसे प्रियवचन सुन और रण से लौट, आदर-सहित पुत्र से बोला ॥ ३७ ॥

अतिबलसदृशैः पराक्रमैस्त्वं
मम कुलवंशविवर्धनः प्रभो ।
यदयमतुलबलस्त्वयाद्य वै
त्रिदशपतिस्त्रिदशाश्च निर्जिताः ॥ ३८ ॥

हे बेटा ! अति बलवान् पुरुष की तरह पराक्रम प्रकट कर, तूने मेरे कुल और वंश का गौरव बढ़ाया। तूने आज इन्द्र को और देवताओं को भी जीत लिआ ॥ ३८ ॥

नय रथमधिरोप्य वासवं
नगरमितो व्रज सेनया वृतस्त्वम् ।
अहमपि तव पृष्ठतो द्रुतं
सह सचिवैरनुयामि हृष्टवत् ॥ ३९ ॥

अब तू इन्द्र को रथ पर चढ़ा और अपनी सेना को साथ ले, लङ्का को ले जा। मैं भी तेरे पीछे अपने मंत्रियों को साथ ले हर्षित हो आता हूँ ॥ ३९ ॥

अथ स बलवृतः सवाहन-
स्त्रिदशपतिं परिगृह्य रावणिः।
स्वभवनमधिगम्य वीर्यवान्
कृतसमरान् विससर्ज राक्षसान् ॥ ४० ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर बलवान् मेघनाद स्वर्गाधीश इन्द्र को पकड़ कर सेना और वाहनों सहित अपने घर को चला गया और वहाँ जा उसने सैनिकों को अपने अपने घरों को लौट जाने की आज्ञा दी ॥ ४० ॥

उत्तरकाण्ड का उनतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

त्रिंशः सर्गः

—:o:—

जिते महेन्द्रेऽतिबले रावणस्य सुतेन वै।
प्रजापतिं पुरस्कृत्य ययुर्लङ्कां सुरास्तदा ॥ १ ॥

इस प्रकार जब इन्द्र पकड़ कर लङ्का में ले जाए गए, तब ब्रह्मा जी को आगे कर समस्त देवता लङ्का में पहुँचे ॥ १ ॥

तत्र रावणमासाद्य पुत्रभ्रातृभिरावृतम्।
अब्रवीद् गगनं तिष्ठन् सामपूर्वं प्रजापतिः ॥ २ ॥

टिप्पणी—आजकल के हुज्जती नौजवान इस प्रश्न को पढ़ राक्षसों के वरदाता ब्रह्मादि देवताओं की दूरदर्शिता का उपहास कर सकते हैं। जब शास्त्र उच्च स्वर से कुपपात्र को देने का डिंडिम पीट रहा है, तब जानते हुए भी देवगण व राक्षसों को वर देकर साँपों का विष क्यों बढ़ाते रहे।—इस अदूरदर्शिता का जो परिणाम हुआ, वह आगे के श्लोकों में देखा जा सकता है।]

उस समय पुत्र और भाइयों सहित बैठे हुए रावण से, आकाशस्थित ब्रह्मा जी ने, शान्तिपूर्वक कहा ॥ २ ॥

वत्स रावण तुष्टोऽस्मि पुत्रस्य तव संयुगे ।
अहोऽस्य विक्रमौदार्यं तव तुल्योऽधिकोपि वा ॥ ३ ॥

हे वत्स रावण! मैं तेरे लड़के की शूरवीरता से सन्तुष्ट हूँ। वाह! उसकी शूरवीरता की बड़ाई क्या की जाय। तुम्हारे समान; नहीं नहीं, वह तुम से भी चढ़ बढ़ कर पराक्रमी है ॥३॥

जितं हि भवता सर्वं त्रैलोक्यं स्वेन तेजसा ।
कृता प्रतिज्ञा सफला प्रीतोऽस्मि ससुतस्य ते ॥ ४ ॥

तुमने अपने पराक्रम से तीनों लोक जीते और अपनी प्रतिज्ञा भी पूरी की। अतः मैं तुम दोनों अर्थात् पिता पुत्र के ऊपर प्रसन्न हूँ ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस चापलूसी का भी कुछ ठिकाना है !]

अयं च पुत्रोऽतिबलस्तव रावण वीर्यवान् ।
जगतीन्द्रजिदित्येव परिख्यातो भविष्यति ॥ ५ ॥

हे रावण! यह तेरा अतिबली पुत्र संसार में इन्द्रजित् नाम से पुकारा जायगा ॥ ५ ॥

बलवान् दुर्जयश्चैव भविष्यत्येव राक्षसः ।
यं समाश्रित्य ते राजन् स्थापितास्त्रिदशा वशे ॥ ६ ॥

हे राजन्, तुमने जिसकी सहायता से देवताओं को अपने

वश में कर लिया है, सो तुम्हारा यह निशाचर—पुत्र, बलवान और दुर्जेय होगा ॥ ६ ॥

तन्मुच्यतां महाबाहो महेन्द्रः पाकशासनः ।
किं चास्य मोक्षणार्थाय प्रयच्छन्तु दिवौकसः ॥ ७ ॥

अब हे महाबलवान् ! तुम इन्द्र को छोड़ दो और इनके बदले तुम देवताओं से क्या चाहते हो सो भी बतला दो ॥ ७ ॥

टिप्पणी—ब्रह्माजी विजेता से Peace terms सुलह करने की शर्तें पूछ रहे हैं ।

अथाब्रवीन् महातेजा इन्द्रजित् समितिञ्जयः ।
अमरत्वमहं देव वृणे यद्येष मुच्यते ॥ ८ ॥

इस पर समरविजयी महाबली इन्द्रजित बोला—हे देव ! यदि तुम इन्द्र को छुड़वाना चाहते हो तो मुझे अमरत्व प्रदान करो ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन् महातेजा मेघनादं प्रजापतिः ।
नास्ति सर्वामरत्वं हि कस्यचित् प्राणिनो भुवि ॥ ९॥
चतुष्पदः पक्षिणश्च भूतानां वा महौजसाम् ।
श्रुत्वा पितामहेनोक्तमिन्द्रजित् प्रभुणाव्ययम् ॥ १० ॥

तब महातेजस्वी ब्रह्मा जी ने मेघनाद से कहा—हे मेघनाद ! पृथिवी पर कोई भी प्राणी—क्या चौपाये क्या पक्षी अथवा अन्य बड़े बड़े पराक्रमी प्राणी – कोई भी अमर नहीं है । अविनाशी भगवान् ब्रह्मा जी के वचन सुन, इन्द्रजित ॥ ९ ॥

अथाब्रवीत् स तत्रस्थं मेघनादो महाबलः ।
श्रूयतां वा भवेत् सिद्धिः शतक्रतुविमोक्षणे ॥ ११ ॥

जो महाबलवान था, ब्रह्मा जी से बोला कि, तो सुनिये ! इन्द्र को छोड़ने के बदले तुम मुझे वे सिद्धियाँ दो जो मैं माँगू ॥ ११ ॥

ममेष्टं नित्यशो हव्यैर्मन्त्रैः सम्पूज्य पावकम् ।
संग्राममवतर्तुं च शत्रुनिर्जयकाङ्क्षिणः ॥ १२ ॥

अश्वयुक्तो रथो मह्यमुत्तिष्ठेत्तु विभावसोः ।
तत्स्थस्यामरता स्यान् मे एप मे निश्चितो वरः ॥ १३ ॥

तस्मिन् यद्यसमाप्ते च जप्यहोमे विभावसौ ।
युध्येयं देव संग्रामे तदा मे स्याद्विनाशनम् ॥ १४ ॥

सर्वो हि तपसा देव वृणोत्यमरतां पुमान् ।
विक्रमेण मया त्वेतदमरत्वं प्रवर्तितम् ॥ १५ ॥

जब मैं शत्रु को जीतने के लिए निकलूँ और उस समय अग्निदेव का पूजन कर हवनीय द्रव्य की आहुति दूँ, तब उस अग्नि में से मेरे लिए घोड़ों सहित रथ निकले। उस रथ पर जब तक मैं सवार रहूँ, तब तक अमर रहूँ। यही मेरा निश्चित वर है। हे देव ! यदि मैं उस जप होम को पूरा किए बिना, युद्ध करूँ तो मै मारा जाऊँ। हे देव ! अन्य सब लोग तो तप द्वारा अमरता चाहते हैं, किन्तु मै तो अपना पराक्रम के द्वारा अमरत्व चाहता हूँ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

एवमस्त्विति तं चाह वाक्यं देवः पितामहः ।
मुक्तश्चेन्द्रजिता शक्रो गताश्च त्रिदिवं सुराः ॥ १६ ॥

तब लोकपितामह ब्रह्मा जी ने कहा—हे इन्द्रजित् ! ऐसा ही हो। तब मेघनाद ने इन्द्र को छोड़ दिया। तब सब देवता स्वर्ग को चले गए ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम दीनो भ्रष्टामरद्युतिः ।
इन्द्रश्चिन्तापरीतात्मा ध्यानतत्परतां गतः ॥ १७ ॥

हे राम इन्द्र छूट तो गए, किन्तु वे उदास थे एवं उनमें जो पहले देवत्व की कान्ति थी वह अब नहीं रह गई थी । अतः वे चिन्तामग्न हो कुछ सोचने लगे ॥ १७ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथाभूतं प्राह देवः पितामहः ।
शतक्रतो किमु पुरा करोति स्म सुदुष्कृतम् ॥ १८ ॥

इन्द्र को चिन्तित देख ब्रह्मा जी बोले—हे इन्द्र ! चिन्ता क्या करते हो । अपने कुकृत्य का स्मरण करो ॥ १८ ॥

अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो ।
एकवर्णाः समा भाषा एकरूपाश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

हे इन्द्र ! मैंने पहिले कुछ सृष्टि सङ्कल्प से रची थीं । उसका एक ही सा रूप रंग और एक ही सी बोली थी ॥ १९ ॥

तासां नास्ति विशेषो हि दर्शने लक्षणेऽपि वा ।
ततोऽहमेकाग्रमनास्ताः प्रजाः समचिन्तयम् ॥ २० ॥

उनमें क्या रूप में तथा क्या अन्य लक्षणों मे कुछ भी अन्तर न था । तब मैंने मन को एकाग्र कर, विचारा ॥ २० ॥

सोऽहं तासां विशेषार्थं स्त्रियमेकां विनिर्ममे ।
यद्यत् प्रजानां प्रत्यंगं विशिष्टं तत्तदुद्धृतम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर सोच विचार कर मैंने उनमें कुछ विशेषता दिख लाने के लिए एक स्वतन्त्र स्त्री बनाई । उस स्त्री के बनाने में मैंने सब प्रजा के उत्तम उत्तम अंगों का सारभाग ग्रहण किया ॥२१॥

ततो मया रूपगुणैरहल्या स्त्री विनिर्मिता ।
हलं नामेह वैरूप्यं हल्यं तत्प्रभवं भवेत् ॥ २२ ॥

मैंने अत्यन्त रूपवती और गुणवती अहल्या नाम की स्त्री बनाई। हल शब्द का अर्थ है—कुरूपता। उस हल अर्थात् कुरूपता से जो उत्पन्न हो उसको हल्य कहते हैं ॥ २२ ॥

यस्या न विद्यते हल्यं तेनाहल्येति विश्रुता ।
अहल्येत्येव च मया तस्या नाम प्रकीर्तितम् ॥ २३ ॥

जिसमें हल्य अर्थात् कुरूपता नहीं उसे अहल्या कहते हैं। (अर्थात् जो सर्वाङ्ग सुन्दरी हो उसका नाम अहल्या है।) इसी से मैंने उसका नाम अहल्या रखा ॥ २३ ॥

निर्मितायां च देवेन्द्र तस्यां नार्यां सुरर्षभ ।
भविष्यतीति कस्यैषा मम चिन्ता ततोऽभवत् ॥ २४ ॥

हे देवश्रेष्ठ ! उस नारी को बनाने के बाद मेरे मन में इस बात की चिन्ता हुई कि, यह किसकी स्त्री होगी ? ॥ २४ ॥

त्वं तु शक्र तदा नारीं जानीषे मनसा प्रभो ।
स्थानाधिकतया पत्नी ममैषेति पुरन्दर ॥ २५ ॥

किन्तु तुमने अपने मन में सोचा कि, मैं तीनों लोकों का स्वामी हूँ, अतः यह मेरी ही स्त्री होगी ॥ २५ ॥

सा मया न्यासभूता तु गौतमस्य महात्मनः ।
न्यस्ता बहूनि वर्षाणि तेन निर्यातिता च ह ॥ २६ ॥

किन्तु मैंने धरोहर की तरह उसे गौतम मुनि के अधीन कर दिया। वह वहाँ मुनि के पास बहुत दिनों तक रही। तदनन्तर मुनि ने उसे मुझे लौटा दिया ॥ २६ ॥

तनस्तस्य परिज्ञाय महास्थैर्यं महामुनेः ।
ज्ञात्वा तपसि सिद्धिं च पत्न्यर्थं स्पर्शिता तदा ॥२७॥

परन्तु जब मैंने उस महामुनि की (मानसिक) स्थिरता और तपःसिद्धि देखी; तब मैंने अहल्या पुनः उन्हीं के अधीन कर दी और उनसे कह दिया कि उसे वे अपनी भार्या बना लें ॥ २७ ॥

स तया सह धर्मात्मा रमते स्म महामुनिः ।
आसन्निराशा देवास्तु गौतमे दत्तया तया ॥ २८ ॥

तब गौतम जो उसके साथ सुखपूर्वक काल बिताने लगे। इस प्रकार अहल्या को गौतम की स्त्री बना देने पर, देवता उसकी प्राप्ति की ओर से आश छोड़ बैठे ॥ २८ ॥

त्वं क्रुद्धस्त्विह कामात्मा गत्वा तस्याश्रमं मुनेः ।
दृष्टवांश्च तदा तां स्त्रीं दीप्तामग्निशिखामिव ॥ २९ ॥

किन्तु तुम काम के वशवर्ती हो, क्रुद्ध हुए और ऋषि के आश्रम में जा, तुमने अग्निशिखा के तुल्य उस स्त्री को देखा॥२९॥

सा त्वया धर्षिता शक्र कामार्तेन समन्युना ।
दृष्टस्त्वं स तदा तेन आश्रमे परमर्षिणा ॥ ३० ॥

तुमने कामदेव से उन्मत्त हो और क्रोध में भर, उस स्त्री का सतीत्व नष्ट किया। उस समय गौतम ने तुमको अपने आश्रम में देख लिया ॥ ३० ॥

ततः क्रुद्धेन तेनासि शप्तः परमतेजसा ।
गतोऽसि येन देवेन्द्र दशाभागविपर्ययम् ॥ ३१ ॥

यस्मान् मे धर्षिता पत्नी त्वया वासव निर्भयात् ।
तस्मात्त्वं समरे शक्र शत्रुहस्तं गमिष्यसि ॥ ३२ ॥

तब महामुनि गौतम जी ने क्रुद्ध हो तुमको यह शाप दिया कि, हे देवराज ! तुमने अपना रूप बदल कर, मेरी स्त्री का सतीत्व नष्ट किया और कुछ भी न डरे; अतः तुम्हारी विपरीत दशा हो जायगी और तुम युद्ध में शत्रु द्वारा पकड़े जाओगे ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अयं तु भावो दुर्बुद्धे यस्त्वयेह प्रवर्तितः ।
मानुषेष्वपि लोकेषु भविष्यति न संशयः ॥ ३३ ॥

हे दुर्बुद्धे ! तुमने यह एक अनुचित प्रथा जारी की। सो इस दूषित प्रथा की छूत मनुष्यों को भी लग जायगी। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३३ ॥

तत्रार्धं तस्य यः कर्ता त्वय्यर्धं निपतिष्यति ।
न च ते स्थावरं स्थानं भविष्यति न संशयः ॥ ३४ ॥

अतः जो पुरुष यह जारकर्म करेगा, उसके आधे पाप के तुम भागी होगे और आधा पाप उस जारकर्म करने वाले को लगेगा। (इतना ही नहीं) देवराज्य पर सदा तुम रहने भी न पाओगे ॥ ३४ ॥

यश्च यश्च सुरेन्द्रः स्याद् ध्रुवः स न भविष्यति ।
एष शापो मया मुक्त इत्यसौ त्वां तदाब्रवीत् ॥ ३५ ॥

यह पाप केवल तुम्हारे लिए ही (व्यक्तिगत) नहीं है, किन्तु जो कोई इन्द्रपद पर बैठेगा, वही अस्थिर होगा। मेरा शाप इन्द्रमात्र के लिए है। गौतम मुनि ने इस प्रकार तुमसे कहा था ॥ ३५ ॥

तां तु भार्यां मुनिर्भर्त्स्य सोऽब्रवीत्सुमहातपाः ।
दुर्विनीते विनिध्वंस ममाश्रमसमीपतः ॥ ३६ ॥

तदनन्तर वे महातपस्वी गौतम जो अपनी स्त्री को धिक्कारते हुए बोले - दुर्विनीते ! मेरे आश्रम के निकट ही तू रूपहीन हो कर रहेगी ॥ ३६ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना यस्मात्त्वमनवस्थिता ।
तस्माद्रूपवती लोके न त्वमेका भविष्यति ॥ ३७ ॥

ऐसा रूप और यौवन पा कर भी तेरा चित्त इतना चञ्चल है और तूने असन्मार्ग का अवलम्बन किया, अतः अब से तू ही एक ऐसी रूपवती न रहेगी (अर्थात् तेरी जैसी अन्य स्त्रियाँ भी रूपवती हुआ करेंगी ।) ॥ ३७ ॥

रूपं च ते प्रजाः सर्वा गमिष्यति न संशयः ।
यत्तदेकं समाश्रित्य विभ्रमोऽयमुपस्थितः ॥ ३८ ॥

केवल तेरे रूपवती होने के कारण ही यह विभ्राट उपस्थित हुआ है, अतः अब से तुम्ह जैसी और स्त्रियाँ भी निस्सन्देह रूपवती हुआ करेंगी ॥ ३८ ॥

तदाप्रभृति भूयिष्ठं प्रजा रूपसमन्विता ।
सा तं प्रसादयामास महर्षिं गौतमं तदा ॥ ३९ ॥

तभी से प्रजा अधिक रूपवती होने लगी । यह शाप सुन अहल्या ने मुनि को प्रसन्न करने के लिए कहा ॥ ३९ ॥

अज्ञानाद्धर्षिता विप्र त्वद्रूपेण दिवौकसा ।
न कामकाराद्विप्रर्षे प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

हे विप्र ! इन्द्र ने तुम्हारा रूप धर कर, मुझको छला है। मैं जान न पाई कि, यह इन्द्र है। मैंने जानबूझ कर यह पाप नहीं किया। सो तुम मुझे क्षमा करो और मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ ॥ ४० ॥

अहल्यया त्वेवमुक्तः प्रत्युवाच स गौतमः ।
उत्पत्स्यति महातेजा इक्ष्वाकूणां महारथः ॥ ४१ ॥
रामो नाम श्रुतो लोके वनं चाप्युपयास्यति ।
ब्राह्मणार्थे महाबाहुर्विष्णुर्मानुषविग्रहः ॥ ४२ ॥

अहल्या के ऐसे वचन सुन, गौतम जी ने कहा—ब्राह्मणों के हितार्थ महाबलवान भगवान् विष्णु मनुष्यदेह धारण कर इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न होंगे। वे महातेजस्वी महारथी इस संसार में राम के नाम से प्रसिद्ध होंगे तथा वन में आवेंगे ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

तं द्रक्ष्यसि यदा भद्रे ततः पूतो भविष्यसि ।
स हि पावयितुं शक्तस्त्वया यद्दुष्कृतं कृतम् ॥ ४३ ॥

हे भद्रे ! उनका दर्शन कर के तेरे पाप दूर होंगे वे श्री रामचन्द्र जी ही तेरे इस किए हुए पाप को दूर कर सकेंगे ॥४३॥

तस्यातिथ्यं च कृत्वा वै मत्समीपं गमिष्यसि ।
वत्स्यसि त्वं मया सार्धं तदा हि वरवर्णिनि ॥ ४४ ॥

हे श्रेष्ठवर्णवाली ! उनका आतिथ्य कर के जब तू मेरे निकट आवेगी, तब तू पुनः मेरे साथ रहने योग्य हो सकेगी ॥ ४४ ॥

एवमुक्त्वा स विप्रर्षिराजगाम स्वमाश्रमम् ।
तपश्चचार सुमहत् सा पत्नी ब्रह्मवादिनः ॥ ४५ ॥

यह कह कर, वे ब्रह्मर्षि फिर अपने आश्रम को चले गए। तब से इन ब्रह्मवादी की स्त्री अहल्या ने भी बड़ा तप करना आरम्भ किया ॥ ४५ ॥

शापोत्सर्गाद्धि तस्येदं मुनेः सर्वमुपस्थितम् ।
तत्स्मर त्वं महाबाहो दुष्कृतं यत्त्वया कृतम् ॥ ४६ ॥

हे इन्द्र ! गौतम जी के शाप ही से तुम्हारी यह दशा हुई है। हे महाबाहो ! अतः तुम अपने उस कुकृत्य को याद करो ॥४६॥

[टिप्पणी – देवता हो या मनुष्य इस भूमण्डल पर जो कोई बुरा या अच्छा कर्म करता है, उसे उसके शुभाशुभ कर्म का शुभाशुभ फल अवश्य मिलता है।]

तेन त्वं ग्रहणं शत्रोर्यातो नान्येन वासव ।
शीघ्रं वै यज यज्ञं त्वं वैष्णवं सुसमाहितः ॥ ४७ ॥

हे इन्द्र ! उसी शाप के कारण शत्रु ने तुमको पकड़ा है। अब तुम सावधानता पूर्वक शीघ्र वैष्णवयज्ञ करो । ४७ ॥

पावितस्तेन यज्ञेन यास्यसे त्रिदिवं ततः ।
पुत्रश्च तव देवेन्द्र न विनष्टो महारणे ॥ ४८ ॥

उस यज्ञ के करने पर शुद्ध हो कर, तुम फिर देवलोक में जा सकोगे। हे देवराज ! युद्ध में तुम्हारा पुत्र जयन्त मारा नहीं गया है । ४८ ॥

नीतः सन्निहितश्चैव आर्यकेण महोदधौ ।
एतच्छ्रुत्वा महेन्द्रस्तु यज्ञमिष्ट्वा च वैष्णवम् ॥ ४९ ॥
पुनस्त्रिदिवमाक्रामदन्वशासच्च देवराट् ।
एतदिन्द्रजितो नाम बलं यत्कीर्तितं मया ॥ ५० ॥

निर्जितस्तेन देवेन्द्रः प्राणिनोऽन्ये तु किं पुनः ।
आश्चर्यमिति रामश्च लक्ष्मणश्चाब्रवीत्तदा ॥ ५१ ॥

उसे तुम्हारे ससुर पुलोमा समुद्र में ले गए हैं। यह सुन कर इन्द्र ने वैष्णवयज्ञ किया। (उस यज्ञ के प्रभाव से) वे पवित्र हो, स्वर्ग में गए और पुनः राज्यासन पर विराजे। हे रघुनन्दन! इन्द्रजित् इस प्रकार का बली था। दूसरों की तो बिसाँत ही क्या, उसने देवराज इन्द्र को जीत लिया था। अगस्त्य मुनि की बातें सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को आश्चर्य हुआ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

अगस्त्यवचनं श्रुत्वा वानरा राक्षसास्तदा ।
विभीषणस्तु रामस्य पार्श्वस्थो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५२ ॥

अगस्त्य जी के वचन सुन, वानर तथा राक्षस और विभीषण, जो श्रीरामचन्द्र जी के निकट बैठे थे, यह बोले ॥ ५२ ॥

आश्चर्यं स्मारितोऽस्म्यद्य यत्तद्दृष्टं पुरातनम् ।
अगस्त्यं त्वब्रवीद्रामः सत्यमेतच्छ्रुतं च मे ॥ ५३ ॥

आश्चर्य है! बहुत दिनों बाद आज मुझको फिर पुरानी बातें याद हो आईं। तब श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी से कहा कि, आपने जो कहा, वह सत्य है। क्योंकि मैं ये सब बातें सुन चुका हूँ ॥ ५३ ॥

एवं राम समुद्भूतो रावणो लोककण्टकः ।
सपुत्रो येन संग्रामे जितः शक्रः सुरेश्वरः ॥ ५४ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

(अन्त) में अगस्त्य जी बोले— हे ! राम, जिस रावण ने इन्द्र को तथा उनके पुत्र जयन्त को युद्ध में हरा दिया था, उस लोककण्टक रावण की उत्पत्तिकथा यही है ॥ ५४ ॥

[नोट—लंकाकाण्ड के अन्तिम सर्ग में सुग्रीवादि वानरों और विभीषणादि राक्षसों का अपने अपने स्थानों को जाना कहा जा चुका है। किन्तु ५२वें श्लोक में पुनः उनकी उपस्थिति देख आश्चर्य होता है ?]

उत्तरकाण्ड का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ

—:※:—

एकत्रिंशः सर्गः

—:०:—

ततो रामो महातेजा विस्मयात् पुनरेव हि ।
उवाच *प्रणतो वाक्यमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी विस्मित हो तथा प्रणाम कर ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी से बोले ॥ १ ॥

भगवन् राक्षसः क्रूरो यदा प्रभृति मेदिनीम् ।
पर्यटत् किं तदा लोकाः शून्या आसन् द्विजोत्तम ॥२॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हे भगवन् ! क्रूर स्वभाव रावण जब पृथिवी पर घूमता था, तब क्या इस पृथिवी पर कोई वीर था ही नहीं ? अथवा क्या पृथिवी वीरशून्य थी ? ॥ २ ॥

राजा वा राजमात्रो वा किं तदा नात्र कश्चन ।
धर्षणं यत्र न प्राप्तो रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ३ ॥

उस समय क्या कोई राजा या अन्य कोई राजपुरुष ऐसा न रह गया था, जो रावण को दबा सकता ? ॥ ३ ॥

* पाठान्तरे—"प्रश्रुतो ।"

उताहो१हतवीर्यास्ते बभूवुः पृथिवीक्षितः ।
बहिष्कृता वरास्त्रैश्च बहवो निर्जिता नृपाः ॥ ४ ॥

क्या उस समय राजाओं में दलबन्दी थी अथवा सब राजाओं का तेज और बल नष्ट हो गया था ? अथवा क्या वे सब रावण से हार गए ? ॥ ४ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा अगस्त्यो भगवानृषिः ।
उवाच रामं प्रहसन् पितामह इवेश्वरम् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, भगवान् अगस्त्य ऋषि जी हँस कर, श्रीरामचन्द्र जी से ऐसे बोले, मानों ब्रह्मा जी शिव जी से बोलते हो ॥ ५ ॥

इत्येव बाधमानस्तु पार्थिवान् पार्थिवर्षभ ।
चचार रावणो राम पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ६ ॥

[टिप्पणी—अगस्त्य जी के हँसने का कारण,यह था कि श्रीरामचन्द्र जी को सब घटनाएँ विदित थीं । तथापि वे अनजान की तरह प्रश्न करते थे ।]

हे राजाओं में श्रेष्ठ ! हे पृथिवीपते ! इस प्रकार राजाओं को पीड़ित करता हुआ रावण जब पृथिवी पर घूम रहा था ॥ ६ ।

ततो माहिष्मतीं नाम पुरीं स्वर्गपुरीप्रभाम् ।
सम्प्राप्तो यत्र सान्निध्यं सदासीद्वसुरेतसः ॥ ७ ॥

तब वह घूमता घूमता स्वर्ग तुल्य उस माहिष्मती पुरी में पहुँचा, जहाँ सदा अग्निदेव वास करते थे ॥ ७ ॥

तुल्य आसीन्नृपस्तस्य प्रभावाद्वसुरेतसः
अर्जुनो नाम यत्राग्निः शरकुण्डेशयः२ सदा ॥ ८ ॥

---

१ उताहो—पक्षान्तरे वर्तते । (गो०) २ शरकुण्डेशयः—शरास्तरणवत् कुण्ड तत्र शेते इति । (गो०)

वहाँ का राजा अर्जुन भी अग्नि के प्रभाव से अग्नि ही के समान था। वहाँ शरकुण्ड में अग्नि सदा दहकता रहता था ॥ ८ ॥

तमेव दिवसं सोऽथ हैहयाधिपतिर्बली।
अर्जुनो नर्मदां रन्तुं गतः स्त्रीभिः सहेश्वरः ॥ ९ ॥
तमेव दिवसं सोऽथ रावणस्तत्र आगतः।
रावणो राक्षसेन्द्रस्तु तस्यामात्यानपृच्छत ॥ १० ॥

हैहयाधिपति बलवान् राजा अर्जुन स्त्रियों के सहित जिस दिवस नर्मदा पर जलविहार करने गया; उसी दिन रावण भी वहाँ पहुँचा और उसने अर्जुन के मंत्रियों से पूछा ॥ ९ ॥ १० ॥

क्वार्जुनो नृपतिः शीघ्रं सम्यगाख्यातुमर्हथ।
रावणोऽहमनुप्राप्तो युद्धेप्सुर्नृवरेण ह ॥ ११ ॥

राजा अर्जुन कहाँ है? शीघ्र बतलाओ। मैं रावण हूँ। मैं उसके साथ युद्ध करूँगा ॥ ११ ॥

ममागमनमप्यग्रे युष्माभिः सन्निवेद्यताम्।
इत्येवं रावणेनोक्तास्तेऽमात्याः सुविपश्चितः ॥ १२ ॥

सब से पहले तुम उसे मेरे आने की सूचना दो। राजा अर्जुन के बड़े समझदार उन मंत्रियों ने रावण के इन वचनों को सुन ॥ १२ ॥

अब्रुवन् राक्षसपतिमसान्निध्यं महीपतेः।
श्रुत्वा विश्रवसः पुत्रः पौराणामर्जुनं गतम् ॥ १३ ॥

रावण से कहा कि, इस समय महाराज राजधानी में नहीं हैं। रावण पुरवासियों के मुख से यह सुन ॥ १३ ॥

अपसृत्यागतो विन्ध्यं हिमवत् सन्निभं गिरिम् ।
स तमभ्रमिवाविष्टमुद्भ्रान्तमिव मेदिनीम् ॥ १४ ॥
अपश्यद्रावणो विन्ध्यमालिखन्तमिवाम्बरम् ।
सहस्रशिखरोपेतं सिंहाध्युषितकन्दरम् ॥ १५ ॥
प्रपातपतितैः शीतैः साट्टहासमिवाम्बुभिः ।
देवदानवगन्धर्वैः साप्सरोभिः सकिन्नरैः ॥ १६ ॥
स्वस्त्रीभिः क्रीडमानैश्च स्वर्गभूतं महोच्छ्रयम् ।
नदीभिः स्यन्दमानाभिः स्फटिकप्रतिमञ्जलम् ॥१७॥
फणाभिश्चलजिह्वाभिरनन्तमिव विष्ठितम् ।
उत्क्रामन्तं दरीवन्तं हिमवत्सन्निभं गिरिम् ॥ १८ ॥
पश्यमानस्ततो विन्ध्यं रावणो नर्मदां ययौ ।
चलोपलजलां पुण्यां पश्चिमोदधिगामिनीम् ॥ १९ ॥

उस पुरी को छोड़, हिमालय के समान विन्ध्याचल पर आया । वहाँ जा कर उसने वह पर्वत देखा, जो आकाश को स्पर्श करता हुआ सा और पृथिवी को फोड़ कर निकला हुआ सा जान पड़ता था । वह हज़ारों शिखरों से शोभित था और सिंहादि अनेक जंतु उसकी कन्दराओं में रहते थे । सैकड़ों श्वेत रङ्ग के जल के झरने उससे निकल रहे थे । उससे ऐसा जान पड़ता था, मानों पर्वत अट्टहास कर रहा है । देव, दानव अप्सराओं सहित गंधर्व और किन्नर उस पर्वत पर स्त्रियों को ले कर क्रीड़ा कर रहे थे । इसीसे वह बड़ा ऊँचा पर्वत स्वर्ग जैसा जान पड़ता था । स्फटिक के समान स्वच्छ जल से भरी हुई

नदियों से वह भूपित था; अतः वह पर्वत फणधारी चञ्च
जिह्वा वाले शेष जी की तरह शोभायमान हो रहा था। हिम
लय के समान ऊँचा और कन्दराओं से युक्त, उस विन्ध्यपर्व
को देखता देखता रावण नर्मदा नदी पर पहुँचा। वह पवि
नदी स्वच्छ पर्वतों पर बहती और पश्चिम समुद्र में गिरती
॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

महिषैः सृमरैः सिंहैः शार्दूलर्क्षगजोत्तमैः ।
उष्णाभितप्तैस्तृपितैः संक्षोभितजलाशयाम् ॥ २० ॥

भैंसे, सृमर, सिंह, शार्दूल, भालू और गजेन्द्र आदि जीव, सूर्य की गर्मी से उत्तप्त हो, नर्मदा के जल में घुस, उसको गँदला कर रहे थे ॥ २० ॥

चक्रवाकैः सकारण्डैः सहंसजलकुक्कुटैः ।
सारसैश्च सदामत्तैः कूजद्भिः सुसमावृताम् ॥ २१ ॥

चक्रवाक, कारण्डव, हंस, जलकुक्कुट और सारस पक्षी उसे घेर कर, सदा मतवाले हो शब्द किया करते थे ॥ २१ ॥

फुल्लद्रुमकृतोत्तंसां चक्रवाकयुगस्तनीम् ।
विस्तीर्णपुलिनश्रोणीं हंसावलिसुमेखलाम् ॥ २२ ॥

मनमोहने वाली नर्मदा ने मानो सुन्दरी कामिनी की तरह कान्ति धारण कर ली थी। पुष्पित वृक्ष उसके भूषण, चक्रवाक उसके कुच, विशालतट उसके नितम्ब, और हंसपंक्ति मानों उसकी करधनी थी ॥ २२ ॥

पुष्परेण्वनुलिप्ताङ्गीं जलफेनामलांशुकाम् ।
जलावगाहसुस्पर्शां फुल्लोत्पलशुभेक्षणाम् ॥ २३ ॥

पुष्पपराग उसका अंगराग, जलफेन उसका सफेद पट, स्नान सुख उसका स्पर्शसुख और पुष्पित कमल ही मानों शुभ्र नेत्र थे ॥ २३ ॥

पुष्पकादवरुह्याशु नर्मदां सरितां वराम् ।
इष्टामिव वरां नारीमवगाह्य दशाननः ॥ २४ ॥

वहाँ रावण तुरन्त पुष्पक से उतर पड़ा और उत्तम प्रियतमा किसी स्त्री की तरह नदियों में श्रेष्ठ नर्मदा नदी में उसने स्नान किआ ॥ २४ ॥

स तस्याः पुलिने रम्ये नानामुनिनिषेविते ।
उपोपविष्टः सचिवैः सार्धं राक्षसपुङ्गवः ॥ २५ ॥

तदनन्तर रावण अपने मंत्रियो सहित उस अनेक मुनिसेवित नर्मदा के रम्य तट पर बैठ गया ॥ २५ ॥

प्रख्याय नर्मदां सोऽथ गङ्गेयमिति रावणः ।
नर्मदा दर्शने हर्षमाप्तवान् स दशाननः ॥ २६ ॥

रावण ने नर्मदा को गङ्गा की तरह बतला उसकी प्रशंसा की और उसके दर्शन कर वह हर्षित हुआ ॥ २६ ॥

उवाच सचिवांस्तत्र सलीलं शुकसारणौ ।
एष रश्मिसहस्रेण जगत् कृत्वेव काञ्चनम् ॥ २७ ॥

तदनंतर उसने अनायास (अथवा खेल ही खेल में) हँस कर मारीच, शुक और सारण नामक अपने मंत्रियों से कहा— देखो अपनी सहस्रों किरणों से जगत् को सुवर्ण के वर्ण का कर ॥ २७ ॥

तीक्ष्णतापकरः सूर्यो नभसो मध्यमास्थितः ।
मामासीनं विदित्वैव चन्द्रायति दिवाकरः ॥ २८ ॥

इस समय तीक्ष्ण ताप देने वाला सूर्य आकाश में विराजमान हो रहा है; किन्तु मुझे यहाँ बैठा हुआ जान, वह चन्द्रमा की तरह ठंडी किरनों से मुझे छू रहा है ॥ २८ ॥

नर्मदाजलशीतश्च सुगन्धिः श्रमनाशनः ।
मद्भयादनिलो ह्येष वात्यसौ सुसमाहितः ॥ २९ ॥

मेरे डर से यह पवन नर्मदा के जल को छू कर शीतल और सुगन्धियुक्त होने के कारण थकावट को दूर कर रहा है और बड़ी सावधानी से चल रहा है ॥ २९ ॥

इयं वापि सरिच्छ्रेष्ठा नर्मदा शर्मवर्धिनी ।
नक्रमीनविहङ्गोर्मिः सभयेवाङ्गना स्थिता ॥ ३० ॥

मगर मच्छ और पक्षियों से युक्त यह मनोहारिणी नर्मदा, तरङ्गों से व्याप्त होने पर भी, डरी हुई ललना के समान जान पड़ती है ॥ ३० ॥

तद्भवन्तः क्षताः शस्त्रैर्नृपैरिन्द्रसमैर्युधि ।
चन्दनस्य रसेनेव रुधिरेण समुक्षिताः ॥ ३१ ॥

इन्द्र के समान पराक्रमी राजाओं के शस्त्रों की तुम लोगों ने चोटें सही हैं और चन्दन के रस की तरह रुधिर तुम्हारे सब शरीर में लिपटा हुआ है ॥ ३१ ॥

ते यूयमवगाहध्वं नर्मदां शर्मदां शुभाम् ।
सार्वभौममुखा मत्ता गङ्गामिव महागजाः ॥ ३२ ॥

अतः जैसे सार्वभौमादि मतवाले गजेन्द्र गङ्गा में स्नान करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी इस सुखदायिनी और कल्याण-कारिणी नर्मदा में स्नान कर डालो ॥ ३२ ॥

अस्यां स्नात्वा महानद्यां पाप्मनो विप्रमोक्ष्यथ ।
अहमप्यद्य पुलिने शरदिन्दुसमप्रभे ॥ ३३ ॥

और इस महानदी में स्नान कर अपने पापों को धो बहाओ। मैं भी अब शारदीय ज्योत्स्ना के समान इस प्रभायुक्त रेती में ॥ ३३ ॥

पुष्पोपहारं शनकैः करिष्यामि कपर्दिनः ।
रावणेनैवमुक्तास्तु प्रहस्तशुकसारणाः ॥ ३४ ॥
समहोदरधूम्राक्षा नर्मदां विजगाहिरे ।
राक्षसेन्द्रगजैस्तैस्तु क्षोभिता नर्मदा नदी ॥ ३५ ॥

कपर्दी महादेव जी की पूजा के लिए फूलों की भेंट सजाता हूँ। रावण के ऐसा कहने पर, प्रहस्त, शुक, सारण, महोदर, धूम्राक्ष आदि मंत्रिवर्ग रूपी हाथियो ने नर्मदा को वैसे ही क्षुब्ध कर डाला ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

वामनाञ्जनपद्माद्यैर्गङ्गा इव महागजैः ।
ततस्ते राक्षसाः स्नात्वा नर्मदायां महाबलाः ॥ ३६ ॥

जैसे वामन, अञ्जन और पद्म नामक महादिग्गज गङ्गा जी को क्षुब्ध कर डालते हैं। फिर वे महाबली राक्षस लोग, नर्मदा में स्नान कर ॥ ३६ ॥

उत्तीर्य पुष्पाण्याजह्रुर्बल्यर्थं रावणस्य तु ।
नर्मदापुलिने हृद्ये शुभ्राभ्रसदृशप्रभे ॥ ३७ ॥

नदी से निकले और रावण के लिए शिवजी का पूजन करने को फूल इकट्ठे करने लगे। सफेद बादल की तरह नर्मदा नदी की रेती में ॥ ३७ ॥

राक्षसैस्तु मुहूर्तेन कृतः पुष्पमयो गिरिः ।
पुष्पेषूपहृतेष्वेवं रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ३८ ॥

उन राक्षसों ने थोड़ी ही देर में पर्वत की तरह फूलों का ढेर कर दिया। जब फूल आ गए तब राक्षसराज रावण ॥ ३८ ॥

अवतीर्णो नदीं स्नातुं गङ्गामिव महागजः ।
तत्र स्नात्वा च विधिवज्जप्त्वा जप्यमनुत्तमम् ॥३९॥

स्नान करने को नर्मदा नदी में वैसे ही घुसा; जैसे गङ्गा जी में महागज घुसता है। तदनन्तर स्नान और जपने योग्य उत्तम मंत्र का जप कर, वह नदी के बाहर आया ॥ ३९ ॥

नर्मदासलिलात्तस्मादुत्ततार स रावणः ।
ततः क्लिन्नाम्बरं त्यक्त्वा शुक्लवस्त्रसमावृतः ॥ ४० ॥

नर्मदा के जल से निकल रावण ने गीले कपड़ों को उतार सूखे सफेद कपड़े पहिने ॥ ४० ॥

रावणं प्राञ्जलिं यान्तमन्वयुः सर्वराक्षसाः ।
तद्गतीवशमापन्ना मूर्तिमन्त इवाचलाः ॥ ४१ ॥

फिर वह पूजा का स्थान निश्चय करने के लिए हाथ जोड़ किनारे की ओर चला। उसके पीछे पीछे समस्त राक्षस मूर्तिमान पर्वतों की तरह चले ॥ ४१ ॥

यत्र यत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः ।
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते ॥ ४२ ॥

राक्षसराज रावण जहाँ जहाँ जाता था, वहाँ वहाँ राक्षस लोग सुवर्ण का शिवलिङ्ग ले जाते थे ॥ ४२ ॥

[टिप्पणी—इस श्लोक से प्राचीन काल में मूर्तिपूजा के प्रचलित होने में कुछ भी संशय नहीं रह जाता। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि, प्रायः तामस प्रकृति के लोग ही शिवपूजन किया करते थे। क्योंकि रामायण में किसी ऋषिमुनि द्वारा शिवपूजन का वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता।]

वालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः ।
अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चामृतगन्धिभिः ॥४३

रावण ने बालू की वेदी पर उस शिवलिङ्ग को रख, अमृत के समान सुगन्धियुक्त पुष्प व चन्दनादि से उसका (शिवलिङ्ग का) पूजन किया ॥ ४३ ॥

ततः सतामार्तिहरं परं वरं
वरप्रदं चन्द्रमयूखभूषणम् ।
समर्चयित्वा स निशाचरो जगौ
प्रसार्य हस्तान् प्रणनर्त चाग्रतः ॥ ४४ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

भक्तजनों के क्लेशों को हरने वाले, वरदानी, चन्द्रभूषण श्रीमहादेव जी की सर्वप्रकार से पूजा कर, राक्षसश्रेष्ठ रावण हाथ ऊँचे कर भक्तिपूर्वक शिवलिङ्ग के सामने नाचने लगा ॥ २४ ॥

उत्तरकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

द्वात्रिंशः सर्गः

--:o:--

नर्मदापुलिने यत्र राक्षसेन्द्रः स दारुणः ।
पुष्पोपहारं कुरुते तस्माद्देशाददूरतः ॥ १ ॥
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठो माहिष्मत्याः पतिः प्रभुः ।
क्रीडते सह नारीभिर्नर्मदातोयमाश्रितः ॥ २ ॥

राक्षसश्रेष्ठ रावण पुण्यसलिला नर्मदा के तट प. जहाँ शिव जी का पुष्पों से पूजन कर रहा था, वहाँ से कुछ ही दूर हट कर माहिष्मती नगरी का राजा महाविजयी अर्जुन अपनी बहुत सी रानियों के साथ जलविहार कर रहा था ॥ १ ॥ २ ॥

तासां मध्यगतो राजा रराज च तदार्जुनः ।
करेणूनां सहस्रस्य मध्यस्थ इव कुञ्जरः ॥ ३ ॥

उस समय उन रानियो के बीच राजा की वैसी ही शोभा हो रही थी; जैसे कि, अनेक हथिनियो के बीच गजराज की होती है ॥ ३ ॥

जिज्ञासुः स तु बाहूनां सहस्रस्योत्तमं बलम् ।
रुरोध नर्मदावेगं बाहुभिर्बहुभिर्वृतः ॥ ४ ॥

राजा ने अपनी सहस्र भुजाओ के बल की परीक्षा करने के लिए नर्मदा की धार के जल को अपनी सहस्रों भुजाओ से रोका ॥ ४ ॥

कार्तवीर्यभुजासक्तं तज्जलं प्राप्य निर्मलम् ।
कूलोपहारं कुर्वाणं प्रतिस्रोतः प्रधावति ॥ ५ ॥

जब अर्जुन ने इस प्रकार जल की धार रोकी, तब जल उमड़ कर तटों के ऊपर तक जा पहुँचा और धार भी उल्टी बहने लगी ॥ ५ ॥

समीननक्रमकरः सपुष्पकुशसंस्तरः ।
स नर्मदाम्भसो वेगः प्रावृट्काल इवाबभौ ॥ ६ ॥

वर्षा की तरह जल के उमड़ने पर मत्स्य, नक्र, मगर, तट पर के फूल और कुश आदि जलप्रवाह के साथ बहने लगे ॥ ६ ॥

स वेगः कार्तवीर्येण सम्प्रेषित इवाम्भसः ।
पुष्पोपहारं सकलं रावणस्य जहार ह ॥ ७ ॥

अर्जुन के रोके हुए जलप्रवाह से रावण की पूजा के लिए एकत्रित किए हुए सब फूल बह गए ॥ ७ ॥

रावणोऽर्धसमाप्तं तमुत्सृज्य नियमं तदा ।
नर्मदां पश्यते कान्तां प्रतिकूलां यथा प्रियाम् ॥ ८ ॥

रावण अपना पूजन अभी समाप्त नहीं कर पाया था। अतः उसे अधबिच ही में जल की बाढ़ के कारण अपना पूजन छोड़ देना पड़ा। उस समय वह नर्मदा की ओर घूर कर वैसे ही देखने लगा, जैसे कोई पुरुष प्रतिकूल आचरण करने वाली अपनी स्त्री की ओर देखे ॥ ८ ॥

पश्चिमेन तु तं दृष्ट्वा सागरोद्गारसन्निभम् ।
वर्धन्तमम्भसो वेगं पूर्वामाशां प्रविश्य तु ॥ ९ ॥

उसने देखा कि, सागर के वेग के समान जल की धार पश्चिम ओर से पूर्व दिशा की ओर बढ़ रही है ॥ ९ ॥

ततोऽनुद्भ्रान्तशकुनां स्वभावे परमे स्थिताम् ।
निर्विकाराङ्गनाभासमपश्यद्रावणो नदीम् ॥ १० ॥

थोड़ी ही देर में विकार रहित कामिनी की तरह नर्मदा नदी पूर्ववत् शान्तभाव से ज्यों की त्यों बहने लगी। अतः तटवासी समस्त पक्षी निडर हो गये ॥ १० ॥

सव्येतरकराङ्गुल्या ह्यशब्दास्यो दशाननः ।
वेगप्रभावमन्वेष्टुं सोऽदिशच्छुकसारणौ ॥ ११ ॥

तब रावण ने मुख से कुछ भी न कह कर, दहिने हाथ की उँगली से शुक और सारण को नदी की बाढ़ का कारण जानने के लिये सङ्केत किया ॥ ११ ॥

तौ तु रावणसन्दिष्टौ भ्रातरौ शुकसारणौ ।
व्योमान्तरगतौ वीरौ प्रस्थितौ पश्चिमामुखौ ॥ १२ ॥

रावण के आज्ञानुसार वे दोनों वीर भाई शुक और सारण, पश्चिम की ओर आकाश मे उड़े ॥ १२ ॥

अर्धयोजनमात्रं तु गत्वा तौ रजनीचरौ ।
पश्येतां पुरुषं तोये क्रीडन्तं सहयोषितम् ॥ १३ ॥

जब वे दोनों रजनीचर उड़ते उड़ते आधे योजन निकल गए, तब उन्होंने देखा कि, एक पुरुष स्त्रियों के साथ जलविहार कर रहा है ॥ १३ ॥

बृहत् सालप्रतीकाशं तोयव्याकुलमूर्धजम् ।
मदरक्तान्तनयनं मदव्याकुलचेतसम् ॥ १४ ॥

वह साल वृक्ष की तरह ऊँचा है। उसके सिर के बाल खुले हुए हैं उसकी आँखें नशे के कारण लाल हो रही हैं और वह मदिरापान से मतवाला हो रहा है ॥ १४ ॥

नदीं बाहुसहस्रेण रुन्धन्तमरिमर्दनम् ।
गिरिं पादसहस्रेण रुन्धन्तमिव मेदिनीम् ॥ १५ ॥

सुमेरुपर्वत जिस प्रकार सहस्र चरणों से पृथिवी को दबाए हुए हो, उसी प्रकार अर्जुन अपनी सहस्र भुजाओं से नदी के जल को रोके हुए (अचल अटल) खड़ा था ॥ १५ ॥

बालानां वरनारीणां सहस्रेण समावृतम् ।
समदानां करेणूनां सहस्रेणेव कुञ्जरम् ॥ १६ ॥

हज़ारों सुन्दरी युवतियाँ उसको वैसे ही घेरे हुए थीं; जैसे हज़ारो मतवाली हथिनियाँ गजेन्द्र को घेरे हों ॥ १६ ॥

तमद्भुततरं दृष्ट्वा राक्षसौ शुकसारणौ ।
सन्निवृत्तावुपागम्य रावणान्तमथोचतुः । १७ ॥

शुक और सारण उस अद्भुत दृश्य को देख कर लौटे और रावण से, समस्त देखा हुआ वृत्तान्त कहने लगे ॥ १७ ॥

बृहत्सालप्रतीकाशः कोऽप्यसौ राक्षसेश्वरः ।
नर्मदां रोधवद्रुद्ध्वा क्रीडापयति योषितः ॥ १८ ॥

हे राक्षसेश्वर ! बड़े विशाल साल वृक्ष, के समान कोई विशाल पुरुष, बाँध की तरह नर्मदा के जल को रोक कर, स्त्रियों के साथ जलविहार कर रहा है ॥ १८ ॥

तेन बाहुसहस्रेण सन्निरुद्धजला नदी ।
सागरोद्गारसङ्काशानुद्गारान्सृजते मुहुः ॥ १९ ॥

उसकी सहस्र बाहों से रोकी जा कर नर्मदा की धार के जल की, वैसे ही बाढ़ बार बार आती है, जैसे समुद्र में बाढ़ आती है ॥ १९ ॥

इत्येवं भाषमाणौ तौ निशम्य शुकसारणौ ।
रावणोऽर्जुन इत्युक्त्वा स ययौ युद्धलालसः ॥ २० ॥

उन दोनों शुक सारण राक्षसों के मुख से यह वृत्तान्त सुन, रावण बोला—वही अर्जुन है । तदनन्तर रावण उसीकी ओर चला, क्योंकि उसे युद्ध की बड़ी लालसा थी ॥ २० ॥

अर्जुनाभिमुखे तस्मिन् रावणे राक्षसाधिपे ।
चण्डः प्रवाति पवनः सनादः सरजस्तथा ॥ २१ ॥
सकृदेव कृतो रावः सरक्तपृषतो घनैः ।
महोदरमहापार्श्वधूम्राक्षशुकसारणैः ॥ २२ ॥

जब रावण अर्जुन से लड़ने के लिये जाने लगा, तब अति प्रचण्ड, धूल उड़ाता हुआ पवन, बड़े ज़ोर से चला और गर्जन कर बादलों ने रुधिर की बूंदें बरसाईं । महोदर, महापार्श्व, धूम्राक्ष, शुक और सारण को ॥ २१ ॥ २२ ॥

संवृतो राक्षसेन्द्रस्तु तत्रागाद्यत्र चार्जुनः ।
अदीर्घेणैव कालेन स तदा राक्षसो बली ॥ २३ ॥

साथ लिये हुए बलवान् राक्षसराज रावण वहाँ तुरन्त गया जहाँ अर्जुन जलक्रीड़ा कर रहा था ॥ २३ ॥

तं नर्मदाह्रदं भीममाजगामाञ्जनप्रभः ।
स तत्र स्त्रीपरिवृतं वाशिताभिरिव द्विपम् ॥ २४ ॥

अञ्जन के समान कृष्णकान्ति वाला रावण, जब उस कुण्ड के समीप पहुँचा, तब उसने अर्जुन को स्त्रियों के साथ उसी प्रकार जलविहार करते देखा जिस प्रकार गजेन्द्र हथिनियों के साथ जलविहार करता है॥ २४॥

नरेन्द्रं पश्यते राजा राक्षसानां तदार्जुनम्।
स रोषाद्रक्तनयनो राक्षसेन्द्रो बलोद्धतः॥ २५॥
इत्येवमर्जुनामात्यानाह गम्भीरया गिरा।
अमात्याः क्षिप्रमाख्यात हैहयस्य नृपस्य वै॥ २६।
युद्धार्थं समनुप्राप्तो रावणो नाम नामतः।
रावणस्य वचः श्रुत्वा मन्त्रिणोऽथार्जुनस्य ते॥२७॥

राजा अर्जुन को राक्षसराज रावण ने देखा और देखते ही क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर उसने अर्जुन के मन्त्रियों से गम्भीर वाणी से यह कहा—हे मन्त्रियो! तुम लोग हैहय-नृपति अर्जुन से तुरन्त जाकर कहो कि, रावण नाम का राक्षसराज तुम्हारे साथ लड़ने के लिए आया है। रावण के ये वचन सुन, अर्जुन के वे मन्त्रिगण॥ २५॥ २६॥ २७॥

उत्तस्थुः सायुधास्तं च रावणं वाक्यमब्रुवन्।
युद्धस्य कालो विज्ञातः साधु भो साधु रावण॥ २८॥

अपने अपने हथियार तान कर उठ खड़े हुए और बोले वाह रे रावण वाह! युद्ध करने के लिये तूने बड़ा अच्छा समय खोजा है॥ २८॥

यः क्षीबं स्त्रीवृतं चैव योद्धुमुत्सहसे नृपम्।
स्त्रीसमक्षगतं यत्त्वं योद्धुमुत्सहसे नृपम्॥ २९॥

कहाँ तो महाराज इस समय मद्यपान कर स्त्रियों के साथ जल-विहार कर रहे हैं और कहाँ तुम उनके साथ युद्ध करने को आए हो ॥ २९ ॥

क्षमस्वाद्य दशग्रीव उष्यतां रजनी त्वया ।
युद्धश्रद्धा तु यद्यस्ति श्वस्तात समरेऽर्जुनम् ॥ ३० ॥

आज के दिन क्षमा करो और आज की रात यहीं टिके रहो। कल अर्जुन से मिल कर, युद्ध कर लेना। यदि युद्ध करने की तुम्हारी बड़ी प्रबल इच्छा हो ॥ ३० ॥

यदि वापि त्वरा तुभ्यं युद्धतृष्णासमावृत ।
निपात्यास्मान् रणे युद्धमर्जुनेनोपयास्यसि ॥ ३१ ॥

और यदि तुझको लड़ने की बड़ी उतावली हो, तो हम लोगों के साथ लड़ हम लोगों को युद्ध में गिरा कर, फिर अर्जुन के साथ युद्ध करना ॥ ३१ ॥

ततस्ते रावणामात्यैरमात्यास्ते नृपस्य तु ।
सूदिताश्चापि दे युद्धे भक्षिताश्च बुभुक्षितैः ॥ ३२ ॥

यह सुन रावण के मंत्रियों ने अर्जुन के कितने मन्त्रियों को तो मार डाला और कितने ही को भूखे होने के कारण खा डाला ॥ ३२ ॥

ततो हलहलाशब्दो नर्मदातीरगो बभौ ।
अर्जुनस्यानुयात्राणां रावणस्य च मन्त्रिणाम् ॥ ३३ ॥

उस समय रावण के मन्त्रियों और अर्जुन के अनुचरों ने लड़ते हुए नर्मदा के तट पर बड़ा भारी कोलाहल किया ॥ ३३ ॥

इषुभिस्तोमरैः प्रासैस्त्रिशूलैर्वज्रकर्षणैः[1] ।
सरावणा नर्दयन्तः समन्तात् समभिद्रुताः ॥ ३४ ॥

अर्जुन के पक्ष के योद्धा दौड़ दौड़ कर, सैकड़ों बाण, तोमर, प्रास, त्रिशूल, वज्र, कर्षणादि शस्त्रों द्वारा रावण और उसके मंत्रियों पर गर्ज गर्ज के प्रहार करने लगे ॥ ३४ ॥

हैहयाधिपयोधानां वेग आसीत् सुदारुणः ।
सनक्रमीनमकरसमुद्रस्येव निःस्वनः ॥ ३५ ॥

नक्र, मत्स्य, मकर सहित सागर में जैसा दारुण शब्द हुआ करता है, वैसा ही हैहयाधिपति अर्जुन के पक्ष के योद्धागण युद्ध की तेजी बढ़ने पर दारुण शब्द उच्च स्वर से करने लगे ॥ ३५ ॥

रावणस्य तु तेऽमात्याः प्रहस्तशुकसारणाः ।
कार्तवीर्यबलं क्रुद्धा निर्हन्ति स्म स्वतेजसा ॥ ३६ ॥

जब रावण के मंत्रिगण प्रहस्त , शुकसारण आदि क्रुद्ध हो, कार्तवीर्य की सेना का बलपूर्वक नाश करने लगे ॥ ३६ ॥

अर्जुनाय तु तत्कर्म रावणस्य समन्त्रिणः ।
क्रीडमानाय कथितं पुरुषैर्भयविह्वलैः ॥ ३७ ॥

तब अर्जुन के अनुचरों ने डरते डरते विहार में रत महाराज अर्जुन के निकट जा, रावण और उसके मंत्रियों की इस करतूत का हाल कहा ॥ ३७ ॥

श्रुत्वा न भेतव्यमिति स्त्रीजनं स तदार्जुनः ।
उत्ततार जलात्तस्माद् गङ्गातोयादिवाञ्जनः ॥ ३८ ॥

---

१ कर्षणं—आयुधविशेषः । (गो०)

सारा हाल सुन, अर्जुन ने उन लोगों से कहा, डरो मत। फिर उसने स्त्रियों को जल से इस प्रकार बाहिर निकाला, जिस प्रकार अञ्जन नामक दिग्गज अपनी हथिनियों को गङ्गा से बाहिर निकाले ॥ ३८ ॥

क्रोधदूषितनेत्रस्तु स तदार्जुनपावकः ।
प्रजज्वाल महावीरो युगान्त इव पावकः ॥ ३९ ॥

क्रुद्ध होने के कारण लाल लाल नेत्र कर अर्जुन रूपी अग्नि प्रलय-कालीन अग्नि की तरह, महाभयङ्कर रूप से भभक उठा ॥ ३९ ॥

स तूर्णतरमादाय वरहेमाङ्गदो गदाम् ।
अभिदुद्राव रक्षांसि तमांसीव दिवाकरः ॥ ४० ॥

सोने के बढ़िया बाजूबंदों से शोभायमान वह अर्जुन, गदा हाथ में ले कर, राक्षसों के ऊपर ऐसा पिल पड़ा, जैसे सूर्य अन्धकार पर पिल पड़ता है ॥ ४० ॥

बाहुविक्षेपकरणां समुद्यम्य महागदाम् ।
गारुडं वेगमास्थाय आपपातैव सोऽर्जुनः ॥ ४१ ॥

राजा अर्जुन, गदा घुमाता हुआ, गरुड़ जी के समान अति वेग से राक्षसों के समीप जा पहुँचा ॥ ४१ ॥

तस्य मार्गं समारुद्ध्य विन्ध्योऽर्कस्येव पर्वतः ।
स्थितो विन्ध्य इवाकम्प्यः प्रहस्तो मुसलायुधः ॥४२॥

राजा को आते हुए देख, जिस प्रकार विन्ध्य पर्वत सूर्य भगवान् के मार्ग को अटलभाव से रोके हो, उसी प्रकार प्रहस्त,

हाथ में मूसल ले राजा अर्जुन का रास्ता रोक कर खड़ा हो गया ॥ ४२ ॥

ततोऽस्य मुसलं घोरं लोहबद्धं मदोद्धतः ।
प्रहस्तः प्रेषयन् क्रुद्धो ररास च यथान्तकः ॥ ४३ ॥

फिर भय से उद्धत प्रहस्त ने क्रोध में भर लोहे के बंदों से युक्त वह भयानक मूसल राजा को मारने के लिए उस पर फैंका तथा काल की तरह वह गर्जा भी ॥ ४३ ॥

तस्याग्रे मुसलस्याग्निरशोकापीडसन्निभः ।
प्रहस्तकरमुक्तस्य बभूव प्रदहन्निव ॥ ४४ ॥

हाथ से छुटते ही उस मूसल की नोक से अशोकपुष्प की तरह आग भभकी, मानों राजा अर्जुन को भस्म ही कर डालेगी ॥ ४४ ॥

आधावमानं मुसलं कार्तवीर्यस्तदार्जुनः ।
निपुणं वञ्चयामास गदया गतविक्लवः ॥ ४५ ॥

परन्तु कार्तवीर्यार्जुन ने उस मूसल को, अपने ऊपर आते देख, रञ्चक भी घबड़ाए विना, अपनी गदा के ऊपर उसे बड़ी सावधानी से रोका ॥ ४५ ॥

ततस्तमभिदुद्राव सगदो हैहयाधिपः ।
भ्रामयानो गदां गुर्वीं पञ्चबाहुशतोच्छ्रयाम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर गदाधारी हैहयपति अर्जुन ने, अपनी पाँच सौ हाथ लंबी गदा घुमाते हुए और प्रहस्त की ओर झपट कर, उस पर गदा का प्रहार किआ ॥ ४६ ॥

ततो हतोऽतिवेगेन प्रहस्तो गदया तदा ।
निपपात स्थितः शैलो वज्रिवज्रहतो यथा ॥ ४७ ॥

तब उस गदा के घोर प्रहार से प्रहस्त तो वैसे ही गिर पड़ा; जैसे वज्र की चोट से कोई खड़ा हुआ पर्वत टूट कर गिर पड़ता है ॥ ४७ ॥

प्रहस्त पतितं दृष्ट्वा मारीचशुकसारणाः ।
समहोदरधूम्राक्षा अपसृप्तारणाजिरात् ॥ ४८ ॥

प्रहस्त को गिरा हुआ देख, मारीच, शुक और सारण, महोदर और धूम्राक्ष लड़ाई के मैदान से भाग गए ॥ ४८ ॥

अपक्रान्तेष्वमात्येषु प्रहस्ते च निपातिते ।
रावणोऽभ्यद्रवत्तूर्णमर्जुनं नृपसत्तमम् ॥ ४९ ॥

प्रहस्त के गिर जाने और मन्त्रियों के भाग जाने पर, रावण बड़ी फुर्ती के साथ अर्जुन पर झपटा ॥ ४९ ॥

सहस्रबाहोस्तद्युद्धं विंशद्बाहोश्च दारुणम् ।
नृपराक्षसयोस्तत्र आरब्ध रोमहर्षणम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर हज़ार भुजाओं वाले अर्जुन के साथ बीस भुजा वाले रावण का, रोमाञ्चकारी युद्ध आरम्भ हुआ ॥ ५० ॥

सागराविव संक्षुब्धौ चलमूलाविवाचलौ ।
तेजोयुक्ताविवादित्यौ प्रदहन्ताविवानलौ ॥ ५१ ॥

खलबलाते हुए दो समुद्र, गमनशील दो पर्वत, तेजयुक्त दो सूर्य, दहन करने वाले दो अग्नि ॥ ५१ ॥

बलोद्धतौ यथा नागौ [1]आशितार्थे यथा वृषौ ।
मेघाविव विनर्दन्तौ सिंहाविव बलोत्कटौ ॥ ५२ ॥

हथिनी के लिए युद्ध करने वाले दो बलवान हाथियों की तरह, दो मस्त साँड़ों की तरह, बादलों की तरह गजंते हुए और बलगर्वित दो सिंहो की तरह ॥ ५२ ॥

रुद्रकालाविव क्रुद्धौ तौ तदा राक्षसार्जुनौ ।
परस्परं गदां गृह्य ताडयामासतुर्भृशम् ॥ ५३ ॥

रुद्र व काल की तरह, राक्षस रावण और राजा अर्जुन, दोनों ही गदायुद्ध करते हुए, एक दूसरे पर बार बार प्रहार करने लगे ॥ ५३ ॥

वज्रप्रहारानचलं यथा घोरान् विषेहिरे ।
गदाप्रहारांस्तौ तत्र सेहाते नरराक्षसौ ॥ ५४ ॥

जैसे पर्वत भयङ्कर वज्रप्रहार सहते हैं; वैसे ही वे दोनों नर और राक्षस एक दूसरे की गदा की चोटें सह रहे थे ॥ ५४ ॥

यथाऽशनिरवेभ्यस्तु जायतेऽथ प्रतिश्रुतिः ।
तथा तयोर्गदापोथैर्दिशः सर्वाः प्रतिश्रुताः ॥ ५५ ॥

जैसी बिजली की कड़क की प्रतिध्वनि होती है, वैसी ही उनकी गदाओं की चटापट की प्रतिध्वनि से समस्त दिशाएँ प्रतिध्वनित होने लगीं ॥ ५५ ॥

अर्जुनस्य गदा सा तु पात्यमानाहितोरसि ।
काञ्चनाभं नभश्चक्रे विद्युत्सौदामनी यथा ॥ ५६ ॥

---

१ वाशितार्थे—करेण्वर्थे । (गो०)

जब अर्जुन रावण की छाती पर गदा का प्रहार करता, तब बिजली की तरह आकाशमण्डल सुनहली आभा से व्याप्त हो जाता था ॥ ५६ ॥

तथैव रावणेनापि पात्यमाना मुहुर्मुहुः ।
अर्जुनोरसि निर्भाति गदोल्केव महागिरौ ॥ ५७ ॥

उधर रावण की गदा भी अर्जुन की छाती पर बारंबार पड़ कर, पर्वतराज के ऊपर उल्कापात की तरह चमक उठती थी ॥ ५७ ॥

नार्जुनः खेदमायाति न राक्षसगणेश्वरः ।
सममासीत्तयोर्युद्धं यथा पूर्वं बलीन्द्रयोः ॥ ५८ ॥

इस गदायुद्ध में न तो अर्जुन ही को और न रावण को ही थकावट मालूम पड़ती थी। दोनों की बराबरी की लड़ाई हो रही थी। पुराकाल में जैसा कि, राजा बलि और इन्द्र का युद्ध हुआ था, वैसा ही इन दोनों का यह युद्ध हो रहा था ॥ ५८ ॥

शृङ्गैरिव वृषायुध्यन् दन्ताग्रैरिव कुञ्जरौ ।
परस्परं विनिघ्नन्तौ नरराक्षसत्तमौ ॥ ५९ ॥

सींगों से आपस में लड़ने वाले दो बैलों की तरह अथवा दाँतों से आपस में लड़ने वाले दो कुञ्जरों की तरह वे दोनों नर श्रेष्ठ और राक्षसश्रेष्ठ एक दूसरे पर चोट कर रहे थे ॥ ५९ ॥

ततोऽर्जुनेन क्रुद्धेन सर्वप्राणेन सा गदा ।
स्तनयोरन्तरे मुक्ता रावणस्य महोरसि ॥ ६० ॥
वरदानकृतत्राणे सा गदा रावणोरसि ।
दुर्बलेव यथावेगं द्विधाभूतापतत् क्षितौ ॥ ६१ ॥

(लड़ते लड़ते) अर्जुन ने क्रोध में भर, अपना समस्त शारीरिक बल लगा, रावण की विशाल छाती पर गदा का प्रहार किया। परन्तु वरदान के कारण उसकी छाती तो न टूटी अर्थात् वह मरा तो नहीं; किन्तु गदा दो टुकड़े हो पृथिवी पर गिर बेकाम हो गई ॥ ६० ॥ ॥ ६१ ॥

स त्वर्जुनप्रयुक्तेन गदाघातेन रावणः ।
अपासर्पद्धनुर्मात्रं निषसाद च निष्टनन् ॥ ६२ ॥

तो भी रावण अर्जुन को चलाई उस गदा के प्रहार से धनुष भर पीछे हट गया और उसकी चोट से रोने और चिल्लाने लगा ॥ ६२ ॥

स विह्वलं तदालक्ष्य दशग्रीवं ततोऽर्जुनः ।
सहसोत्पत्य जग्राह गरुत्मानिव पन्नगम् ॥ ६३ ॥

जब अर्जुन ने देखा कि, रावण चोट के मारे विकल हो रहा है, तब झट झपट कर उसे ऐसे पकड़ लिया जैसे गरुड़ जी साँप को पकड़ते हैं ॥ ६३ ॥

स तु बाहुसहस्रेण बलाद् गृह्य दशाननम् ।
बबन्ध बलवान् राजा बलिं नारायणो यथा ॥ ६४ ॥

श्रीवामन जी ने जैसे राजा बलि को बाँधा था, वैसे ही बलवान राजा अर्जुन ने अपनी सहस्र भुजाओं से रावण को पकड़ कर बाँध लिया ॥ ६४ ॥

बध्यमाने दशग्रीवे सिद्धचारणदेवताः ।
साध्वीति वादिनः पुष्पैः किरन्त्यर्जुनमूर्धनि ॥ ६५ ॥

जब रावण बँध गया; तब सिद्ध, चारण और देवता लोगों ने "वाह वाह" कह कर, राजा अर्जुन के सिर के ऊपर फूल बरसाए ॥ ६५ ॥

व्याघ्रो मृगमिवादाय मृगराडिव कुञ्जरम् ।
ररास हैहयो राजा हर्षादम्बुदवन् मुहुः ॥ ६६ ॥

जैसे व्याघ्र हिरन को तथा सिंह गजेन्द्र को पकड़ लेता है, वैसे ही रावण को पकड़ कर, अर्जुन हर्षित हो मेघों की तरह वार वार गर्जने लगा ॥ ६६ ॥

प्रहस्तस्तु समाश्वस्तो दृष्ट्वा बद्धं दशाननम् ।
सहसा राक्षसः क्रुद्ध अभिदुद्राव हैहयम् ॥ ६७ ॥

इतने मे प्रहस्त की मूर्च्छा दूर हो गई। तब वह क्रोध में भर हैहयराज पर झपटा ॥ ६७ ॥

नक्तंचराणां वेगस्तु तेषामापततां बभौ ।
उद्भूत आतपापाये पयोदानामिवाम्बुधौ ॥ ६८ ॥

प्रहस्त के अतिरिक्त कई राक्षस भी अर्जुन पर झपटे। उस समय ऐसा जान पड़ा, मानो वर्षाकालीन बादल, पानी भरने के लिए, समुद्र की ओर दौड़े चले जाते हों ॥ ६८ ॥

मुञ्च मुञ्चेति भाषन्तस्तिष्ठ तिष्ठेति चासकृत् ।
मुसलानि च शूलानि सोत्ससृजुः तथा रणे ॥ ६९ ॥

वे सब दौड़ते हुए चिल्ला कर कहते जाते थे "छोड़ छोड़" और साथ ही राजा अर्जुन के ऊपर मूसल और बर्छियाँ चलाते हुए कहते थे कि, खड़ा रहा ! खड़ा रह !! ॥ ६९ ॥

अप्राप्तान्येव तान्याशु असम्भ्रान्तस्तदार्जुनः ।
आयुधान्यमरारीणां जग्राहारिनिषूदनः ॥ ७० ॥

पर राजा अर्जुन, उनके चलाए शस्त्रों को अपने शरीर पर लगने न देते और बीच में ही उनको अनायास गुपक लेते थे ॥ ७० ॥

ततस्तान्येव रक्षांसि दुर्धरैः प्रवरायुधैः ।
भित्त्वा विद्रावयामास वायुरम्बुधरानिव ॥ ७१ ॥

अन्त में राजा अर्जुन ने उनको उत्तम और भयानक आयुधों से वैसे ही मार मार कर भगा दिआ, जैसे हवा बादलों को उड़ा देती है ॥ ७१ ॥

राक्षसांस्त्रासयामास कार्तवीर्यार्जुनस्तदा ।
रावणं गृह्य नगरं प्रविवेश सुहृद्वृतः ॥ ७२ ॥

राजा अर्जुन, उन राक्षसों को भली भाँति डरा कर और भगा कर, अपने हितैषियों सहित तथा रावण को बंदी बनाए हुए, अपनी राजधानी में पहुँचा ॥ ७२ ॥

स कीर्यमाणः कुसुमाक्षतोत्करै
द्विजैः सपौरैः पुरुहूतसन्निभः ।
ततोऽर्जुनः स्वां प्रविवेश तां पुरीं
बलिं निगृह्येव सहस्रलोचनः ॥ ७३ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

उस समय (राजधानीनिवासी) ब्राह्मणों तथा अन्य नगर निवासियों ने इन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुन पर, अक्षत और पुष्पों की वृष्टि की । सहस्रलोचन इन्द्र जैसे राजा बलि को जीत

कर अमरावती में आए थे, वैसे ही अर्जुन भी रावण को पकड़े हुए अपनी माहिष्मती पुरी मे पहुँचा ॥ ७३ ॥

उत्तरकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—:-०-:—

रावणग्रहणं तत्तु वायुग्रहणसन्निभम् ।
ततः पुलस्त्यः शुश्राव कथितं दिवि दैवतैः ॥ १ ॥

राजा कार्तवीर्यार्जुन द्वारा रावण का पकड़ा जाना क्या था, मानों वायु का बाँध लेना था। स्वर्ग में वार्तालाप करते हुए, पुलस्त्य जी ने जब देवताओं के मुख से यह बात सुनी ॥ १ ॥

ततः पुत्रकृतस्नेहात् कम्प्यमानो महाधृतिः ।
माहिष्मतीपतिं द्रष्टुमाजगाम महानृपिः ॥ २ ॥
स वायुमार्गमास्थाय वायुतुल्यगतिर्द्विजः ।
पुरीं माहिष्मतीं प्राप्तो मनःसम्पातविक्रमः[१] ॥ ३ ॥

सुनते ही महाधृतिमान् पुलस्त्य जी पुत्रस्नेह के कारण थर्रा उठे। फिर अर्जुन से भेंट करने के लिए पवन के समान वेगवान महर्षि, आकाशमार्ग से, मन की समान वेगवती गति से, माहिष्मती मे जा पहुँचे ॥ २ ॥ ३ ॥

सोऽमरावतिसङ्काशां हृष्टपुष्टजनावृताम् ।
प्रविवेश पुरीं ब्रह्मा इन्द्रस्येवामरावतीम् ॥ ४ ॥

---

१ मनःसंपातविक्रमः—मनोगतिः । (गो०)

अमरावती के समान और हृष्टपुष्ट जनों से भरी पूरी उस नगरी के भीतर, वे वैसे ही घुस गए; जैसे ब्रह्मा जी अमरावती में प्रवेश करते हैं ॥ ४ ॥

पादचारमिवादित्यं निष्पतन्तं सुदुर्दशम् ।
ततस्ते प्रत्यभिज्ञाय अर्जुनाय न्यवेदयन् ॥ ५ ॥

अथवा अति कठिनता से देखने योग्य श्रीसूर्यनारायण पैदल चल कर आए हों। तदनन्तर राजा के द्वारपालों अथवा मंत्रियों ने उनके आगमन की सूचना राजा को दी ॥ ५ ॥

पुलस्त्य इति विज्ञाय वचनाद्धैहयाधिपः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय प्रत्युद्गच्छत्तपस्विनम् ॥ ६ ॥

राजा ने जब तपस्वी पुलस्त्य जी का नाम अथवा आगमन सुना, तब वे हाथ जोड़े हुए उनकी अगवानी को गए । ६ ॥

पुरोहितोऽस्य गृह्यार्घ्यं मधुपर्कं तथैव च ।
पुरस्तात्प्रययौ राज्ञः शक्रस्येव वृहस्पतिः ॥ ७ ॥

राजा के पुरोहित अर्घ्य और मधुपर्क की सामग्री लेकर के आगे आगे हो लिए। मानों इन्द्र के आगे आगे वृहस्पति चलते हों ॥ ७ ॥

ततस्तमृषिमायान्तमुद्यन्तमिव भास्करम् ।
अर्जुनो दृश्य सम्भ्रान्तो ववन्देऽन्द्र इवेश्वरम् ॥ ८ ॥

उदय हुए सूर्यभगवान् की तरह उन ऋषि को आया हुआ देख, सहस्रवाहु ने वड़े आदर के साथ वैसे ही उनको प्रणाम किआ, जैसे ब्रह्मा जी को इन्द्र प्रणाम करते हैं ॥ ८ ॥

स तस्य मधुपर्कं गां पाद्यमर्घ्यं निवेद्य च ।
पुलस्त्यमाह राजेन्द्रो हर्षगद्गदया गिरा ॥ ६ ॥

राजा ने मधुपर्क, गौ, पाद्य और अर्घ्य निवेदन कर और अत्यन्त हर्षित हो, गद्गद कण्ठ से मुनि पुलस्त्य जी से कहा ॥ ९ ॥

अद्यैवममरावत्या तुल्या माहिष्मती कृता ।
अद्याहं तु द्विजेन्द्र त्वां यस्मात्पश्यामि दुर्दृशम् ॥ १० ॥

हे द्विजेन्द्र ! आज मुझे तुम्हारे अलभ्य दर्शन प्राप्त होने से, मेरी यह माहिष्मती नगरी अमरावती के तुल्य हो गई है ॥ १० ॥

अद्य मे कुशलं देव अद्य मे कुशलं व्रतम् ।
अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः ॥ ११ ॥

हे देव ! आज मेरा तप सिद्ध हुआ, यज्ञ सफल हुआ, व्रत पूरा हुआ और जन्म सफल हुआ। अधिक तो क्या, आज सब प्रकार मेरा मङ्गल है ॥ ११ ॥

यत्ते देवगणैर्वन्द्यौ वन्देऽहं चरणौ तव ।
इदं राज्यमिमे पुत्रा इमे दारा इमे वयम् ।
ब्रह्मन् किं कु[र्मः] किं कार्यमाज्ञापयतु नो भवान् ॥ १२ ॥

हे देव ! देवताओं से भी वन्द्य आपके चरणों के मुझे आज दर्शन हुए हैं। ब्रह्मन् ! यह राज्य, ये पुत्र, ये स्त्रियाँ आदि हम सब लोग आपकी सेवा के लिए उपस्थित हैं। आप हम लोगों को आज्ञा दीजिए। हम लोग आपकी क्या सेवा करें ? ॥ १२ ॥

तं धर्मेऽग्निषु पुत्रेषु शिवं पृष्ट्वा च पार्थिवम् ।
पुलस्त्यो वाच राजानं हैहयानां तथार्जुनम् ॥ १३ ॥

यह सुन कर, पुलस्त्य मुनि ने धर्म, अग्नि और पुत्रों का कुशल मङ्गल पूँछा। तदनन्तर वे हैहयनाथ अर्जुन से बोले ॥ १३ ॥

नरेन्द्राम्बुजपत्राक्ष पूर्णचन्द्रनिभानन ।
अतुलं ते बलं येन दशग्रीवस्त्वया जितः ॥ १४ ॥

हे नरेन्द्र ! हे कमलनयन ! हे चन्द्रमुख ! तुममें अतुलित बल है। तभी तो तुमने दशग्रीव को जीत लिया है ॥ १४ ॥

भयाद्यस्योपतिष्ठेतां निष्पन्दो सागरानिलौ ।
सोऽयं मृधे त्वया बद्धः पौत्रो मे रणदुर्जयः ॥ १५ ॥

अहो ! जिसके भय से सागर और पवन भी चुपचाप आज्ञा पाने की प्रतीक्षा किआ करते हैं, हे राजन् ! तुमने मेरे उसी रणदुर्जय पौत्र को युद्ध में परास्त कर, बाँध लिआ है ॥ १५ ॥

पुत्रकस्य यशः पीतं नाम विश्रावितं त्वया ।
मद्वाक्याद्याच्यमानोऽद्य मुञ्च वत्स दशाननम् ॥ १६ ॥

तुमने उसका यश पीकर (अर्थात् दबा कर) अपना नाम विख्यात किया है। हे वत्स ! अब मैं तुमसे यही माँगता हूँ, कि, मेरा कहना मान कर, तुम रावण को छोड़ दो ॥ १६ ॥

पुलस्त्याज्ञां प्रगृह्याथ न किञ्चन वचोऽर्जुनः ।
मुमोच वै पार्थिवेन्द्रो राक्षसेन्द्रं प्रहृष्टवत् ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ अर्जुन ने ऋषि की आज्ञा को माथे चढ़ाया और कुछ भी आपत्ति किए बिना ही सहर्ष राक्षसराज रावण को छोड़ दिया ॥ १७ ॥

स तं प्रमुच्य त्रिदशारिमर्जुनः
प्रपूज्य दिव्याभरणस्रगम्बरैः ।
अहिंसकं सख्यमुपेत्य साग्निकं
प्रणम्य तं ब्रह्मसुतं गृहं ययौ ॥ १८ ॥

(छोड़ा ही नहीं बल्कि) मूल्यवान् वस्त्रों, आभूषणों और पुष्पमालाओं से रावण का सत्कार भी किया। फिर अग्नि के सामने उसके साथ अपने मन को शुद्ध कर, मैत्री भी कर ली। तदनन्तर ब्रह्मा जी के पुत्र पुलस्त्य जी को प्रणाम कर, राजा अर्जुन अपने भवन में चला गया ॥ १८ ॥

पुलस्त्येनापि सन्त्यक्तो राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।
परिष्वक्तः कृतातिथ्यो लज्जमानो विनिर्जितः ॥ १९ ॥

पुलस्त्य ने भी रावण को विदा किया। यद्यपि अर्जुन ने रावण को गले लगाया और उसकी पहुनाई की तथापि हार जाने के कारण, रावण लज्जित होता हुआ लङ्का को गया ॥ १९ ॥

पितामहसुतश्चापि पुलस्त्यो मुनिपुङ्गवः ।
मोचयित्वा दशग्रीवं ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ २० ॥

ब्रह्मपुत्र एवं मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्य जी भी रावण को छुड़ा, ब्रह्मलोक को चले गए ॥ २० ॥

एवं स रावणः प्राप्तः कार्तवीर्यात् प्रधर्षणम् ।
पुलस्त्यवचनाच्चापि पुनर्मुक्तो महाबलः ॥ २१ ॥

महाबली रावण, कार्तवीर्य से इस प्रकार पराजित हो, बाँधा गया था और फिर पुलस्त्य जी के कहने से वह छूटा था ॥ २१ ॥

एवं बलिभ्यो बलिनः सन्ति राघवनन्दन ।
नावज्ञा हि परे कार्या य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥२२॥

हे रघुनन्दन ! इस प्रकार के बलवान से भी अधिक बलवान हैं, अतएव जो कोई अपना भला चाहे, उसे दूसरों का अपमान करना उचित नहीं है ॥ २२ ॥

ततः स राजा पिशिताशनानाम्
सहस्रबाहोरुपलभ्य मैत्रीम् ।
पुनर्नृपाणां कदनं चकार
चचार सर्वां पृथिवीं च दर्पात् ॥ २३ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ।

तदनन्तर निशाचरराज रावण, सहस्रबाहु अर्जुन से मैत्री कर और गर्व में भर, नृपालों का नाश करता हुआ, पृथिवी-मण्डल पर घूमने लगा ॥ २३ ॥

उत्तरकाण्ड का तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:❀:—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—:❀:—

अर्जुनेन विमुक्तस्तु रावणो राक्षसाधिपः ।
चचार पृथिवीं सर्वामनिर्विण्णस्तथा कृतः ॥ १ ॥

राक्षसराज रावण जब अर्जुन द्वारा छोड़ दिया गया, तब वह वेदनारहित हो (अथवा निर्लज्ज) हो, सारी पृथिवी पर घूमने लगा ॥ १ ॥

राक्षसं वा मनुष्यं वा शृणुतेऽयं बलाधिकम् ।
रावणस्तं समासाद्य युद्धे ह्वयति दर्पितः ॥ २ ॥

जहाँ कहीं वह अधिक बलवान मनुष्य या राक्षस का पता पाता, वहीं दौड़ कर जाता और उसे युद्ध के लिए ललकारता था ॥ २ ॥

ततः कदाचित् किष्किन्धां नगरीं वालिपालिताम् ।
गत्वाह्वयति युद्धाय वालिनं हेममालिनम् ॥ ३ ॥

एक दिन रावण वालिपालित किष्किन्धापुरी में पहुँचा और उसने सुवर्णमालाधारी वालि को लड़ने के लिए बुलाया ॥ ३ ॥

ततस्तु वानरामात्यास्तारस्तारापिता प्रभुः ।
उवाच वानरो वाक्यं युद्धप्रेप्सुमुपागतम् ॥ ४ ॥

तब तारा के पिता और वालि के मंत्री तार ने युद्ध की अभिलाषा से आए हुए रावण से कहा ॥ ४ ॥

राक्षसेन्द्र गतो वाली यस्ते प्रतिबलो भवेत् ।
कोऽन्यः प्रमुखतः स्थातुं तव शक्तः प्लवङ्गमः ॥ ५ ॥

हे राक्षसेन्द्र ! वालि, जो तुमसे लड़ सकता है, कहीं बाहर गया हुआ है । अन्य किसी वानर मे इतनी शक्ति है नहीं, जो तुमसे लड़ सके ॥ ५ ॥

चतुर्भ्योऽपि समुद्रेभ्यः सन्ध्यामन्वास्य रावण ।
इदं मुहूर्तमायाति वाली तिष्ठ मुहूर्तकम् ॥ ६ ॥

अतः हे रावण ! एक मुहूर्त भर ठहरो । वालि चारों समुद्रों पर सन्ध्या कर, अब आया ही चाहता है ॥ ६ ॥

[टिप्पणी—सन्ध्योपासन के सम्बन्ध में रामाभिरामी टीकाकार ने लिखा है, "सम्यग्ध्येयदेवताब्रह्मरूपामन्वास्यध्यात्वा" अर्थात् यहाँ पर सन्ध्योपासन का अभिप्राय अघमर्षण मार्जनादि मंत्र विशिष्ट द्विजोचित वैदिक कृत्य से नहीं है; भगवान का ध्यान स्तुत्यादि कर्म से हैं। सन्ध्या का अभिप्राय है, वह भगवत्स्तुति सम्बन्धी कर्म जो सन्ध्या काल में किया जाय।

एतानस्थिचयान् पश्य य एते शङ्खपाण्डुराः।
युद्धार्थिनामिमे राजन् वानराधिपतेजसा ॥ ७ ॥

हे राजन्! शङ्ख के समान सफेद हड्डियों के इस ढेर को देख लो। ये उनकी हड्डियाँ हैं, जो वानरराज वालि से युद्ध करने की इच्छा रख, यहाँ आचुके हैं ॥ ७ ॥

यद्यामृतरसः पीतस्त्वया रावण राक्षस।
तदा वालिनमासाद्य तदन्तं तव जीवितम् ॥ ८ ॥

हे राक्षसराज! यदि तुमने अमृतरस भी पान किया होगा, तो भी वालि के सामने पड़, तुम फिर जीते जागते लौट न सकोगे ॥ ८ ॥

पश्येदानीं जगच्चित्रमिमं विश्रवसः सुत।
*इदं मुहूर्तं तिष्ठस्व दुर्लभं ते भविष्यति ॥ ९ ॥

हे वैश्रवण! आज तुम इस अद्भुत संसार को देख लो और थोड़ी देर ठहरो, फिर तो तुम्हारा जीवन दुर्लभ हो जायगा ॥ ९ ॥

अथवा त्वरसे मर्तुं गच्छ दक्षिणसागरम्।
वालिनं द्रक्ष्यसे तत्र भूमिस्थमिव पावकम् ॥ १० ॥

और यदि तुम्हें मरने की त्वरा हो, तो दक्षिणसमुद्र के तट पर चले जाओ। वहाँ कहीं उससे तुम्हारी भेट हो जायगी

* पाठान्तरे—इमं।

वालि पृथिवी पर स्थित अग्नि की तरह भभकता है। (अतः इस चिन्हानों से तुम्हें उसे पहिचानने में भी कष्ट न उठाना पड़ेगा।) ॥ १० ॥

स तु तारं विनिर्भर्त्स्य रावणो लोकरावणः ।
पुष्पकं तत् समारुह्य प्रययौ दक्षिणार्णवम् ॥ ११ ॥

तार की इन बातों को सुन और उसका तिरस्कार कर, रावण पुष्पक पर सवार हो, दक्षिण समुद्र की ओर गया ॥११॥

तत्र हेमगिरिप्रख्यं तरुणार्कनिभाननम् ।
रावणो वालिनं दृष्ट्वा सन्ध्योपासनतत्परम् ॥ १२ ॥

वहाँ पहुँच कर, रावण ने सोने के पहाड़ की तरह एवं दोपहर के सूर्य के समान प्रकाशित मुख वाले और भगवदाराधन में तल्लीन वालि को देखा ॥ १२ ॥

पुष्पकादवरुह्याथ रावणोऽञ्जनसन्निभः ।
ग्रहीतुं वालिनं तूर्णं निःशब्दपदमव्रजत् ॥ १३ ॥

काजल के समान काले रङ्ग का रावण विमान से तुरन्त उतर दबे पैर वालि को पकड़ने के लिए आगे बढ़ा ॥ १३ ॥

यदृच्छया तदा दृष्टो वालिनापि स रावणः ।
पापाभिप्रायकं दृष्ट्वा चकार न तु सम्भ्रमम् ॥ १४ ॥

किन्तु वालि ने अचानक रावण को देख लिया और उसका दुष्ट अभिप्राय जान कर भी वह तनिक भी न घबड़ाया ॥ १४ ॥

शशमालक्ष्य सिंहो वा पन्नगं गरुडो यथा ।
न चिन्तयति तं वाली रावणं पापनिश्चयम् ॥ १५ ॥

जैसे सिंह खरहे को और गरुड़ सर्प को देख नहीं घबड़ाता, वैसे ही वालि भी, मन में दुष्ट अभिप्राय रखने वाले रावण को देख, तिल भर भी न घबड़ाया ॥ १५ ॥

जिघृक्षमाणमायान्तं रावणं पापचेतसम् ।
कक्षावलम्बिनं कृत्वा गमिष्ये त्रीन् महार्णवान् ॥१६॥

वालि अपने मन में विचार रहा था कि, यह पापी राक्षस मुझे पकड़ने को आ रहा है। सो यह ज्यों ही मेरे निकट आया कि, मैंने इसे अपनी काँख में दबाया। फिर मैं इसे दबा कर तीन समुद्रों पर जाऊँगा ॥ १६ ॥

द्रक्ष्यन्त्यरिं ममाङ्कस्थं स्रंसदूरुकराम्बरम् ।
लम्बमानं दशग्रीवं गरुडस्येव पन्नगम् ॥ १७ ॥

तब सब लोग देखेंगे कि, शत्रु रावण मेरी काँख में गरुड़ जी द्वारा पकड़े गए सर्प की तरह लटकता हुआ जाता है। कहीं इसकी जाँघे, कहीं इसके हाथ और कहीं इसके वस्त्र लटकेंगे ॥ १७ ॥

इत्येवं मतिमास्थाय वाली मौनमुपास्थितः ।
जपन् वै नैगमान् मंत्रांस्तस्थौ पर्वतराडिव* ॥ १८ ॥

इस प्रकार अपने मन में निश्चित कर, वालि चुपचाप भगवदाराधन करता हुआ, पर्वतराज की तरह निश्चल हो वहाँ खड़ा रहा ॥ १८ ॥

तावन्योन्यं जिघृक्षन्तौ हरिराक्षसपार्थिवौ ।
प्रयत्नोवन्तौ तत्कर्म ईहतुर्बलदर्पितौ ॥ १९ ॥

---

*नैगमान्—वैदिकान्। देवकुमारत्वान्मन्त्रवत्त्वं। (गोविन्दराजीय भूषणटीका) बाल्याद्योऽहिस्वयप्रतिभातसकलवेदाः। रामभिरामीटीक

उस समय एक दूसरे को पकड़ने की घात में वानरराज और राक्षसराज प्रयत्न करते हुए अपने अपने बल का अहङ्कार प्रदर्शित कर रहे थे ॥ १९ ॥

हस्तग्राहं तु तं मत्वा पादशब्देन रावणम् ।
पराङ्मुखोऽपि जग्राह वाली सर्पमिवाण्डजः ॥ २० ॥

पैरों की आहट से जब वालि ने जान लिया कि रावण उसके हाथ की पकड़ के भीतर आ गया है तब वालि ने पीछे को मुँह मोड़े बिना ही हाथ बढ़ा कर रावण को वैसे ही पकड़ लिया, जैसे गरुड़ सर्प को पकड़ लेते हैं ॥ २० ॥

ग्रहीतुकामं तं गृह्य रक्षसामीश्वरं हरिः ।
खमुत्पपात वेगेन कृत्वा कक्षावलम्बिनम् ॥ २१ ॥

जो रावण स्वयं वालि को पकड़ने के लिए आया था, उसे वालि ने पकड़ अपनी काँख मे दबा लिया और तब वह बड़े ज़ोर से आकाश में उड़ गया ॥ २१ ॥

तं च पीडयमानं तु वितुदन्तं नखैर्मुहुः ।
जहार रावणं वाली पवनस्तोयदं यथा ॥ २२ ॥

वालि रावण को बार बार दबा पीड़ित करता था और उसे नोंचते खसोटते वैसे ही लिये जाता था, जैसे पवनदेव मेघों को उड़ा कर ले जाते हैं ॥ २२ ॥

अथ ते राक्षसामात्या ह्रियमाणे दशानने ।
मुमोक्षयिषवो वालिं रवमाणा अभिद्रुताः ॥ २३ ॥

जब रावण पकड़ा गया, तब रावण के मन्त्री उसको छुड़ाने की इच्छा से चिल्लाते हुए वालि के पीछे बड़े ज़ोर से दौड़े ॥२३॥

अन्वीयमानस्तैर्वाली भ्राजतेऽम्बरमध्यगः ।
अन्वीयमानो मेघौघैरम्बरस्थ इवांशुमान् ॥ २४ ॥

वालि आगे आगे जा रहा था और रावण के मन्त्री उसके पीछे पीछे । उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानों आकाश-स्थित सूर्य के पीछे पीछे मेघ दौड़ रहे हों ॥ २४ ॥

तेऽशक्नुवन्तः सम्प्राप्तुं वालिनं राक्षसोत्तमाः ।
तस्य बाहूरुवेगेन परिश्रान्ता व्यवस्थिताः ॥ २५ ॥

राक्षसों ने बहुत चाहा कि, वे वालि के निकट तक पहुँचें, पर वालि की जंघाओं और भुजाओं के वेग को वे न पा सके और थक कर बीच ही में रह गए ॥ २५ ॥

वालिमार्गादपाक्रामन् पर्वतेन्द्रापि गच्छतः ।
किं पुनर्जीवनप्रेप्सुर्बिभ्रद्वै मांसशोणितम् ॥ २६ ॥

वालि ऐसे वेग से जा रहा था कि, बड़े बड़े पहाड़ भी यदि उसका पीछा करते, तो उसको नहीं पकड़ सकते थे। फिर भला मांस और रुधिर के शरीरधारी, जो जीने के अभिलाषी थे, अथवा मरना नहीं चाहते थे, उनकी शक्ति कहाँ, जो वालि को पकड़ते ॥ २६ ॥

अपक्षिगणसम्पातान् वानरेन्द्रो महाजवः ।
क्रमशः सागरान् सर्वान् सन्ध्याकालमवन्दत ॥ २७ ॥

बड़े वेग से गमन करने वाला वालि, इतना ऊँचा उड़ कर जाता था कि, वहाँ पक्षिगण भी नहीं पहुँच सकते थे। अस्तु,

रावण को कॉख में दवाये वालि ने क्रम से सब सागरों के तटों पर पहुँच, भगवदाराधन किया ॥ २७ ॥

सम्पूज्यमानो यातस्तु खचरैः खचरोत्तमः ।
पश्चिमं सागरं वाली आजगाम सरावणः ॥ २८ ॥

आकाशचारियों में श्रेष्ठ वालि, रावण को वगल में दवाए, आकाशचारियों से सत्कारित हो, पश्चिमसमुद्र की ओर जाने लगा ॥ २८ ॥

तस्मिन् सन्ध्यामुपासित्वा स्नात्वा जप्त्वा च वानरः ।
उत्तरं सागरं प्रायाद्वहमानो दशाननम् ॥ २९ ॥

वहाँ स्नान कर भगवादाराधन तथा जप करता हुआ वालि, रावण को कॉख में दवाए हुए उत्तरसागर पर गया ॥ २९ ॥

वहुयोजनसाहस्रं वहमानो महाहरिः ।
वायुवच्च मनोवच्च जगाम सह शत्रुणा ॥ ३० ॥

यह महावली विशाल वानर वालि, रावण को कॉख में दवाए हुए कितने ही सहस्र योजन, वायु अथवा मन के वेग की तरह तेज चला गया ॥ ३० ॥

उत्तरे सागरे सन्ध्यामुपासित्वा दशाननम् ।
वहमानोऽगमद्वाली पूर्वं वै समहोदधिम् ॥ ३१ ॥

उत्तरसमुद्र के तट पर भगवादाराधन कर, उसी प्रकार रावण को कॉख में दवाए हुए वालि, पूर्वसमुद्र पर पहुँचा ॥ ३१ ॥

तत्रापि सन्ध्यामन्वास्य वासविः सहरीश्वरः ।
किष्किन्धामभितो गृह्य रावणं पुनरागमत् ॥ ३२ ॥

इन्द्रपुत्र तथा वानरराज वालि वहाँ भी भगवादाराधन कर

और रावण को काँख में दवाए हुए किष्किन्धा में आ पहुँचा ॥ ३२ ॥

चतुर्ष्वपि समुद्रेषु सन्ध्यामन्वास्य वानरः ।
रावणोद्वहनश्रान्तः किष्किन्धोपवनेऽपतत् ॥ ३३ ॥

वालि ने रावण को काँख में दवाए हुए चारों सागरों की यात्रा की थी और प्रत्येक सागरतट पर भगवदाराधन किया था । अतः मार्ग चलने की और रावण जैसे भारी राक्षस का वोझ उठाने की थकावट से चूर वालि, किष्किन्धापुरी के उपवन में कूदा ॥ ३३ ॥

रावणं तु मुमोचाथ स्वकक्षात् कपिसत्तमः ।
कुतस्त्वमिति चोवाच प्रहसन् रावणं मुहुः ॥ ३४ ॥

फिर कपिश्रेष्ठ वालि ने अपनी काँख से रावण को निकाला और वार वार हँस कर उससे पूछा—कहिए, आप कहाँ से आ रहे हैं । ३४ ॥

विस्मयं तु महद्गत्वा श्रमलोलनिरीक्षणः ।
राक्षसेन्द्रो हरीन्द्रं तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

काँख में इतनी देर तक दवे रहने के कारण रावण भी थक गया था । उसकी आँखों से उसके मन की घवड़ाहट प्रकट हो रही थी । राक्षसराज रावण अत्यन्त विस्मित हो, वानरराज वालि से वोला ॥ ३५ ॥

वानरेन्द्र महेन्द्राभ राक्षसेन्द्रोऽस्मि रावणः ।
युद्धेप्सुरिह सम्प्राप्तः सचाद्यासादितस्त्वया ॥ ३६ ॥

हे इन्द्र-तुल्य-पराक्रमी वानरेन्द्र ! मैं राक्षसों का राजा हूँ । मेरा नाम रावण है । मै तुमसे युद्ध करने की इच्छा से यहाँ आया था । सो मैं आज तुम्हारे हाथ से पकड़ लिया गया ॥३६॥

अहो बलमहो वीर्यमहो गाम्भीर्यमेव च ।
येनाहं पशुवद्गृह्य भ्रामितश्चतुरोऽर्णवान् ॥ ३७ ॥

हे वानरराज ! तुम्हारा बल, तुम्हारा पराक्रम और तुम्हारा गाम्भीर्य आश्चर्योत्पादक है। तुमने मुझे पशु की तरह पकड़ चारों समुद्रों पर घुमा डाला ॥ ३७ ॥

एवमश्रान्तवद्वीर शीघ्रमेव च वानर ।
मां चैवोद्वहमानस्तु कोऽन्यो वीर भविष्यति ॥ ३८ ॥

हे वीर वानर ! मुझे तो ऐसा कोई वीर देख नहीं पड़ता; जो मुझे लिये हुए विना थके इतनी जल्दी चारों समुद्रों पर घूम आवे ॥ ३८ ॥

त्रयाणामेव भूतानां गतिरेषा प्लवङ्गम ।
मनोनिलसुपर्णानां तव चात्र न संशयः ॥ ३९ ॥

हे वानरसिंह ! मन, वायु और गरुड़; केवल इन्हीं तीन प्राणियों की ऐसी गति है। सो तुम में भी इन्हीं जैसी गमनशक्ति है—इसमें सन्देह नहीं ॥ ३९ ॥

सोऽहं दृष्टबलस्तुभ्यमिच्छामि हरिपुङ्गव ।
त्वया सह चिरं सख्यं सुस्निग्धं पावकाग्रतः ॥ ४० ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! मैंने तुम्हारा बल प्रत्यक्ष देख लिया। अब मैं अग्नि के सामने आपके साथ निष्कपट और चिरस्थायिनी मित्रता करना चाहता हूँ ॥ ४० ॥

दाराः पुत्राः पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम् ।
सर्वमेवाविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर ॥ ४१ ॥

हे वानरेश्वर ! आज से स्त्री, पुत्र, पुर, राज्य, भोग, आच्छा-

दन, भोजन आदि सब कुछ मेरा और तुम्हारा एक ही होगा ॥ ४१ ॥

ततः प्रज्वालयित्वाग्निं तावुभौ हरिराक्षसौ।
भ्रातृत्वमुपसम्पन्नौ परिष्वज्य परस्परम् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर आग जलाई गई और अग्नि के सामने वानर-राज और राक्षसराज की मैत्री हुई। दोनों में भाईचारा हो गया और दोनों एक दूसरे के गले लगे ॥ ४२ ॥

[टिप्पणी—जब श्रीरामचन्द्र जी और सुग्रीव में मैत्री हुई थी; तब भी अग्निदेव साक्षी बनाए गए थे। अब यहाँ भी रावण और बालि की मैत्रीस्थापना के समय अग्निदेव उपस्थित किए गए। इससे जान पड़ता है कि, उस समय की अनार्य जातियों में मैत्री करते समय अग्नि-सान्निध्य आवश्यक समझा जाता था।]

अन्योन्यं लम्बितकरौ ततस्तौ हरिराक्षसौ।
किष्किन्धां विशतुर्हृष्टौ सिंहौ गिरिगुहामिव ॥ ४३ ॥

फिर वालि और रावण हर्षित हो एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए वैसे ही किष्किन्धा में गए जैसे सिंह पर्वतकन्दरा में जाता हो ॥ ४३ ॥

स तत्र मासमुषितः सुग्रीव इव रावणः।
अमात्यैरागतैर्नीतस्त्रैलोक्योत्सादनार्थिभिः ॥ ४४ ॥

किष्किन्धा में रावण एक मास तक (वालि के छोटे भाई) सुग्रीव की तरह रहा। फिर त्रैलोक्य का नाश करने की इच्छा रखने वाले रावण के मंत्री वहाँ आए और उसे वहाँ से लिवा ले गए ॥ ४४ ॥

एवमेतत्पुरा वृत्तं वालिना रावणः प्रभो।
धर्षितश्च कृतश्चापि भ्राता पावकसन्निधौ ॥ ४५ ॥

हे प्रभो! हे राम! यह एक पुरानी घटना का वृत्तान्त है। वालि द्वारा रावण ने परास्त हो कर पीछे अग्नि के सामने वालि के साथ भाईचारा स्थापित किया था॥ ४५॥

बलमप्रतिमं राम वालिनोऽभवदुत्तमम्।
सोऽपि त्वया विनिर्दग्धः शलभो वह्निना यथा॥ ४६॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः॥

हे राम! वालि में अनुपम उत्तम बल था, किन्तु आग जिस प्रकार पतंगे को जला डालती है; उसी प्रकार तुमने उस वालि को एक बाण से मार कर ढेर कर दिया॥ ४६॥

[टिप्पणी—इस सर्ग में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो वालि द्वारा रावण का परास्त किया जाना। वालि का जन्म इन्द्र के अंश से था। इस पर कहा जा सकता है कि, रावण ने इन्द्र को तो परास्त कर दिया; किन्तु वालि को वह परास्त क्यों न कर पाया। इस शङ्का के समाधान में कहना पड़ेगा कि, इन्द्र को रावण ने नहीं, प्रत्युत मेघनाद ने वश किया था। रावण तो इन्द्र द्वारा घिर हो गया था। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा का वरदान था कि, रावण देवताओं से अवध्य होगा; किन्तु वरदान में मनुष्य और वानरों का नामोल्लेख न होने के कारण ही रावण अन्त में वानरों और मनुष्यों द्वारा मारा भी गया। दूसरी बात रावण और वालि की मैत्री की है। इन दोनों में परस्पर निष्कपट मैत्री हो गई थी और भाईचारा हो गया था। यह बात कबन्ध को मालूम थी। इसीसे उसने श्रीरामचन्द्र जी को सुग्रीव के साथ मैत्री करने की सलाह दी थी। यदि अवसर आता तो वालि को रावण की सहायता करनी पड़ती; न कि श्रीरामचन्द्र जी की। जो अपने शत्रु का मित्र होता है, वह भी अपना शत्रु ही समझा जाता है। अतः वालिवध का औचित्य भी इससे सिद्ध होता है।]

उत्तरकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—:o:—

अपृच्छत तदा रामो दक्षिणाशाश्रयं मुनिम् ।
प्राञ्जलिर्विनयोपेत इदमाह वचोर्थवत् ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी विनम्र हो और हाथ जोड़ दक्षिण-दिशावासी अगस्त्य मुनि से अर्थयुक्त वचन बोले ॥ १ ॥

अतुलं बलमेतद्वै वालिनो रावणस्य च ।
न त्वेताभ्यां हनुमता समं त्विति मतिर्मम ॥ २ ॥

यद्यपि वालि और रावण में अतुल बल था, तथापि मेरी समझ में ये दोनों ही हनुमान जी के समान न थे ॥ २ ॥

शौर्यं दाक्ष्यं बलं धैर्यं प्राज्ञता नयसाधनम् ।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालयाः ॥ ३ ॥

शौर्य, चातुर्य, बल, धैर्य, पाण्डित्य, नीतिपूर्वक, कार्यसिद्ध करने की योग्यता, विक्रम और प्रभाव के तो हनुमानजी (घर) हैं। अर्थात् इन गुणों के हनुमान जी आश्रयस्थल हैं ॥ ३ ॥

दृष्ट्वैव सागरं वीक्ष्य सीदन्तीं कपिवाहिनीम् ।
समाश्वास्य महाबाहुर्योजनानां शतं प्लुतः ॥ ४ ॥

क्योंकि सीता को खोजती हुई जब वानरी सेना समुद्र को सामने देख, विकल हो रही थी, तब यह वीर उन्हें धीरज बँधा सौ योजन चौड़ा समुद्र लाँघ गए थे ॥ ४ ॥

धर्षयित्वा पुरीं लङ्कां रावणान्तःपुरं तदा ।
दृष्टा सम्भाषिता चापि सीता ह्याश्वासिता तथा ॥ ५ ॥

फिर लङ्कापुरी की अधिष्ठात्री राक्षसी को परास्त कर, रावण के अन्तःपुर में सीता का इन्होंने पता लगाया और उनसे वार्तालाप कर, उनको ढाढ़स बँधाया ॥ ५ ॥

सेनाग्रगा मंत्रिसुताः किङ्करा रावणात्मजः ।
एते हनुमता तत्र एकेन विनिपातिताः ॥ ६ ॥

फिर, अकेले हनुमान ने ही रावण के सेनापतियों को, मंत्रिपुत्रों को, किङ्कर नाम्नी सेना को और रावण के एक पुत्र का भी वध किया ॥ ६ ॥

[टिप्पणी—किङ्कर नाम्नी सेना से अभिप्राय आधुनिक स्वयं सेवक दल जैसी किसी संस्था से है ।]

भूयो बन्धाद्विमुक्तेन भाषयित्वा दशाननम् ।
लङ्का भस्मीकृता येन पावकेनेव मेदिनी ॥ ७ ॥

तदनन्तर ब्रह्मास्त्र के बंधन से छूट सम्भाषण करते हुए रावण का तिरस्कार कर, लङ्का को हनुमान जी ने वैसे ही फूँका; जैसे आग पृथिवी को फूँक देती है ॥ ७ ॥

न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च ।
कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः ॥ ८ ॥

युद्धकाल में हनुमान जी ने जैसे जैसे कार्य किए, वैसे न तो इन्द्र, न विष्णु और न कुबेर ही कर सकते हैं ॥ ८ ॥

एतस्य बाहुवीर्येण लङ्का सीता च लक्ष्मणः ।
प्राप्ता मया जयश्चैव राज्यं मित्राणि बान्धवाः ॥ ९ ॥

मैंने तो इन्हीं के भुजबल से लङ्का को सर कर, सीता, लक्ष्मण, विजय, राज्य, मित्र और बान्धवों को पाया है ॥ ६ ॥

हनूमान् यदि नो न स्याद्वानराधिपतेः सखा ।
प्रवृत्तिमपि को वेत्तुं जानक्याः शक्तिमान् भवेत् ॥ १० ॥

अधिक क्या कहूँ; वानरनाथ के मित्र हनुमान यदि मेरी सहायता न करते, तो जानकी का पता तक लगना कठिन था ॥ १० ॥

किमर्थं वाली चैतेन सुग्रीवप्रियकाम्यया ।
तदा वैरे समुत्पन्ने न दग्धो वीरुधो यथा ॥ ११ ॥

जब सुग्रीव और वालि में वैर हो गया; तब इन हनुमान जी ने अपने पराक्रम से वालि को घास फूस की तरह क्यों भस्म नहीं कर डाला ॥ ११ ॥

न हि वेदितवान्मन्ये हनूमानात्मनो बलम् ।
यद्दृष्टवान् जीवितेष्टं क्लिश्यन्तं वानराधिपम् ॥ १२ ॥

मैं तो यह समझता हूँ कि, उस समय हनुमान जी को अपना बल अवगत न रहा होगा। नहीं तो, अपने प्राणप्रिय मित्र सुग्रीव को क्लेशित देख, वे चुपचाप न बैठ रहते ॥ १२ ॥

एतन् मे भगवन्सर्वं हनूमति महामुने ।
विस्तरेण यथातत्त्वं कथयामरपूजित ॥ १३ ॥

हे देवपूजित महामने! हे! भगवन्! अतः हनुमानजी के सम्बन्ध का जो यथार्थ वृत्तान्त हो, सो विस्तार पूर्वक कहिए ॥ १३ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा हेतुयुक्तमृषिस्तदा ।
हनूमतः समक्षं तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

अगस्त्य मुनि श्रीरामचन्द्र जी के इन युक्तियुक्त वचनों को सुन हनुमान जी के सामने ही कहने लगे ॥ १४ ॥

सत्यमेतद्रघुश्रेष्ठ यद्ब्रवीषि हनूमतः ।
न बले विद्यते तुल्यो न गतौ न मतौ परः ॥ १५ ॥

हे राम ! आपने हनुमान जी के विषय में जो कुछ कहा, वह सब ठीक है। बल, गति और बुद्धि में हनुमान जी की कोई दूसरा बराबरी नहीं कर सकता ॥ १५ ॥

अमोघशापैः शापस्तु दत्तोऽस्य मुनिभिः पुरा ।
न वेत्ता हि बलं सर्वं बली सन्नरिमर्दन ॥ १६ ॥

किन्तु; हे शत्रुनाशन ! मुनियों ने इनको ऐसा अमिट शाप दे रक्खा है; जिससे यह बलवान् हो कर भी अपने समस्त बल को भूल जाते हैं ॥ १६ ॥

बाल्येऽप्येतेन यत्कर्म कृतं राम महाबल ।
तन्न वर्णयितुं शक्यमिति बालतयाऽऽस्यते ॥ १७ ॥

हे राम ! बाल्यकाल मे महाबली हनुमान ने बाल-सुलभ-चापल्यवश जो दुष्कर्म किया है; मैं उसका वर्णन करने की भी शक्ति नहीं रखता ॥ १७ ॥

यदि वाऽस्ति त्वभिप्रायः संश्रोतुं तव राघव ।
समाधाय मतिं राम निशामय वदाम्यहम् ॥ १८ ॥

अथवा हे राम ! यदि तुम उसको सुनना ही चाहते हो, तो सावधान हो कर सुनो; मैं कहता हूँ ॥ १८ ॥

सूर्यदत्तवरस्वर्णः सुमेरुर्नाम पर्वतः ।
यत्र राज्यं प्रशास्त्यस्य केसरी नाम वै पिता ॥ १६ ॥

सूर्य के वरदान के प्रभाव से सुवर्णरूपी सुमेरु नाम का एक पर्वत है। वहाँ हनुमान के पिता केसरी राज्य करते हैं ॥१६॥

तस्य भार्या बभूवैषा ह्यञ्जनेति परिश्रुता ।
जनयामास तस्यां वै वायुरात्मजमुत्तमम् ॥ २० ॥

अंजनी या अञ्जना नामक विख्यात उनकी प्यारी एक भार्या थी। उस अञ्जना के गर्भ से पवन देव ने अपनी औरत से एक उत्तम पुत्र उत्पन्न किआ ॥ २० ॥

शालिशूकनिभाभासं प्रासूतेमं तदाऽञ्जना ।
फलान्याहर्तुकामा वै निष्क्रान्ता गहनेचरा ॥ २१ ॥

तदनन्तर रूपवती अञ्जना, शालवृक्ष की फुनगी (नोक) की तरह रङ्ग वाले इस पुत्र को उत्पन्न कर, फल लेने के लिए वन में गई ॥ २१ ॥

एष मातुर्वियोगाच्च क्षुधया च भृशार्दितः ।
रुरोद शिशुरत्यर्थं शिशुः शरवणे यथा ॥ २२ ॥

उस समय यह बालक माता के न रहने से और भूख लगने के कारण बड़ा दुःखी हुआ। यह उस समय शरवन (सरपत का वन) में स्वामिकार्तिक की तरह रोने लगा ॥२२॥

तदोद्यन्तं विवस्वन्तं जपापुष्पोत्करोपमम् ।
ददर्श फललोभाच्च ह्युत्पपात रविं प्रति ॥ २३ ॥

इतने में गुड़हल के फूल की तरह लाल-लाल और हाथी की तरह विशाल आकार वाले सूर्यदेव उदय हुए। हनुमान ने जाना कि, यह कोई फल है। अतः उनको लेने के लिए वह उस ओर लपके ॥ २३ ॥

बालार्काभिमुखो बालो बालार्क इव मूर्तिमान्।
ग्रहीतुकामो बालार्कं प्लवतेऽम्बरमध्यगः ॥ २४ ॥

उस समय सूर्य को पकड़ने की इच्छा किए हुए वह मूर्तिमान बालसूर्य की तरह बालक हनुमान जी आकाश के बीच जा पहुँचे ॥ २४ ॥

एतस्मिन् प्लवमाने तु शिशुभावे हनूमति।
देवदानवयक्षाणां विस्मयः सुमहानभूत् ॥ २५ ॥

यह शिशु हनुमान जब उछल कर उतने ऊँचे पहुँच गए, तब देवताओं, दानवों और यक्षों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥ २५ ॥

नाप्येवं वेगवान् वायुर्गरुडो वामनस्तथा।
यथाऽयं वायुपुत्रस्तु क्रमतेऽम्बरमुत्तमम् ॥ २६ ॥

(वे आपस में कहने लगे) जैसे वेग से यह वायुपुत्र उड़ा चला जाता है, वैसा वेग तो न वायु में है, न गरुड़ में है और न मन ही में है ॥ २६ ॥

यदि तावच्छिशोरस्य त्वीदृशो गतिविक्रमः।
यौवनं बलमासाद्य कथं वेगो भविष्यति ॥ २७ ॥

जब कि, शिशु अवस्था ही में इसकी ऐसी गति और वेग है; तब न मालूम युवावस्था में पूर्ण बल प्राप्त कर, यह कैसा बलवान और वेगवान् होगा ॥ २७ ॥

तमनुप्लवते वायुः प्लवन्तं पुत्रमात्मानः ।
सूर्यदाहभयाद्रक्षंस्तुषारचयशीतलः ॥ २८ ॥

पुत्रस्नेहवश अपने पुत्र के पीछे पीछे पवनदेव भी चले जाते थे और सूर्य के तप से पुत्र की रक्षा करने के लिए व का तरह ठंडे हो कर हनुमान जी को ठंडक पहुँचा रहे थे ॥२८॥

बहुयोजनसाहस्रं क्रमत्येष गतोम्बरम् ।
पितुर्बलाच्च बाल्याच्च भास्कराभ्याशमागतः ॥ २९ ॥

हनुमान बाल्यचापल्यवश और पिता की सहायता से कोई सहस्र योजन आकाश में ऊपर चढ़ कर, सूर्य के निकट पहुँच गए ॥ २९ ॥

शिशुरेष त्वदोषज्ञ इति मत्वा दिवाकरः ।
कार्यं चास्मिन् समायत्तमित्येवं न ददाह सः । ३० ॥

उस समय सूर्यदेव ने सोचा कि, एक तो अभी बच्चा है, इसे हित अनहित का कुछ ज्ञान नहीं, दूसरे आगे इससे देवताओं का बड़ा भारी कार्य होने वाला है; अतः उन्होंने (सूर्य भगवान् ने) इनको भस्म नहीं किआ ॥ ३० ॥

यमेव दिवस ह्येष ग्रहीतुं भास्करं प्लुतः ।
तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम् ॥ ३१ ॥

जिस दिन यह सूर्य को पकड़ने के लिए उछले थे, उसी दिन राहु भी सूर्य को ग्रसने के लिए चला था ॥ ३१ ॥

अनेन च परामृष्टो राहुः सूर्यरथोपरि ।
अपक्रान्तस्ततस्त्रस्तो राहुश्चन्द्रार्कमर्दनः ॥ ३२ ॥

जब इन्होंने सूर्य के रथ पर पहुँच राहु को पकड़ लिया, तब चन्द्र सूर्य को मर्दन करने वाला राहु, भयभीत हो, वहाँ से हट गया ॥ ३२ ॥

इन्द्रस्य भवनं गत्वा सरोषः सिंहिकासुतः ।
अब्रवीद्भ्रुकुटिं कृत्वा देवं देवगणैर्वृतम् ॥ ३३ ॥

वह सिंहिका का पुत्र राहु, क्रोध में भरा हुआ इन्द्र के भवन में जा तथा टेढ़ी भौंहें कर, देवताओं के बीच बैठे हुए इन्द्र से बोला ॥ ३३ ॥

बुभुक्षापनयं दत्त्वा चन्द्रार्कौ मम वासव ।
किमिदं तत्त्वया दत्तमन्यस्य बलवृत्रहन् ॥ ३४ ॥

हे इन्द्र ! तुमने मेरी भूख मिटाने के लिए चन्द्र और सूर्य को मुझे दिया था । हे बलवृत्रहन् ! फिर इस समय तुमने उन्हें दूसरे के अधीन क्यों कर दिया ॥ ३४ ॥

अद्याहं पर्वकाले तु *जिघृक्षुः सूर्यमागतः ।
अथान्यो राहुरासाद्य जग्राह सहसा रविम् ॥ ३५ ॥

देखिए, आज मेरा पर्वकाल था; सो आज मैं ज्यों ही सूर्य का ग्रास करने के लिए वहाँ गया; त्यों ही एक दूसरे राहु ने आकर सूर्य को अचानक ग्रस लिया ॥ ३५ ॥

स राहोर्वचनं श्रुत्वा वासवः सम्भ्रमान्वितः ।
उत्पपातासनं हित्वा उद्वहन् काञ्चनीं स्रजम् ॥ ३६ ॥

राहु के ये वचन सुन कर, वे काञ्चनमालाधारी इन्द्र, घबड़ा गए और आसन छोड़ कर उठ खड़े हुए ॥ ३६ ॥

---

*पाठान्तरे—" जिवृक्षु ।"

ततः कैलासकूटाभं चतुर्दन्तं मदस्रवम् ।
शृङ्गारधारिणं प्रांशुं स्वर्णघण्टाट्टहासिनम् ॥ ३७ ॥
इन्द्रः करीन्द्रमारुह्य राहुं कृत्वा पुरस्सरम् ।
प्रायाद्यत्राभवत् सूर्यः सहानेन हनूमता ॥ ३८ ॥

और कैलास पर्वत के शिखर की तरह ऊँचे चार दाँतों वाले मदस्रावी, सजे सजाए, सोने के घंटे घनघनाते हुए हाथी पर सवार हुए और राहु को आगे कर, वहाँ पहुँचे, जहाँ हनुमान तथा सूर्य थे ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

अथातिरभसेनागाद्राहुरुत्सृज्य वासवम् ।
अनेन च स वै दृष्टः प्रधावन् शैलकूटवत् ॥ ३९ ॥

इन्द्र को पीछे छोड़, राहु उनसे पहिले ही सूर्य के समीप बड़े वेग से पहुँच गया था; परन्तु हनुमान के पर्वतशृङ्गाकार विशाल शरीर को देखते ही वह, भाग गया था ॥ ३९ ॥

ततः सूर्यं समुत्सृज्य राहुं फलमवेक्ष्य च ।
उत्पपात पुनर्व्योम ग्रहीतुं सिंहिकासुतम् ॥ ४० ॥

हनुमान ने राहु को देख कर, समझा कि वह भी एक फल है। अतः वे सूर्य को छोड़ कर राहु को पकड़ने के लिए पुनः आकाश में उछले ॥ ४० ॥

उत्सृज्यार्कमिमं राम प्रधावन्तं प्लवङ्गमम् ।
अवेक्ष्यैवं परावृत्तो मुखशेषः पराङ्मुखः ॥ ४१ ॥

हे राम ! जब हनुमान जी सूर्य को छोड़, राहु के पीछे दौड़े तब केवल मुख मात्र के आकार वाला राहु, इनका विशाल शरीर देख (डर कर) भागा ॥ ४१ ॥

इन्द्रमाशंसमानस्तु त्रातारं सिंहिकासुतः ।
इन्द्र इन्द्रेति संत्रासात् मुहुर्मुहुरभाषत ॥ ४२ ॥

और वह सिंहिका का पुत्र राहु, अपनी रक्षा करने वाले इन्द्र को यह बात जनाने के लिए और भयभीत हो बारंबार "हे इन्द्र ! मुझे बचाओ" कह कर चिल्लाने लगा ॥ ४२ ॥

राहोर्विक्रोशमानस्य प्रागेवालक्षितं स्वरम् ।
श्रुत्वेन्द्रोवाच मा भैषीरहमेनं निषूदये ॥ ४३ ॥

राहु की दुःख भरी बोली सुन और उसकी बोली पहचान कर, इन्द्र ने कहा—"डरो मत, मैं इसे मारता हूँ" ॥ ४३ ॥

ऐरावतं ततो दृष्ट्वा महत्तदिदमित्यपि ।
फलन्तं हस्तिराजानमभिदुद्राव मारुतिः ॥ ४४ ॥

इतने में हनुमान ऐरावत हाथी ही को बड़ा भारी कोई फल समझ, उसकी ओर लपके ॥ ४४ ॥

तथास्य धावतो रूपमैरावतजिघृक्षया ।
मुहूर्तमभवद्घोरमिन्द्राग्न्युपरि भास्वरम् ॥ ४५ ॥

हे राघव ! जब हनुमान जी ऐरावत को पकड़ने के लिए लपके, तब इनका रूप एक मुहूर्त भर मे कालानल की तरह भयानक हो गया ॥ ४५ ॥

एवमाधावमानं तु नातिक्रुद्धः शचीपतिः ।
हस्तान्तादतिमुक्तेन कुलिशेनाभ्यताडयत् ॥ ४६ ॥

इनको दौड़ते देख, शचीपति इन्द्र ने साधारण क्रोध कर साधारण रीति से धीरे से इनके वज्र का एक प्रहार किया ॥४६॥

ततो गिरौ पपातैष इन्द्रवज्राभिताडितः ।
पतमानस्य चैतस्य वामाहनुरभज्यत ॥ ४७ ॥

वज्र की चोट लगने से ये हनुमान जी पर्वत पर गिर पड़े, और गिरने से इनकी ठोड़ी का बाँया भाग कुछ टूट गया (टेढ़ा हो गया) ॥ ४७ ॥

तस्मिंस्तु पतिते चापि वज्रताडनविह्वले ।
चुक्रोधेन्द्राय पवनः प्रजानामहिताय सः ॥ ४८ ॥

जब यह हनुमान जी वज्र की चोट से मूर्च्छित हो गिर पड़े,तब पवनदेव इन्द्र पर क्रुद्ध हुए और (इन्द्र की प्रजा) का अनिष्ट करने का पवन ने ठान ठाना ॥ ४८ ॥

प्रचारं स तु संगृह्य प्रजास्वन्तर्गतः प्रभुः ।
गुहां प्रविष्टः स्वसुतं शिशुमादाय मारुतः ॥ ४९ ॥

सब के शरीर में रहने वाले पवनदेव, अपना सञ्चार बंद कर और अपने बच्चे को ले चुपचाप एक गुफा के भीतर जा बैठे ॥ ४९ ॥

विण्मूत्राशयमावृत्य प्रजानां परमार्तिकृत् ।
रुरोध सर्वभूतानि यथा वर्षाणि वासवः ॥ ५० ॥

जल की वृष्टि थाम कर जिस प्रकार इन्द्र सब प्राणियों को पीड़ित करते हैं, उसी प्रकार पवनदेव समस्त प्राणियों के मलाशय और मूत्राशय वाले अधोवायु को रोक कर, प्रजाजनों को सताने लगे ॥ ५० ॥

वायुप्रकोपाद्भूतानि निरुच्छ्वासानि सर्वतः ।
सन्धिभिर्भिद्यमानैश्च काष्ठभूतानि जज्ञिरे ॥ ५१ ॥

वायु के कुपित होने से प्राणिमात्र श्वाँस न ले सके और उनके शरीर के सारे जोड़ काठ की तरह जकड़ गए ॥ ५१ ॥

निःस्वाध्यायवषट्कारं निष्क्रियं धर्मवर्जितम् ।
वायुप्रकोपात्त्रैलोक्यं निरयस्थमिवाभवत् ॥ ५२ ॥

वायु के कुपित होने से न कहीं स्वाध्याय होता, न कहीं वषट्कार और न कहीं कोई अन्य धार्मिक क्रियाकलाप ही देख पड़ता था। उस समय तीनों लोक धर्मकर्म रहित और नरक यातना के भोग में फँसे हुए जान पड़ने लगे ॥ ५२ ॥

ततः प्रजाः सगन्धर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
प्रजापतिं समाधावन् दुःखिताश्च सुखेच्छया ॥ ५३ ॥

क्या देवता, क्या, गन्धर्व और क्या मनुष्य, सभी हाहाकार करते थे और दुःख से छूटना चाहते थे। अतः सब के सब सुख पाने की इच्छा से दौड़े दौड़े श्रीब्रह्मा जी के निकट गए ॥ ५३ ॥

ऊचुः प्राञ्जलयो देवा महोदरनिभोदराः ।
त्वया तु भगवन् सृष्टाः प्रजानाथ चतुर्विधाः ॥ ५४ ॥

महोदर (जलोदर) रोग से पीड़ित रोगी की तरह पेटों को फुलाए और हाथ जोड़े हुए देवतागण श्रीब्रह्मा जी से बोले—हे भगवन्! हे प्रजानाथ! तुमने (अपनी सृष्टि में) चार प्रकार के जीवों की रचना की है ॥ ५४ ।

त्वया दत्तोऽयमस्माकमायुषः पवनः पतिः ।
सोऽस्मान्प्राणेश्वरो भूत्वा कस्माद्देषोऽद्य सत्तम ॥ ५५ ॥

रुरोध दुःखं जनयन्नन्तःपुर इव स्त्रियः।
तस्मात्त्वां शरणं प्राप्ता वायुनोपहता वयम् ॥ ५६ ॥

और हे सत्तम! तुमने पवन को हम सब की आयु का अधिपति बना दिआ है, किन्तु आज वही हम लोगों का प्राणेश्वर वायु पर्दे में स्त्री की तरह छिप कर, हमको क्यों इस प्रकार सता रहा है? अतः हम सब वायु के सताए हुए तुम्हारे शरण में आए हैं ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

[वायुसंरोधजं दुःखमिदं नो नुद दुःखहन् ।]
एतत्प्रजानां श्रुत्वा तु प्रजानाथः प्रजापतिः ॥ ५७ ॥
कारणादिति चोक्त्वाऽसौ प्रजाः पुनरभाषत ।
यस्मिंश्च कारणे वायुश्चुक्रोध चरुरोध च ॥ ५८ ॥
प्रजाः शृणुध्वं तत्सर्वं श्रोतव्यं चात्मनः क्षमम् ।
पुत्रस्तस्यामरेशेन इन्द्रेणाद्य निपातितः ॥ ५९ ॥
राहोर्वचनमास्थाय ततः स कुपितोऽनिलः ।
अशरीरः शरीरेषु वायुश्चरति पालयन् ॥ ६० ॥

हे दुःखहारी! हम लोगों का पवनरोध सम्बन्धी दुःख दूर करो। प्रजाजनों के ऐसे वचन सुन कर, प्रजानाथ प्रजापति ब्रह्मा जी बोले—इसका कोई कारण अवश्य है—जिससे वायु का सञ्चार रुक गया है। जिस कारण वायु ने क्रोध कर अपना सञ्चार रोका है हे सर्व प्रजाजनों! उसको बतला देना हमारा, और उसको सुनना, तुम्हारा कर्त्तव्य है। वह यह है कि, सुरपति इन्द्र ने पवन के पुत्र को मारा है। सो भी राहु के

कहने से। इसीसे पवनदेव क्रुद्ध हो गए हैं। यद्यपि पवनदेव शरीररहित हैं, तथापि वे प्राणधारियों के शरीरों में घूमते फिरते हुए सब का पालन करते हैं॥ ५७॥५८॥५९॥६०॥

शरीरं हि विना वायुं समतां याति दारुभिः।
वायुः प्राणाः सुखं वायुर्वायुः सर्वमिदं जगत्॥ ६१॥

विशेष कर वायुरहित शरीर काठ के समान हो जाता है। अतः वायु ही प्राण, वायु ही सुख और वायु ही समस्त जगद्रूप है॥ ६१॥

वायुना सम्परित्यक्तं न सुखं विन्दते जगत्।
अद्यैव च परित्यक्तं वायुना जगदायुषा॥ ६२॥

जब वायुदेव अपना सञ्चार त्याग देते हैं, तब जगत् को सुख प्राप्त हो ही नहीं सकता। देख लो, आज ही जब उन्होंने अपना सञ्चार बंद कर दिया है तब संसार की क्या दशा हो रही है॥ ६२॥

अद्यैव ते निरुच्छ्वासाः काष्ठकुड्योपमाः स्थिताः।
तद्यामस्तत्र यत्रास्ते मारुतो रुक्प्रदो हि नः।
मा विनाशं गमिष्याम अप्रसाद्यादितेः सुतम्॥ ६३॥

बिना श्वास के लोग काठ अथवा दीवार के समान हो गए हैं। अतएव, हम लोगों को पीड़ा देने वाले पवनदेव जहाँ कहीं हों, वहीं हम सब को चलना चाहिए। पवनदेव को अप्रसन्न कर, कहीं हम सब लोग मर न जाँय॥ ६३॥

ततः प्रजाभिः सहितः प्रजापतिः
सदेवगन्धर्वभुजङ्गगुह्यकैः।

जगाम यत्रास्यति तत्र मारुतः
सुतं सुरेन्द्राभिहतं प्रगृह्य सः ॥ ६४ ॥

यह कह ब्रह्मा जी, देवता, गन्धर्व, भुजङ्ग, गुह्यक आदि समस्त प्रजाजनों को अपने साथ ले, वहाँ गए, जहाँ इन्द्र के मारे हुए अपने शिशु को लिए, पवनदेव बैठे हुए थे ॥ ६४ ॥

ततोर्क वैश्वानरकाञ्चनप्रभं
सुतं तदोत्सङ्गगतं सदागतेः ।
चतुर्मुखो वीच्य कृपामथाकरोत्
सदेवगन्धर्वर्षि यक्षराक्षसैः ॥ ६५ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

आदित्य, अनल, अथवा सुवर्ण जैसी कान्ति वाले पवन-नन्दन हनुमान जी को, सदा गतिशील पवनदेव की गोद में देख, ब्रह्मा जी ने देवताओं, गन्धर्वों, ऋषियों और राक्षसों सहित उन पर अनुग्रह प्रदर्शित किया ॥ ६५ ॥

उत्तरकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:-❀-:—

षट्त्रिंशः सर्गः

—:-०-:—

ततः पितामहं दृष्ट्वा वायुः पुत्रवधार्दितः ।
शिशुकं तं समादाय उत्तस्थौ धातुरग्रतः ॥ १ ॥

पुत्रशोक से दुःखी पवनदेव पितामह को देखते ही, पुत्र को गोद में लिए हुए, उठ कर ब्रह्माजी के सामने खड़े हो गए ॥ १ ॥

चलत्कुण्डलमौलिस्रक्तपनीयविभूषणः ।
पादयोर्न्यपतद्वायुस्त्रिरुपस्थाय वेधसे ॥ २ ॥

सुवर्णभूषणों से भूषित पवनदेव के सहसा उठ खड़े होने से उनके कानों के कुण्डल सिर का मुकुट और गले का हार झलमला उठे । पवनदेव तीन बार ब्रह्मा जी को प्रणाम कर उनके चरणों में गिर पड़े ॥ २ ॥

[टिप्पणी—पवनदेव ने ब्रह्मा जी को तीन बार प्रणाम किया तो क्यों ? इसका समाधान यह है कि अभिवादन नियमानुसार गुरु वर्ग और पूज्य एवं मान्य व्यक्तियों को विशेषरूप से प्रणाम करना कर्त्तव्य है ।]

तं तु वेदविदा तेन लम्बाभरणशोभिना ।
वायुमुत्थाप्य हस्तेन शिशुं तं परिमृष्टवान् ॥ ३ ॥

तब अनादि एवं वेदार्थज्ञ ब्रह्मा जी ने आभूषणों से भूषित निज कर से, पवनदेव को उठाया और उनके बच्चे के शरीर पर भी उन्होंने हाथ फेरा ॥ ३ ॥

स्पृष्टमात्रस्ततः सोथ सलीलं* पद्मजन्मना ।
जलसिक्तं यथा सस्यं पुनर्जीवितमाप्तवान् ॥ ४ ॥

कमलयोनि ब्रह्मा जी का करस्पर्श होते ही, पवनपुत्र जल से सींचे हुए धान की तरह, फिर जीवित अर्थात् भले चंगे हो गए ॥ ४ ॥

प्राणवन्तमिमं दृष्ट्वा प्राणो गन्धवहो मुदा ।
चचार सर्वभूतेषु सन्निरुद्धं यथा पुरा ॥ ५ ॥

गन्धवाही प्राणभूत वायुदेव अपने पुत्र को जीवित देख कर और अपनी रोक छोड़, उसी क्षण प्रसन्न हो सब प्राणियों में सञ्चारित हो गए ॥ ५ ॥

---

* पाठान्तरे—"पद्मयोनिना ।"

मरुद्रोधाद्विनिर्मुक्तास्ताः प्रजा मुदिता भवन् ।
शीतवातविनिर्मुक्ताः पद्मिन्य इव साम्बुजाः ॥ ६ ॥

जैसे शीत और पवन से बच कर, कमल सहित कमलिनी प्रफुल्लित है, वैसे ही समस्त प्राणी वायुरोध से मुक्त हो कर, हर्षित हो गये ॥ ६ ॥

ततस्त्रियुग्मः त्रिककुत्त्रिधामा त्रिदशार्चितः ।
उवाच देवता ब्रह्मा मारुतप्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

यश, वीर्य, ऐश्वर्य, कान्ति, ज्ञान और वैराग्य समन्वित त्रिमूर्तिधारी, त्रिलोकधाम तथा देवताओं के पूज्य श्रीब्रह्मा जी, पवनदेव को प्रसन्न करने के लिए देवताओं से बोले ॥ ७ ॥

भो महेन्द्राग्निवरुणा महेश्वरधनेश्वराः ।
जानतामपि वः सर्वं वक्ष्यामि श्रूयतां हितम् ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! हे अग्नि ! हे वरुण ! हे महेश्वर ! हे धनेश्वर ! यद्यपि तुम सब स्वयं ज्ञानवान हो; तथापि मैं तुम लोगों के हित की जो बात कहता हूँ; उसे तुम सब लोग सुनो ॥ ८ ॥

अनेन शिशुना कार्यं कर्तव्यं वो भविष्यति ।
तद्ददध्वं वरान् सर्वे मारुतस्यास्य तुष्टये ॥ ९ ॥

देखो, यह शिशु तुम्हारा बड़ा काम करेगा, अतः इसके पिता को प्रसन्न करने के लिए तुम सब इस शिशु को वरदान दो ॥९॥

ततः सहस्रनयनः प्रीतियुक्तः शुभाननः ।
कुशेशयमयीं मालामुत्क्षिप्येदं वचोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

तब प्रसन्नवदन और सहस्रनयन इन्द्र ने हर्षित हो, सुवर्णमयी कमलपुष्पों की माला हनुमान जी के गले में डाल कर, यह कहा ॥ १० ॥

मत्करोत्सृष्टवज्रेण हनुरस्य यथा हतः ।
नाम्ना वै कपिशार्दूलो भविता हनुमानिति ॥ ११ ॥

मेरे हाथ से चलाए गए वज्र से इसकी ठोड़ी (हनु) कुछ टेढ़ी हो गई है, अतः आज से इस कपिशार्दूल का हनुमान नाम पड़ा ॥ ११ ॥

अहमस्य प्रदास्यामि परमं वरमद्भुतम् ।
इतः प्रभृति वज्रस्य ममावध्यो भविष्यति ॥ १२ ॥

इसको मैं एक अद्भुत वरदान यह देता हूँ कि, आज से यह हनुमान मेरे वज्र से अवध्य होगा ॥ १२ ॥

मार्तंडस्त्वब्रवीत्तत्र भगवांस्तिमिरापहः ।
तेजसोस्य मदीयस्य ददामि शतिकां कलाम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर तिमिरनाशक भगवान् सूर्य ने कहा—मैंने अपने तेज का शतांश इस शिशु को दिया ॥ १३ ॥

यदा च शास्त्राण्यध्येतुं शक्तिरस्य भविष्यति ।
तदास्य शास्त्रं दास्यामि येन वाग्मी भविष्यति ।
न चास्य भविता कश्चित् सदृशः शास्त्रदर्शने ॥ १४ ॥

जब यह पढ़ने योग्य होगा; तब मैं स्वयं इसको शास्त्र पढ़ाऊँगा, जिससे यह हनुमान वाग्मी होगा और इसके समान शास्त्रों का जानने वाला दूसरा कोई न होगा ॥ १४ ॥

च वरं प्रादान्नास्य मृत्युर्भविष्यति ।
वर्षायुतशतेनापि मत्पाशादुदकादपि ॥ १५ ॥

तदनन्तर वरुण जी ने इनको यह वर दिया कि, मेरी फाँसी और जल से दस लाख वर्षों तक भी ये, न मरेगा ॥ १५ ॥

यमो दण्डादवध्यत्वमरोगत्वं च *दत्तवान् ।
वरं ददामि सन्तुष्ट अविषादं च संयुगे ॥ १६ ॥

तदनन्तर यमराज ने प्रसन्न हो, इनको यह वर दिया कि, मेरे कालदण्ड से इनका बाल भी बाँका न होगा और न कभी कोई रोग इनको सतावेगा तथा संग्राम में ये कभी विषाद को प्राप्त न होंगे ॥ १६ ॥

गदेयं मामिका चैनं संयुगे न वधिष्यति ।
इत्येवं +धनदः प्राह तदा ह्येकाक्षिपिङ्गलः ॥ १७ ॥

तदनन्तर एकाक्षी पिङ्गल कुबेर जी ने उस समय हनुमान जी को यह वर दिया कि, यह हनुमान युद्ध में मुझसे या मेरी गदा से न मर सकेंगे ॥ १७ ॥

मत्तो मदायुधानां च अवध्योऽयं भविष्यति ।
इत्येवं शङ्करेणापि दत्तोस्य परमो वरः ॥ १८ ॥

तदनन्तर श्रीमहादेवजी ने भी हनुमान जी को यह परम वर दिया कि, मेरे त्रिशूल और पाशुपतास्त्र से यह न मारे जायँगे ॥ १८ ॥

विश्वकर्मा च दृष्ट्वेमं बालं प्रति महारथः ।
मत्कृतानि च शस्त्राणि यानि दिव्यानि तानि च ।
तैरवध्यत्वमापन्नश्चिरजीवी भविष्यति ॥ १९ ॥

तदनन्तर विश्वकर्मा ने भी बालक की ओर देख कर कहा कि, मेरे बनाये जो दिव्यास्त्र और शस्त्र हैं, उन सब से यह अवध्य हो कर, चिरजीवी होगा ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—" निश्चयः " । + पाठान्तरे—" वरदः " ।

दीर्घायुश्च महात्मा च ब्रह्मा तं प्राब्रवीद्वचः ।
सर्वेषां ब्रह्मदण्डानामवध्योऽयं भविष्यति ॥ २० ॥

अन्त में ब्रह्मा जी बोले—यह बालक दीर्घायु, महाबलवान और समस्त ब्रह्मदण्डों से अवध्य होगा ॥ २० ॥

ततः सुराणां तु वरैर्दृष्ट्वा ह्येनमलंकृतम् ।
चतुर्मुखस्तुष्टमना वायुमाह जगद्गुरुः ॥ २१ ॥
अमित्राणां भयकरो मित्राणामभयङ्करः ।
अजेयो भविता पुत्रस्तव मारुत मारुतिः ॥ २२ ॥
कामरूपः कामचारी कामगः प्लवतां वरः ।
भवत्यव्याहतगतिः कीर्तिमांश्च भविष्यति ॥ २३ ॥
रावणोत्सादनार्थानि रामप्रीतिकराणि च ।
रोमहर्षकराण्येष कर्ता कर्माणि संयुगे ॥ २४ ॥

इस प्रकार जगद्गुरु चतुर्मुख ब्रह्मा देवताओं के वरदानों को सुन कर और प्रसन्न हो वायुदेव से बोले,—हे वायो ! यह तुम्हारा पुत्र मारुति, शत्रुओं को भयभीत करने वाला, मित्रों को अभयदाता, अजेय, कामरूपी, कामचारी, कामगामी, अव्याहत गति वाला, वानरों में श्रेष्ठ तथा बड़ा कीर्तिमान होगा। यह युद्ध में रावण के नाश के लिए श्रीराम जी के लिए हितकारक एवरोमाञ्चकारी कार्य करेगा ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा तमामन्त्र्य मारुतं त्वमरैः सह ।
यथागतं ययुः सर्वे पितामहपुरोगमाः ॥ २५ ॥

यह कह और वायु से विदा हो। तथा अन्य देवताओं को अपने साथ लिए हुए ब्रह्माजी अपने लोक को सिधारे । २५ ॥

सोऽपि गन्धवहः पुत्रं प्रगृह्य गृहमानयत्।
अञ्जनायास्तमाख्याय* वरदत्तं विनिर्गतः॥ २६॥

गन्धवाही पवनदेव भी पुत्र को ले कर अपने घर आए और अञ्जना से देवताओं के वरदान का वृत्तान्त कह, वहाँ से चल दिए॥ २६॥

प्राप्य राम वरानेष वरदानबलान्वितः।
जवेनात्मनि संस्थेन सोऽसौ पूर्ण इवाऽर्णवः॥ २७॥

हे रामचन्द्र! वरदानों के प्रभाव से और स्वाभाविक शारीरिक बल से यह हनुमान जी समुद्र की तरह परिपूर्ण हो गए॥ २७॥

तरसा पूर्यमाणोऽपि तदा वानरपुङ्गवः।
आश्रमेषु महर्षीणामपराध्यति निर्भयः॥ २८॥

तब यह कपिश्रेष्ठ हनुमान जी बल से परिपूर्ण और निर्भय हो, ऋषियों के आश्रमों में जा कर, उपद्रव करने लगे॥ २८॥

स्रुग्भाण्डान्यग्निहोत्राणि वल्कलानां च सञ्चयान्।
भग्नविच्छिन्न विध्वस्तान् संशान्तानां करोत्ययम्॥२९॥

कहीं यज्ञपात्रों (जैसे स्रुग्भाण्डों) को, अग्निहोत्र की अग्नि को, और वल्कल वस्त्रों को तोड़ने फोड़ने, अस्तव्यस्त करने और चीड़ने फाड़ने लगे। ऋषिगण शान्त स्वभाव के थे। वे करते ही क्या॥ २९॥

एवंविधानि कर्माणि प्रावर्तत महाबलः।
सर्वेषां ब्रह्मदण्डानामवध्यः शम्भुना[1] कृतः॥ ३०॥

---

१ शम्भुना—ब्रह्मणा। (गो०)

* पाठान्तरे—"स्तमाचख्यौ"। पाठान्तरे—"वरदानसमन्वितः"।

इस प्रकार यह महाबली हनुमान ब्रह्मा जी के वरदान के कारण ब्रह्मदण्ड से अवध्य हो ऐसे कर्म किया करते थे ॥३०॥

जानन्त ऋषयस्तं वै सहन्ते तस्य शक्तिनः ।
तथा केसरिणा त्वेष वायुना सोञ्जनीसुतः ॥ ३१ ॥
प्रतिषिद्धोपि मर्यादां लङ्घयत्येव वानरः ।
ततो महर्षयः क्रुद्धा भृग्वङ्गिरसवंशजाः ॥ ३२ ॥

ऋषियों को यह बात (ब्रह्मदण्ड से अवध्य होने की) मालूम थी। अतः दण्ड देने की शक्ति रहते हुए भी वे इनके (हनुमान् जी के) उपद्रवों को सह लिया करते थे। फिर केसरी और वायु ने इनको ऐसे कार्य करने से वर्जा भी, ता भी यह मर्यादा का उल्लङ्घन ही करते गए। हे राम! तदनन्तर अंगिरा और भृगु के वंश में उत्पन्न हुए क्रुद्ध मुनिजनों ने ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

शेपुरेनं रघुश्रेष्ठ नातिक्रुद्धातिमन्यवः ।
बाधसे यत्समाश्रित्य बलमस्मान् प्लवङ्गम ॥ ३३ ॥
तद्दीर्घकालं वेत्तासि नास्माकं शापमोहितः ।
यदा ते स्मार्यते कीर्तिस्तदा ते वर्धते बलम् ॥ ३४ ॥

साधारण क्रोध कर इनको यह शाप दिया कि—हे वानर! जिस बल के भरोसे तू हम लोगों को सताता है, सो, वह बल तुझे बहुत दिनों के बाद स्मरण होगा। किन्तु जब कोई तुझे तेरी कीर्ति स्मरण करावेगा, तब तेरा बल बढ़ जाया करेगा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

ततस्तु हृततेजौजा महर्षिवचनौजसा ।
एषोश्रमाणि तान्येव मृदुभावं गतोऽचरत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर यह हनुमान ऋषियों के शाप के प्रभाव से बल-वीर्य विहीन हो, मृदुभाव से ऋष्याश्रमों में घूमने लगे ॥३५॥

ऋथर्क्षरजसो नाम वालिसुग्रीवयोः पिता ।
सर्ववानरराजासीत्तेजसा इव भास्करः ॥ ३६ ॥

सूर्य के समान तेजस्वी ऋक्षराज, समस्त वानरों के राजा थे तथा वालि और सुग्रीव के पिता थे ॥ ३६ ॥

स तु राज्यं चिरं कृत्वा वानराणां हरीश्वरः ।
ततस्त्वक्षरजा नाम कालधर्मेण योजितः ॥ ३७ ॥

वे वानराधिपति ऋक्षराज बहुत दिनों तक राज्य कर के, अन्त में काल के वशवर्ती हो गए ॥ ३७ ॥

तस्मिन्नस्तमिते चाथ मन्त्रिभिर्मन्त्रकोविदैः ।
पित्र्ये पदे कृतो वाली सुग्रीवो वालिनः पदे ॥ ३८ ॥

जब वे मर गए, तब मंत्रकुशल मंत्रियों ने वालि को पिता के पद पर और सुग्रीव को वालि के (युवराज) पद पर अभिषिक्त किया ॥ ३८ ॥

सुग्रीवेण समं त्वस्य अद्वैधं छिद्रवर्जितम् ।
आबाल्यं सख्यमभवदनिलस्याग्निना यथा ॥ ३९ ॥

बचपन ही से हनुमान की सुग्रीव के साथ ऐसी दोषरहित आदर्श मैत्री थी, जैसी कि, अग्नि के साथ वायु की है ॥ ३९ ॥

एष शापवशादेव न वेद बलमात्मनः ।
वालिसुग्रीवयोर्वैरं यदा राम समुत्थितम् ॥ ४० ॥

परन्तु हे राम ! जिस समय वालि और सुग्रीव में वैर हुआ, उस समय यह हनुमान जी शापवश अपने बल को भूले हुए थे ॥ ४० ॥

न ह्येष राम सुग्रीवो भ्राम्यमाणोपि वालिना ।
देव जानाति न ह्येष बलमात्मनि मारुतिः ॥ ४१ ॥

हे देव ! वालि, सुग्रीव को बहुत दौड़ाता और घुमाता था और बहुत सताता था, किन्तु हनुमान ये सब देखते रहते थे। क्योंकि यह शापवश अपने बल को भूले हुए थे। अतः यह करते ही क्या ॥ ४१ ॥

ऋषिशापाहृतबलस्तदैष कपिसत्तमः ।
सिंहः कुञ्जररुद्धो वा आस्थितः सहितो रणे ॥ ४२ ॥

ऋषिशापवश अपने बल को भूले हुए यह कपिश्रेष्ठ हनुमान, सुग्रीव की विपत्ति के समय, हाथी से घिरे हुए सिंह की तरह, सुग्रीव के साथ तो रहते थे, (किन्तु वालि से युद्ध नहीं कर सकते थे) ॥ ४२ ॥

पराक्रमोत्साहमतिप्रताप-
सौशील्यमाधुर्यनयानयैश्च ।
गाम्भीर्यचातुर्यसुवीर्यधैर्य-
र्हनूमतः कोऽप्यधिकोऽस्ति लोके ॥ ४३ ॥

हे राघव ! पराक्रम, उत्साह, बुद्धि, प्रताप, सौशील्य, माधुर्य, नीतिज्ञान, गम्भीरता, चतुरता, बल और धैर्य में हनुमान जी से बढ़ कर इस लोक में और कौन है ? अर्थात् इस लोक में कोई नहीं है ॥ ४३ ॥

असौ पुनर्व्याकरणं ग्रहीष्यन्

सूर्योन्मुखः प्रष्टुमनाः कपीन्द्र ।

उद्यद्गिरेरस्तगिरिं जगाम

ग्रन्थं महद्धारयनप्रमेयः ॥ ४४ ॥

यह वानर व्याकरण पढ़ने की इच्छा से सूर्य के आगे पढ़ते पढ़ते उदयाचल से अस्ताचल तक चले जाते थे ॥ ४४ ॥

ससूत्रवृत्त्यर्थपदं महार्थं

ससंग्रहं सिद्ध्यति वै कपीन्द्रः ।

न ह्यस्य कश्चित् सदृशोऽस्ति शास्त्रे

वैशारदे छन्दगतौ तथैव ॥ ४५ ॥

इन अप्रमेय वानरेन्द्र ने सूत्र (अष्टाध्यायी) वृत्ति, वार्त्तिक, भाष्य और संग्रह (प्रकरणादि) अर्थयुक्त महत् ग्रन्थ (व्याकरण) पढ़ सिद्धि प्राप्ति कर ली और साथ ही छन्दशास्त्र में भी यह प्रवीण हो गए ॥ ४५ ॥

सर्वासु विद्यासु तपोविधाने

प्रस्पर्धतेयं हि गुरुं सुराणाम् ।

सोयं नवव्याकरणार्थवेत्ता

ब्रह्मा भविष्यत्यपि ते प्रसादात् ॥ ४६ ॥

प्रवीविविक्षोरिव सागरस्य

लोकान्दिधक्षोरिव पावकस्य ।

लोकक्षयेष्वेव यथान्तकस्य

हनूमतः स्थास्यति कः पुरस्तात् ॥ ४७ ॥

यह समस्त विद्या और तपोविधान में सुरगुरु बृहस्पति की टक्कर के हैं और व्याकरण के जानने वाले हैं। अब आपकी कृपा से यह ब्रह्मा भी होंगे। यह (बलवान इतने हैं कि,) समस्त संसार को भस्म करने के लिए प्रलयाग्नि के समान अथवा प्रजाक्षयकारी यम की तरह अथवा प्रलयकालीन उफनते हुए समुद्र की तरह हैं। भला इन हनुमान के सामने कौन ठहर सकता है अथवा इनका सामना कौन कर सकता है? ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

एषेव चान्ये च महाकपीन्द्राः
सुग्रीवमैन्दद्विविदाः सनीलाः।
सतारतारेयनलाः सरम्भा
स्त्वत्कारणाद्राम सुरैर्हि सृष्टाः ॥ ४८ ॥

हे राम! तुम्हारी सहायता के लिए देवताओं ने इन्हीं के समान सुग्रीव, अङ्गद, मैन्द, द्विविद, नल, नील, तार, तारेय और रम्भादि बड़े बड़े अन्य वानरों को भी उत्पन्न किया है ॥ ४८ ॥

[गजो गवाक्षो गवयः सुदंष्ट्रो
मैन्दः प्रभोज्योतिमुखो नलश्च।
एते च ऋक्षाः सह वानरेन्द्रै-
स्त्वत्कारणाद्राम सुरैर्हि सृष्टाः ॥ ४९ ॥]

हे प्रभो! गज, गवाक्ष, गवय, सुदंष्ट्र और ज्योतिर्मुख को तथा ऋक्षों को भी तुम्हारी सहायता के लिए देवताओं ने उत्पन्न किया है ॥ ४९ ॥

तदेतत् कथितं सर्वं यन् मां त्वं परिपृच्छसि।
हनूमतो बालभावे कर्मैतत् कथितं मया ॥ ५० ॥

हे राम ! हनुमान ने बाल्यावस्था में जो जो कर्म किये थे, वे सब मैंने तुमको सुनाए। अधिक क्या कहूँ, तुमने जो कुछ मुझसे पूँछा था, उसका उत्तर मैंने तुम को दिआ ॥ ५० ॥

श्रुत्वाऽगस्त्यस्य कथितं रामः सौमित्रिरेव च ।
विस्मयं परमं जग्मुर्वानरा राक्षसैः सह ॥ ५१ ॥

अगस्त्य जी की ये वातें सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, वानरों तथा राक्षसों सहित, वड़े विस्मित हुए ॥ ५१ ॥

अगस्त्यस्त्वब्रवीद्रामं सर्वमेतच्छ्रुतं त्वया ।
दृष्टः सम्भाषितश्चासि राम गच्छामहे वयम् ॥ ५२ ॥

परन्तु अगस्त्य जी पुनः श्रीरामचन्द्र जी से बोले कि, तुमने सब कुछ सुना और मैंने भी तुम्हें देखा और तुम्हारे साथ वातचीत भी की। अव हम सव जाते हैं ॥ ५२ ॥

श्रुत्वैतद्राघवो वाक्यमगस्त्यस्योग्रतेजसः ॥
प्राञ्जलिः प्रणतश्चापि महर्षिमिदमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

तव उग्रतेजस्वी अगस्त्य ऋषि के यह वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़ प्रणाम कर और नम्रता-पूर्वक बोले ॥ ५३ ॥

अद्य मे देवतास्तुष्टाः पितरः प्रपितामहाः ।
युष्माकं दर्शनादेव नित्यं तुष्टाः सबान्धवाः ॥ ५४ ॥

आज तुम्हारे दर्शन मिलने से मेरे ऊपर देवता प्रसन्न हुए तथा पिता और प्रपितामहगण भी तृप्त हुए और भाईवदों सहित मैं प्रसन्न हुआ ॥ ५४ ॥

विज्ञाप्यं तु ममैतद्धि यद्वदाम्यागतस्पृहः ।
तद्भवद्भिर्मम कृते क व्यमनुकम्पया ॥ ५५ ॥

किन्तु आपकी सेवा में मेरा एक स्पृहारहित निवेदन है। उसे आप मेरे ऊपर दया कर स्वीकार करें ॥ ५५ ॥

पौरजानपदान् स्थाप्य स्वकार्येष्वहमागतः[1] ।
क्रतूनेव करिष्यामि प्रभावाद्भवतां सताम् ॥ ५६ ॥

मैंने वन से लौट कर, पुरवासियों और देशवासियों को अपने कामों में लगा दिया है। आप सत्पुरुषों की कृपा से मैं यज्ञ करना चाहता हूँ ॥ ५६ ॥

सदस्या मम यज्ञेषु भवन्तो नित्यमेव तत् ।
भविष्यथ महावीर्या ममानुग्रहकाङ्क्षिणः ॥ ५७ ॥

आप लोग महत् तपवीर्यसमन्वित तथा साधु एवं शीलवान् हैं। अतएव आप अपने इस अनुग्रहकाँक्षी के यज्ञ में निरन्तर पर्यवेक्षक हों ॥ ५७ ॥

अहं युष्मान् समाश्रित्य तपोनिर्धूतकल्मषान् ।
अनुगृहीतः पितृभिर्भविष्यामि सुनिर्वृतः ॥ ५८ ॥

आप तप करते करते पापशून्य हो गए हैं। अतः आपका आश्रय लेने से मैं अपने पितरों की कृपा का पात्र बन सकूँगा और अपने यज्ञ को सुसम्पन्न कर सकूँगा ॥ ५८ ॥

तदागन्तव्यमनिशं भवद्भिरिह सङ्गतैः ।
अगस्त्याद्यास्तु तच्छ्रुत्वा ऋषयः संशितव्रताः ॥ ५९ ॥

यज्ञकाल में आप सब लोग मिल कर यहाँ पधारियेगा। व्रतधारी अगस्त्यादि ऋषि लोग यह सुन कर ॥ ५९ ॥

---

[1] आगतः—वनादागतः इति ॥ (गो०) २—संशितव्रताः—तीक्ष्णव्रतिनः । गो०

एवमस्त्विति तं प्रोच्य प्रयातुमुपचक्रमुः ।
एवमुक्त्वा गताः सर्वे ऋषयस्ते यथागतम् ॥ ६० ॥

और तथास्तु—ऐसा ही करेंगे, श्रीरामचन्द्रजी से कह कर, अपने अपने आश्रमों को चले गए अथवा जहाँ से आए थे वहाँ चले गए ॥ ६० ॥

राघवश्च तमेवार्थं चिन्तयामास विस्मितः ।
ततोऽस्तं भास्करे याते विसृज्य नृपवानरान् ॥ ६१ ॥
सन्ध्यामुपास्य विधिवत्तदा नरवरोत्तमः ।
प्रवृत्तायां रजन्यां तु सोन्तःपुरचरोऽभवत् ॥ ६२ ॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

उनके चले जाने पर श्रीरामचन्द्र जी महाराज अगस्त्य जी की कही बातों को स्मरण कर कर के, आश्चर्य करने लगे। तदनन्तर सूर्य के अस्त होने पर नृपों और वानरों को विदा कर, श्रीरामचन्द्र जीने विधिवत् सन्ध्योपासन किया। तदनन्तर नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने रात्रिसुख प्राप्त करने के लिए अन्तःपुर में गमन किया॥ ६१ ॥ ६२ ॥

उत्तरकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❀:—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—:०:—

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे धर्मेण विदितात्मनि ।
व्यतीता या निशा पूर्वा पौराणां हर्षवर्धिनी ॥ १ ॥

जगत्प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक की यह पहली ही रात थी, जो पुरवासियों का हर्ष बढ़ाने वाली थी, किन्तु वह रात भी बीत गई॥ १ ॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां प्रातर्नृपतिबोधकाः ।
बन्दिनः समुपातिष्ठन् सौम्या नृपतिवेश्मनि ॥ २ ॥

उस रात के बीत जाने पर राजा को जगाने वाले बंदीगण जो सौम्यमूर्ति थे, राजभवन में आ उपस्थित हुए ॥ २ ॥

ते [1]रक्तकण्ठिनः सर्वे किन्नरा इव शिक्षिताः ।
तुष्टुवुर्नृपतिं वीरं यथावत्संप्रहर्षिणः ॥ ३ ॥

किन्नरों की तरह (संगीत की) शिक्षा प्राप्त और (नैसर्गिक) मधुरकण्ठ वाले वे गायक, वीरश्रेष्ठ महाराज को हर्षित कर, उनका स्तव करने लगे ॥ ३ ॥

वीर सौम्य प्रबुध्यस्व कौसल्याप्रीतिवर्धन ।
जगद्धि सर्वं स्वपिति त्वयि सुप्ते नराधिप ॥ ४ ॥

उन्होंने इस प्रकार गान किया—हे वीर! हे सौम्य हे कौसल्या का आनन्द बढाने वाले! तुम्हारे सोने से सब जगत निद्रित रहता है, अतः तुम अब जागो ॥ ४ ।

विक्रमस्ते यथा विष्णो रूपं चैवाश्विनोरिव ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यः प्रजापतिसमो ह्यसि ॥ ५ ॥

तुम भगवान् विष्णु के तुल्य पराक्रमी, अश्विनीकुमारों की तरह रूपवान, बृहस्पति के समान बुद्धिमान् और प्रजापति के समान प्रजापालक हो ॥ ५ ॥

क्षमा ते पृथिवीतुल्या तेजसा भास्करोपमः ।
वेगस्ते वायुना तुल्यो गाम्भीर्यमुदधेरिव ॥ ६ ॥

तुममें समुद्र के समान गाम्भीर्य, पृथिवी के समान क्षमा, सूर्य के समान तेज और पवन के समान वेग है ॥ ६ ॥

---

[1] रक्तकण्ठिनः—मधुरकण्ठाः । रा०

अप्रकम्प्यो यथा स्थाणुश्चन्द्रे सौम्यत्वमीदृशम् ।
नेदृशाः पार्थिवाः पूर्वं भवितारो नराधिप ॥ ७ ॥

आपमें शिव की तरह अचलता है और चन्द्रमा की तरह सौम्यता है। हे नरनाथ ! आपके समान न तो कोई राजा हुआ और न आगे कोई होगा ॥ ७ ॥

यथा त्वमसि दुर्धर्षो धर्मनित्यः प्रजाहितः ।
न त्वां जहाति कीर्तिश्च लक्ष्मीश्च पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम जैसे दुर्धर्ष हो, वैसे ही सदा धर्मपरायण हो कर प्रजा के हित में तत्पर रहा करते हो। इसीसे तुमको कीर्ति और लक्ष्मी नहीं त्यागती ॥ ८ ॥

श्रीश्च धर्मश्च काकुत्स्थ त्वयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
एताश्चान्याश्च मधुरा बन्दिभिः परिकीर्तिताः ॥ ९ ॥

हे काकुत्स्थ ! तुममें धर्म और लक्ष्मी सदा स्थिर रहती है [अर्थात् तुम धार्मिक हो अतः तुम सब प्रकार से धनधान्य से भरे पूरे हो] वंदीजनों ने इस प्रकार तथा अन्य बहु प्रकार की स्तुति मधुर कण्ठ से की ॥ ९ ॥

सूताश्च संस्तवैर्दिव्यैर्बोधयन्ति स्म राघवम् ।
स्तुतिभिः स्तूयमानाभिः प्रत्यबुध्यत राघवः ॥ १० ॥

जब वंदीजनों ने दिव्य स्तुतियाँ कर के, श्रीरामचन्द्र जी को जगाया, तब वे स्तुति किए जाने पर जागे ॥ १० ॥

स तद्विहाय शयनं पाण्डुराच्छादनास्तृतम् ।
उत्तस्थौ नागशयनाद्धरिर्नारायणो यथा ॥ ११ ॥

और अपना स्वच्छ बिछौना छोड़ ऐसे उठ बैठे मानों शेष पर से श्रीमन्नारायण उठे हों ॥ ११ ॥

तमुत्थितं महात्मानं प्रह्वाः प्राञ्जलयो नराः ।
सलिलं भाजनैः शुभ्रैरुपतस्थुः सहस्रशः ॥ १२ ॥

उस समय हज़ारों नौकर चाकर नम्रभाव से हाथ जोड़े खड़े थे और कितने ही स्वच्छपात्रों में जल भरे हुए खड़े थे ॥ १२ ॥

कृतोदकः शुचिर्भूत्वा काले हुतहुताशनः ।
देवागारं जगामाशु पुण्यमिक्ष्वाकुसेवितम् ॥ १३ ॥

उस जलसे महाराज ने नित्य कृत्य किए । तदनन्तर पवित्र हो अग्नि में हवन किया । फिर वे उस देवालय में पधारे, जहाँ समस्त इक्ष्वाकुवंशीय जाया करते थे ॥ १३ ॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में देवागार शब्द आने से मूर्ति पूजा का उस काल में प्रचलन पाया जाता है । यह ध्यान देने की एक बात है]

तत्र देवान् पितॄन् विप्रानर्चयित्वा यथाविधि ।
बाह्यकक्षान्तरं रामो निर्जगाम जनैर्वृतः ॥ १४ ॥

वहाँ देवता, पितर, और ब्राह्मणों का यथोचित अथवा विधिवत् पूजन कर, वे साथियों के साथ बाहर के चौक में (या ड्योढ़ी पर) गए ॥ १४ ॥

उपतस्थुर्महात्मानो मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ १५ ॥
क्षत्रियाश्च महात्मानो नाना जनपदेश्वराः ।
रामस्योपाविशन् पार्श्वे शक्रस्येव यथामराः ॥ १६ ॥

वहाँ पर महात्मा मंत्रिगण तथा वसिष्ठादि अग्नितुल्य तेजस्वी पुरोहित एवं देशदेशान्तरों के राजा रईस, श्रीरामचन्द्र जी के पास उसी प्रकार आकर उपस्थित हुए जिस प्रकार इन्द्र के पास देवता आते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

भरतो लक्ष्मणश्चात्र शत्रुघ्नश्च महायशाः ।
उपासांचक्रिरे हृष्टा वेदास्त्रय इवाध्वरम् ॥ १७ ॥

महायशस्वी भरत जी लक्ष्मणजी शत्रुघ्न जी भी श्रीरामचन्द्र जी की सेवा में वैसे ही तत्पर थे, जैसे तीनों वेद (ऋग्, यजु और साम) यज्ञ में उपस्थित रहते हैं ॥ १७ ॥

याताः प्राञ्जलयो भूत्वा किङ्करा मुदिताननाः ।
मुदिता नाम पार्श्वस्था बहवः समुपाविशन् ॥ १८ ॥

हर्षित और प्रसन्नवदन बहुत से सेवक हाथ जोड़े महाराज श्रीरामचन्द्र जी की सेवा के लिए बगल में आ खड़े हुए ॥ १८ ॥

वानराश्च महावीर्या विंशतिः कामरूपिणः ।
सुग्रीवप्रमुखा राममुपासन्ते महौजसः ॥ १९ ॥

महापराक्रमी और इच्छानुसार रूप धारण कर लेने वाले सुग्रीवादि*बीस वानर श्रीरामचन्द्रजी के निकट आ बैठे ॥१९॥

---

* कतकटीकाकार के मतानुसार बीस मुख्य वानरों के नाम ये हैं —
१ सुग्रीव, २ अंगद, ३ हनुमान, ४ जाम्बवान, ५ सुषेण, ६ तार ७ नील, ८ नल, ९ मैंद, १० द्विविद, ११ कुमुद, १२ शरभ, १३ शतबलि, १४ गन्धमादन, १५ गज, १६ गवाक्ष, १७ गवय १८ धूम्र, १९ रम्भ, २० ज्योतिर्मुख ।

विभीषणश्च रक्षोभिश्चतुर्भिः परिवारितः ।
उपासते महात्मानं धनेशमिव गुह्यकः ॥ २० ॥

फिर चार राक्षसों के साथ श्रीमान् विभीषण भी वहीं आ बैठे, मानों कुबेर के पास गुह्यक लोग बैठे हों ॥ २० ॥

तथा निगमवृद्धाश्च कुलीना ये च मानवाः ।
शिरसा वन्द्य राजानमुपासन्ते विचक्षणाः ॥ २१ ॥

तदनन्तर (नगर के बड़े बड़े) सेठ साहूकार, वृद्धजन और कुलीनजन (मिलने के लिए) आए। वे महाराज को झुक-झुक कर प्रणाम करके, यथोचित स्थानों पर बैठ गए ॥ २१ ॥

तथा परिवृतो राजा श्रीमद्भिर्ऋषिभिर्वरैः ।
राजभिश्च महावीर्यैर्वानरैश्च सराक्षसैः ॥ २२ ॥
यथा देवेश्वरो नित्यमृषिभिः समुपास्यते ।
अधिकस्तेन रूपेण सहस्राक्षाद्विरोचते ॥ २३ ॥

उस समय श्रीमान् ऋषियों, महापराक्रमी राजाओं, वानरों और राक्षसों के बीच बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी, वैसे ही शोभायमान हुए; जैसे ऋषियों द्वारा सदा इन्द्र शोभायमान हुआ करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि उस समय श्रीरामचन्द्र जी की शोभा इन्द्र से भी बढ़ कर देख पड़ती थी ॥ २२ ॥ २३ ॥

तेषां समुपविष्टानां तास्ताः सुमधुराः कथाः ।
कथ्यन्ते धर्मसंयुक्ताः पुराणैर्महात्मभिः ॥ २४ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

उस समय पुराणवेत्ता महात्मा लोग वहाँ उपस्थित जनों को कर्णमधुर धर्मकथाएँ सुनाने लगे ॥ २४ ॥

उत्तरकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

[टिप्पणी१—अधिकमतानुसार आगे के पाँच सर्गप्रक्षिप्त हैं। क्योंकि पूर्वसर्ग में अगस्त्य का विदा होना लिख कर भी, पुनः उनके साथ, आगे के सर्गों में, श्रीरामचन्द्र जी का कथोपकथन होना असङ्गत है। कई एक टीकाकारों ने इन सर्गों पर व्याख्या भी नहीं की।]

[टिप्पणी२—इस श्लोक में "पुराणज्ञैः" देख, कहना पड़ता है कि रामायण काल में भी पुराण प्रचलित थे।]

—❀—

प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः

—:o:—

एतच्छ्रुत्वा तु निखिलं राघवोऽगस्त्यमब्रवीत् ।
य एषऋक्षरजानाम वालिसुग्रीवयोः पिता ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी यह समस्त वृत्तान्त सुन कर, फिर भी अगस्त्य जी से बोले—हे भगवन्! आपने वालि एवं सुग्रीव के पिता का नाम तो ऋक्षराज बतलाया ॥ १ ॥

जननी का च भवनं सा त्वया परिकीर्तिता ।
वालिसुग्रीवयोश्चापि नाम्नी केन हेतुना ॥ २ ॥

अब तुम बतलाओ कि, इनकी माता का नाम क्या था? वे कहाँ की रहने वाली थीं? और यह भी बतलाओ कि, इनके वालि और सुग्रीव नाम पड़ने का कारण क्या है? ॥२॥

एतद्ब्रह्मन् समाचक्ष्व कौतूहलमिदं हि नः ।
स प्रोक्तो राघवेणैवमगस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥

ये सब बातें तुम मुझे समझा कर कहो। क्योंकि ये सब बातें जानने के लिए मुझे बड़ा कौतूहल है। श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार पूछने पर अगस्त्य जी कहने लगे ॥ ३ ॥

शृणु राम कथामेतां यथापूर्वं समासतः।
नारदः कथयामास ममाश्रममुपागतः ॥ ४ ॥

हे राम! पूर्वकाल में नारद जी ने मेरे आश्रम में पधार कर, जैसा मुझसे कहा था, वैसा ही मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ। सुनो ॥ ४ ॥

कदाचिदटमानोऽसावतिथिस्त्वमुपागतः।
अर्चितस्तु यथान्यायं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ५ ॥

एक दिन घूमते घामते धर्मात्मा नारद जी मेरे आश्रम में आ मेरे अतिथि हुए। मैंने उनका यथाविधि सत्कार किया। ५॥

सुखासीनः कथामेतां मया पृष्टः स कौतुकात्।
कथयामास धर्मात्मा महर्षे श्रूयतामिति ॥ ६ ॥

जब वे सुख से आसन पर विराजमान हो गए; तब मैंने कौतूहलवश, उनसे यही बात पूछी थी। [मेरे पूछने पर) धर्मात्मा ने कहा, हे महर्षे! सुनो ॥ ६ ॥

मेरुर्नगवरः श्रीमज्जाम्बूनदमयः शुभः।
तस्य यन्मध्यमं शृङ्गं सर्वदेवतपूजितम् ॥ ७ ॥

मेरु नाम का एक पहाड़ है, जो पर्वतों में श्रेष्ठ एवं सुन्दर है। वह सुवर्णमय है और सुन्दरता की तो वह खानि ही है। इसके बीच वाले शृङ्ग को देवता नित्य सम्मान की दृष्टि से देखते हैं ॥ ७ ॥

तस्मिन् दिव्या सभा रम्या ब्रह्मणः शतयोजना ।
तस्यामास्ते सदा देवः पद्मयोनिश्चतुर्मुखः ॥ ८ ॥

क्योंकि उसी शिखर पर ब्रह्मा जी का शतयोजन विस्तीर्ण रमणीय दिव्य सभाभवन बना हुआ है। चतुर्मुख ब्रह्मा जी, उसी में सदा विराजमान रहते हैं ॥ ८ ॥

योगमभ्यसतस्तस्य नेत्राभ्यां यदसुस्रुवत् ।
तद्गृहीतं भगवता पाणिना चर्चितं तु तत् ॥ ९ ॥

एक दिन वे वहाँ बैठे बैठे योगाभ्यास कर रहे थे कि, उनके नेत्रों से अश्रुबिन्दु निकल पड़े। ब्रह्मा जी ने उन अश्रु-बिन्दुओं को हाथ से पोंछ कर, ॥ ९ ॥

निक्षिप्तमात्रं तद्भूमौ ब्रह्मणा लोककर्तृणा ।
तस्मिन्नश्रुकणे राम वानरः सम्बभूव ह ॥ १० ॥

पृथिवी पर फेंक दिया। लोककर्त्ता ब्रह्मा के हाथ से उन अश्रुबिन्दुओं के पृथिवी पर गिरते ही, राम एक वानर उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥

उत्पन्नमात्रस्तु तदा वानरश्च नरोत्तम ।
समाश्वास्य प्रियैर्वाक्यैरुक्तः किल महात्मना ॥ ११ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! उस वानर के उत्पन्न होते ही महात्मा पितामह ब्रह्मा जी ने प्रियवाक्यों से उसे समझाया और उससे कहा ॥ ११ ॥

पश्य शैलं सुविस्तीर्णं सुरैरध्युषितं सदा ।
तस्मिन् रम्ये गिरिवरे बहुमूलफलाशनः ॥ १२ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! देखो, इस बहुविस्तृत पर्वत पर देवतागण रहा करते हैं। तुम इस रम्य पर्वतश्रेष्ठ पर अनेक फल मूल खा कर, ॥ १२ ॥

ममान्तिकचरो नित्यं भव वानरपुङ्गव ।
कञ्चित्कालमिहास्व त्वं ततः श्रेयो भविष्यति ॥ १३ ॥

सदैव मेरे पास रहा करो । कुछ दिनों यहाँ रहने से तुम्हारा कल्याण होगा ॥ १३ ॥

एवमुक्तः स चैतेन ब्रह्मणा वानरोत्तमः ।
प्रणम्य शिरसा पादौ देवदेवस्य राघव ॥ १४ ॥

हे राम ! जब ब्रह्मा जी ने उस वानर से इस प्रकार कहा, तब उस वानरश्रेष्ठ ने सीस नवा, उन देवदेव ब्रह्मदेव के चरणों को प्रणाम किया ॥ १४ ॥

उक्तवाँल्लोककर्तारमादिदेवं जगत्पतिम् ।
यथाज्ञापयसे देव स्थितोऽहं तव शासने ॥ १५ ॥

और आदिदेव जगत्पति लोककर्त्ता ब्रह्मा जी से कहा—हे देव ! तुम जैसी आज्ञा देते हो; मैं वैसा ही करूँगा । मैं तुम्हारे आज्ञाधीन रहूँगा ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा हरिर्देवं ययौ हृष्टमनास्तदा ।
स तदा द्रुमखण्डेषु फलपुष्पवनेषु च ॥ १६ ॥
व्रजन् प्रतिबलः शीघ्रं वने फलकृताशनः ।
चिन्वन् मधूनि मख्यानि चिन्वन् पुष्पाण्यनेकशः ॥ १७ ॥

इस प्रकार ब्रह्मा जी से कह कर, वह वानर प्रसन्नतापूर्वक, फलफूलों से भरे पूरे वनों में जा और वहाँ चुन चुन कर मीठे फलों और फूलों को खा खा कर शीघ्र ब्रह्मा जी के [अथवा देवताओं के] समान बलवान हो गया ॥ १६ ॥ १७ ॥

दिनेदिने च सायाह्ने ब्रह्मणोऽन्तिकमागमत् ।
गृहीत्वा राम मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ॥१८॥

वह वानर प्रतिदिन सन्ध्या के समय ब्रह्मा जी के पास आ जाया करता था। हे राम! वह उत्तम फल फूल ला कर, ॥१८॥

ब्रह्मणो देवदेवस्य पादमूले न्यवेदयत् ।
एवं तस्य गतः कालो बहु पर्यटतो गिरिम् ॥ १९ ॥

देवदेव ब्रह्मा जी के चरणकमलों में चढ़ा दिया करता था। इस प्रकार उस पर्वत पर घूमते फिरते उसे बहुत दिन हो गए ॥ १९ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य समतीतस्य राघव ।
ऋक्षराड् वानरश्रेष्ठस्तृपया परिपीडितः ॥ २० ॥

हे राम! तदनन्तर कुछ काल बीतने पर, वानरश्रेष्ठ ऋक्ष-राज प्यास से अत्यन्त विकल हो कर ॥ २० ॥

उत्तरं मेरुशिखरं गतस्तत्र च दृष्टवान् ।
नानाविहगसंघुष्टं प्रसन्नसलिलं सरः ॥ २१ ॥

मेरुपर्वत के उत्तर शिखर पर चला गया। वहाँ से उसने नाना प्रकार के पक्षियों के शब्दों से गुञ्जायमान और स्वच्छ जल से पूर्ण एक तालाब देखा ॥ २१ ॥

चलत्केसरमात्मानं कृत्वा तस्य तटे स्थितः ।
ददर्श तस्मिन् सरसि वक्त्रच्छायामथात्मनः ॥ २२ ॥

तब वह हर्षित हो और अपनी गर्दन के बालों को हिलाता हुआ उसके किनारे पर चला गया। उस समय दैववश उसे पानी में अपने मुख की परछाईं देख पड़ी ॥ २२ ॥

कोऽयमस्मिन् मम रिपुर्वसत्यन्तर्जले महान् ।
रूपं चान्तर्गतं तत्र वीक्ष्य तत्पश्यतो हरिः ॥ २३ ॥

उसे [अपने मुख की परछाईं को] देख, वह सोचने लगा कि, इस पानी में यह मेरा बड़ा शत्रु बन कर कौन रहता है। इस प्रकार वानरश्रेष्ठ ने जल में वह रूप देख कर ॥ २३ ॥

क्रोधाविष्टमना ह्येष नियतं मावमन्यते ।
तदस्य दुष्टभावस्य पुष्कलं कुमतेर्गृहम् ॥ २४ ॥

मन ही मन कहा कि, यह क्रुद्ध सा रह कर, मेरा सदा अपमान किया करता है। अतः इस दुरात्मा दुष्ट का यह सुन्दर भवन मैं नष्ट कर डालूँगा ॥ २४ ॥

एवं संचिन्त्य मनसा स वै वानरचापलात् ।
आप्लुत्य चापतत्तस्मिन् ह्रदे वानरसत्तमः ॥ २५ ॥

मन ही मन इस प्रकार की ठान ठान कर वह वानर चपलतावश छलाँग मार उस तालाब में कूद पड़ा ॥ २५ ॥

उत्प्लुत्य तस्मात् स ह्रदादुत्थितः प्लवगः पुनः ।
तस्मिन्नेव क्षणे राम स्त्रीत्वं प्राप स वानरः ॥ २६ ॥

फिर एक छलाँग मार कर उस तालाब के बाहर निकल आया। हे राम ! उस तालाब से निकलते ही वह वानर, स्त्री हो गया ॥ २६ ॥

मनोज्ञरूपा सा नारी लावण्यललिता शुभा ।
विस्तीर्णजघना सुभ्रूर्नीलकुन्तलमूर्धजा ॥ २७ ॥
मुग्धसस्मितवक्त्रा च पीनस्तनतटा शुभा ।
ह्रदतीरे च सा भाति ऋजुयष्टिलता यथा ॥ २८ ॥

वह स्त्री बड़ी लावण्यवती थी। मोटी मोटी दो उसकी जंघाएँ थीं और सुन्दर दोनों भौंहें थीं। उसके बाल काले और घुँघराले थे तथा उसका हँसमुख मनोहर चेहरा था। उसके कुचयुगल मोटे थे। वह बड़ी रूपवती थी और बड़ी अच्छी मालूम पड़ती थी। उस तालाब के किनारे वह एक सीधी एवं लंबी लता की तरह, देख पड़ती थी ॥ २७ ॥ २८ ॥

त्रैलोक्यसुन्दरी कान्ता सर्वचित्तप्रमाथिनी ।
लक्ष्मीव पद्मरहिता चन्द्रज्योत्स्नेव निर्मला ॥ २९ ॥

त्रिलोकसुन्दरी यह रमणी सब के चित्त को मोहित करने वाली, कमलरहित लक्ष्मी के समान अथवा चन्द्रमा की चाँदनी के समान निर्मल जान पड़ती थी ॥ २९ ॥

रूपेणाप्यभवत् सा तु श्रियं देवीमुमा यथा ।
द्योतयन्ती दिशः सर्वास्तथाभूत् सा वराङ्गना ॥ ३० ॥

अथवा लक्ष्मी पार्वती के समान वह सुन्दरी थी। वह वरांगना, उस तालाब के तीर पर खड़ी खड़ी अपनी प्रभा से समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रही थी ॥ ३० ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवो निवृत्तः सुरनायकः ।
पादावुपास्य देवस्य ब्रह्मणस्तेन वै पथा ॥ ३१ ॥

इतने में ब्रह्मा जी को प्रणाम कर, सुरनायक इन्द्र उसी ओर से निकले ॥ ३१ ॥

तस्यामेव च वेलायामादित्योऽपि परिभ्रमन् ।
तस्मिन्नेव पदे सोऽभूद्यस्मिन् सा तनुमध्यमा ॥३२॥

साथ ही घूमते हुए श्रीसूर्यदेव भी वहीं जा पहुँचे, जहाँ वह पतली कमर वाली सुन्दरी वामा खड़ी थी ॥ ३२ ॥

युगपत्सा सदा दृष्टा देवाभ्यां सुरसुन्दरी ।
कन्दर्पवशगौ तौ तु दृष्ट्वा तां सम्बभूवतुः ॥ ३३ ॥

उस समय वह सुन्दरी दो देवताओं की दृष्टि में पड़ी और वे दोनों उसे देखते ही कामातुर हो गए ॥ ३३ ॥

ततः क्षुभितसर्वाङ्गौ सुरेन्द्रौ पन्नगाविव ।
तद्रूपमद्भुतं दृष्ट्वा त्याजितौ धैर्यमात्मनः ॥ ३४ ॥

उसका अद्भुत रूप निहार कर, उन दोनों देवताश्रेष्ठों का धैर्य जाता रहा। दोनों देवताओं के समस्त अंग विकल हो गए और वे साँप की तरह तड़फड़ाने लगे ॥ ३४ ॥

ततस्तस्यां सुरेन्द्रेण स्कन्नं शिरसि पातितम् ।
अनासाद्यैव तां नारीं सन्निवृत्तमथाभवत् ॥ ३५ ॥

उस स्त्री के समीप न पहुँच पाने के पूर्व ही इन्द्र का वीर्य निकल पड़ा और वह उस सुन्दरी के सिर (के बालों) पर गिरा ॥ ३५ ॥

ततः सा वानरपतिं जज्ञे वानरमीश्वरम् ।
अमोघरेतसस्तस्य वासवस्य महात्मनः ॥ ३६ ॥

किन्तु इन्द्र का वीर्य अमोघ [कभी निष्फल जाने वाला न] था, अतः निष्फल कैसे जाता। अतः उससे जो वानरश्रेष्ठ उत्पन्न हुआ वह वानरों का राजा हुआ ॥ ३६ ॥

वालेषु पतितं बीजं वाली नाम बभूव सः ।
भास्करेणापि तस्यां वै कन्दर्पवशवर्तिना ॥ ३७ ॥

स्त्री के बालों पर इन्द्र का वीर्य गिरने और उससे उत्पन्न होने के कारण, उस बालक का नाम बालि पड़ा। इसी बीच में सूर्य ने कामातुर हो ॥ ३७ ॥

बीजं निषिक्तं ग्रीवायां विधानमनुवर्तत ।
तेनापि सा वरतनुर्नोक्ता किञ्चिद्वचः शुभम् ॥ ३८ ॥

उस स्त्री की गर्दन पर अपना वीर्य डाला, परन्तु उस सुन्दरी स्त्री ने ऐसा होने पर भी कुछ भी शुभ वचन न कहे॥३८॥

निवृत्तमदनश्चाथ सूर्योऽपि समपद्यत ।
ग्रीवायां पतितं बीजं सुग्रीवः समजायत ॥ ३९ ॥

सूर्य काम की पीड़ा से मुक्त हुए और गरदन पर गिरे हुए वीर्य से सुग्रीव की उत्पत्ति हुई ॥ ३९ ॥

एवमुत्पाद्य तौ वीरौ वानरेन्द्रौ महाबलौ ।
दत्त्वा तु काञ्चनीं मालां वानरेन्द्रस्य वालिनः ॥४०॥

इस प्रकार महाबली दोनों वीर वन्दरों को उत्पन्न कर और वानरेन्द्र वालि को काञ्चन की माला दे ॥ ४० ॥

अक्षय्यां गुणसम्पूर्णां शक्रस्तु त्रिदिवं ययौ ।
सूर्योऽपि स्वसुतस्यैव निरूप्य पवनात्मजम् ॥ ४१ ॥

इन्द्र स्वर्ग को चले गए। यह माला सर्वगुणसम्पन्न और कभी नष्ट न होने वाली थी। सूर्यनारायण भी इस प्रकार महाबली वीर सुग्रीव को उत्पन्न कर और पवननन्दन हनुमान को ॥ ४१ ॥

कृत्येषु व्यवसायेषु जगाम सविताम्बरम् ।
तस्यां निशायां व्युष्टायामुदिते च दिवाकरे ॥ ४२ ॥

अपने पुत्र के कार्यों और व्यवसाय में नियुक्त कर आकाशमार्ग में हो कर, चले गए। हे राजन्! उस रात के बीत जाने और सूर्य के उदय होने पर ॥ ४२ ॥

स तद्वानररूपं तु प्रतिपेदे पुनर्नृप ।
स एव वानरो भुत्वा पुत्रौ स्वस्य प्लवङ्गमौ ॥ ४३ ॥

हे नृप ! ऋक्षराज पुनः वानर के वानर हो गए। इस प्रकार यह वानर ऋक्षराज अपने दो वानर पुत्रों को ॥ ४३ ॥

पिङ्गेक्षणौ हरिवरौ वलिनौ कामरूपिणौ ।
मधून्यमृतकल्पानि पायितौ तेन तौ तदा ॥ ४४ ॥

जिनके नेत्र पीले थे और जो महाबली एवं इच्छानुसार रूप धारण करने वाले थे, अमृत के समान मधु पिलाने लगे ॥ ४४ ॥

गृह्य ऋक्षरजास्तौ तु ब्रह्मणोऽन्तिकमागमत् ।
दृष्ट्वर्क्षरजसं पुत्रं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ४५ ॥

पुनः वानर होकर ऋक्षराज अपने उन दो वानरपुत्रों को ले कर ब्रह्मा जी के निकट गए। लोकपितामह ब्रह्मा जी ने भी अपने पुत्र ऋक्षराज को देख ॥ ४५ ॥

वहुशः सान्त्वयामास पुत्राभ्यां सहितं हरिम् ।
सान्त्वयित्वा ततः पश्चाद्देवदूतमथादिशत् ॥ ४६ ॥

दोनों बच्चों को अपने साथ लिए हुए ऋक्षराज को ब्रह्मा जी ने अनेक प्रकार समझा बुझा कर, देवदूत को यह आज्ञा दी ॥ ४६ ॥

गच्छ मद्वचनाद्दूत किष्किन्धां नाम वै शुभाम् ।
सा ह्यस्य गुणसम्पन्ना महती च पुरी शुभा ॥ ४७ ॥

कि, हे दूत ! मेरी आज्ञा से तुम ऋक्षराज को साथ लेकर परमसुन्दर नगरी किष्किन्धा में जाओ। उस पुरी में सब प्रकार की सुविधाएँ हैं और वह इनके रहने योग्य है ॥ ४७ ॥

तत्र वानरयूथानि सुवहूनि वसन्ति च ।
वहुरत्नसमाकीर्णा वानरैः कामरूपिभिः ॥ ४८ ॥

वहाँ पर अनेक वानरयूथ रहते हैं। उसमें और भी कामरूपी वानर वास करते हैं ॥ ४८ ॥

पुण्या पुण्यवती दुर्गा चातुर्वर्ण्यपुरस्कृता ।
विश्वकर्मकृता दिव्या मन्नियोगाच्च शोभना ॥ ४९ ॥

वह अनेक रत्नों से भरी पूरी है और दुर्गम है । चारों वर्ण के लोग उनमें रहते हैं । बड़ी शुद्ध है, सुन्दर है और व्यापार के लिए प्रसिद्ध है । अथवा उसमें दुकानें भी हैं । मेरी आज्ञा से विश्वकर्मा ने उसकी रचना की है ॥ ४९ ॥

तत्रर्क्षरजसं दृष्ट्वा सपुत्रं वानरर्षभम् ।
यूथपालान् समाहूय यांश्चाप्यान् प्राकृतान् हरीन् ॥५०॥

तुम उसी पुरी में ऋक्षराज को इनके पुत्रों के सहित वसा आओ । तुम यूथपति वानरों तथा अन्य साधारण वानरों को एकत्र कर ॥ ५० ॥

तेषां सम्भाव्य सर्वेषां मदीयं जनसंसदि ।
अभिषेचय राजानमारोप्य महदासने ॥ ५१ ॥

और उनका आदर मान कर सभा के बीच उन्हें राज-सिंहासन पर बैठा कर, इनको राजतिलक कर देना ॥ ५१ ॥

दृष्टमात्राश्च ते सर्वे वानरेण च धीमता ।
अस्यर्क्षरजसो नित्यं भविष्यन्ति वशानुगाः ॥ ५२ ॥

इन बुद्धिमान वानरश्रेष्ठ को देखते ही वे सब वानर सदा के लिए इनके वश में हो, इनके अनुचर हो जायँगे ॥ ५२ ॥

इत्येवमुक्ते वचने ब्रह्मणा तं हरीश्वरम् ।
पुरतः कृत्य दूतोऽसौ प्रययौ तां पुरीं शुभाम् ॥ ५३ ॥

ब्रह्मा की आज्ञा पा कर; ऋक्षराज को अपने साथ ले, वह देवदूत परम रम्य किष्किन्धापुरी को गया ॥ ५३ ॥

स प्रविश्यानिलगतिस्तां गुहां वानरोत्तमः ।
स्थापयामास राजानं पितामहनियोगतः ॥ ५४ ॥

वह दूत पवन के समान वेग से पर्वत की घाटी में बसी हुई किष्किन्धा नगरी में पहुँचा और ब्रह्मा जी की आज्ञा के अनुसार उनको राजसिंहासन पर बैठा दिया ॥ ५४ ॥

राज्याभिषेकविधिना स्नातोऽथाभ्यार्चितस्तथा ।
स बद्धमुकुटः श्रीमानभिषिक्तः स्वलंकृतः ॥ ५५ ॥

श्रीमान् ऋक्षराज राज्याभिषेक की विधि के अनुसार स्नान कर, सिर पर मुकुट धारण कर तथा उत्तम गहने पहन राजसिंहासन पर बैठे ॥ ५५ ॥

आज्ञापयामास हरीन् सर्वान् मुदितमानसः ।
सप्तद्वीपसमुद्रायां पृथिव्यां ये प्लवङ्गमाः ॥ ५६ ॥

ऋक्षराज सब प्रकार से सम्मानित हो और हर्षित चित्त से समुद्र सहित सप्तद्वीपमयी पृथिवी पर जितने वानर थे, उन सब पर शासन करने लगे ॥ ५६ ॥

वालिसुग्रीवयोरेष एव चर्क्षरजः पिता ।
जननी चैव तु हरिरित्येतद्भद्रमस्तु ते ॥ ५७ ॥

यह ऋक्षराज ही वालि और सुग्रीव के पिता और यही इनकी माता थे। बस यही इनका वृत्तान्त है। तुम्हारा मङ्गल हो ॥ ५७ ॥

यश्चैतच्छ्रावयेद्विद्वान् यश्चैतच्छृणुयान्नरः ।
सिध्यन्ति तस्य कार्यार्था मनसो हर्षवर्धनाः ॥ ५८ ॥

जो विद्वान इस वृत्तान्त को स्वयं सुनता या दूसरों को सुनाता है, उनका मन हर्षित होता है और उसके सब कार्य सिद्ध होते हैं ॥ ५८ ॥

एतच्च सर्वं कथितं मया विभो
प्रविस्तरेणेह यथार्थतस्तत् ।
उत्पत्तिरेषा रजनीचराणाम्
उक्ता तथैवेह हरीश्वराणाम् ॥ ५९ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः ॥

हे प्रभु ! राक्षसों और वानरों की उत्पत्ति का वृत्तान्त मैंने आपसे जैसा वास्तव में था, विस्तारपूर्वक कहा ॥ ५९ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त पहिला सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः

—:-०-:—

एतां श्रुत्वा कथां दिव्यां पौराणीं राघवस्तदा ।
भ्रातृभिः सहितो वीरो विस्मयं परमं ययौ ॥ १ ॥

वीर श्रीरामचन्द्र जी इस दिव्य पुरातन कथा को सुन अपने भाइयों सहित परम विस्मित हुए ॥ १ ॥

राघवोऽथ ऋषेर्वाक्यं श्रुत्वा वचनमब्रवीत् ।
कथेयं महती पुण्या त्वत् प्रसादाच्छ्रुता मया ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ऋषि अगस्त्य के वचन सुन बोले कि, तुम्हारे अनुग्रह से मैंने यह बड़ी पवित्र अथवा बहुत पुण्य देने वाली कथा सुनी ॥ २ ॥

वृहत्कौतूहले चास्मिन् संवृत्तो मुनिपुङ्गव ।
उत्पत्तिर्यादृशी दिव्या वालिसुग्रीवयोर्द्विज ॥ ३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! इस वालि एवं सुग्रीव की दिव्य उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी कथा को सुन, बड़ा ही आश्चर्य हुआ है ॥ ३ ॥

किं चित्रं मम ब्रह्मर्षे सुरेन्द्रतपनावुभौ ।
जातौ वानरशार्दूलौ बलेन बलिनां वरौ ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मर्षे ! जब वानरश्रेष्ठ वालि सुरनाथ इन्द्र के और कपिश्रेष्ठ सुग्रीव भगवान् भुवनभास्कर के पुत्र हैं, तब ये दोनों सर्वश्रेष्ठ बलवान होंगे ही—इसमें आश्चर्य ही क्या है ॥ ४ ॥

एवमुक्ते तु रामेण कुम्भयोनिरभाषत ।
एवमेतन् महाबाहो वृत्तमासीत् पुरा किल ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन कर, कुंभसम्भव अगस्त्य जी ने कहा—हे महाबाहो ! सचमुच प्राचीन काल में ऐसा ही हुआ था ॥ ५ ॥

अथापरां कथां दिव्यां शृणु राजन् सनातनीम् ।
यदर्थं राम वैदेही रावणेन पुरा हृता ॥ ६ ॥

हे राजन् ! एक और दिव्य एवं पुरातन इतिहास सुनो। हे राम ! रावण ने जिस काम के लिए सीता हरी थी ॥ ६ ॥

तत्तेऽहं कीर्तयिष्यामि समाधिं श्रवणे कुरु ।
पुरा कृतयुगे राम प्रजापतिसुतं प्रभुम् ॥ ७ ॥

अब मैं उसीका वर्णन तुमसे करता हूँ। तुम उसे सावधान हो कर सुनो। हे राम! पूर्व सतयुग में प्रजापति के पुत्र ॥ ७ ॥

सनत्कुमारमासीनं रावणो राक्षसाधिपः।
वपुषा सूर्यसङ्काशं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ८ ॥
विनयावनतो भूत्वा ह्यभिवाद्य कृताञ्जलिः।
उक्तवान् रावणो राम तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ ९ ॥

सूर्य के समान प्रकाशमान शरीरधारी और बड़े सत्यवादी श्रीसनत्कुमार जी से रावण ने विनय-पूवक एवं हाथ जोड़ और प्रणाम कर कहा ॥ ८ ॥ ९ ॥

को ह्यस्मिन् प्रवरो लोके देवानां बलवत्तरः।
यं समाश्रित्य विबुधा जयन्ति समरे रिपून् ॥ १० ॥

हे भगवान्! इस लोक के समस्त देवताओं में सब से अधिक बलवान और सर्वश्रेष्ठ देवता कौन है; जिसके सहारे देवगण अपने शत्रु को जीत लेते हैं ॥ १० ॥

कं यजन्ति द्विजा नित्यं कं ध्यायन्ति च योगिनः।
एतन् मे शंस भगवन् विस्तरेण तपोधन ॥ ११ ॥

हे भगवन्! ब्राह्मण लोग नित्य किसका पूजन और योगी लोग किसका ध्यान किआ करते हैं? हे तपोधन! यह वृत्तान्त मुझसे विस्तार पूर्वक कहिए ॥ ११ ॥

विदित्वा हृद्गतं तस्य ध्यानदृष्टिर्महायशाः।
उवाच रावणं प्रेम्णा श्रूयतामिति पुत्रक ॥ १२ ॥

महायशस्वी ऋषि सनत्कुमार जी ध्यान द्वारा रावण के मन की बात जान कर, उससे प्रीतिपूर्वक बोले—हे वत्स! सुनो ॥ १२ ॥

योे वै भर्ता जगत् कृत्स्नं यस्योत्पत्तिं न विद्महे ।
सुरासुरैर्नतो नित्यं हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ १३ ॥

जो इस सारे जगत् का प्रभु है अर्थात् जो सब का भरण पोषण करता है, जिसकी उत्पत्ति का वृत्तान्त मुझे भी नहीं मालूम और जिसका पूजन क्या सुर और क्या असुर, सभी सदैव किया करते हैं, वह श्रीमन्नारायण स्वामी हैं ॥ १३ ॥

यस्य नाभ्युद्भवो ब्रह्मा विश्वस्य जगतः पतिः ।
येन सर्वमिदं सृष्टं विश्वं स्थावरजङ्गमम् ॥ १४ ॥

उन्हींकी नाभि से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए हैं, वे ही इस संसार के स्वामी हैं। उन्होंने इस स्थावरजङ्गममय संसार की सृष्टि की है ॥ १४ ॥

त समाश्रित्य विबुधा विधिना हरिमध्वरे ।
पिबन्ति ह्यमृतं चैव मानिताश्च यजन्ति तम् ॥ १५ ॥

उन्हीं के आश्रय में रह कर देवता लोग यज्ञ में विधिवत् अमृतपान करते हैं और सम्मान पाते हैं एवं उन्हीं सर्वेश्वर की सेवा किया करते हैं ॥ १५ ॥

पुराणैश्चैव वेदैश्च पञ्चरात्रैस्तथैव च ।
ध्यायन्ति योगिनो नित्यं क्रतुभिश्च यजन्ति तम् ॥ १६ ॥

वेदों, पुराणों और पञ्चरात्रागमों के अनुसार योगी उनका सदैव ध्यान करते और यज्ञों द्वारा उनको सन्तुष्ट करते हैं ॥ १६ ॥

दैत्यदानवरक्षांसि ये चान्ये चामरद्विषः ।
सर्वाञ्जयति संग्रामे सदा सर्वैः स पूज्यते ॥ १७ ॥

जो दैत्य, दानव और राक्षस हैं तथा जो अन्य जीव देवताओं से वैर किआ करते हैं, उन सब को ये ही प्रभु युद्ध में हरा दिआ करते हैं और उनके द्वारा वे पूजित भी होते हैं ॥१७॥

श्रुत्वा महर्षेस्तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।

उवाच प्रणतो भूत्वा पुनरेव महामुनिम् ॥ १८ ॥

राक्षसराज रावण, सनत्कुमार के ये वचन सुन कर, उनको प्रणाम कर उनसे फिर यह वचन बोला ॥ १८ ॥

दैत्यदानवरक्षांसि ये हताः समरेऽरयः ।
कां गतिं प्रतिपद्यन्ते किं च ते हरिणा हताः ॥ १९ ॥

हे महर्षे ! जो दैत्य, दानव और राक्षसादि देवताओं के हाथ से मारे जाते हैं और जो भगवान् हरि के हाथ से मारे जाते हैं, उनको कौनसी गति मिलती है ? ॥ १९ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच महामुनिः ।
दैवतैर्निहता नित्यं प्राप्नुवन्ति दिवः स्थलम् ॥ २० ॥
पुनस्तस्मात्परिभ्रष्टा जायन्ते वसुधातले ।
पूर्वार्जितैः सुखैर्दुःखैर्जायन्ते च म्रियन्ति च ॥ २१ ॥

महामुनि सनत्कुमार जी रावण के वचन सुन कर बोले कि, जो देवताओं के हाथ से मारे जाते हैं, उन्हें स्वर्ग में वास प्राप्त होता है, परन्तु जब उनका पुण्य क्षीण हो जाता है, तब वे स्वर्ग

से भ्रष्ट हो पृथिवी पर पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार पूर्वजन्म में सञ्चित सुख दुःख अर्थात् पुण्य पाप के द्वारा वे जन्म लेते और मरते हैं ॥ २० ॥ २१ ॥

ये ये हताश्चक्रधरेण राजं-
स्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन ।
ते ते गतास्तन्निलयं नरेन्द्राः
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः ॥ २२ ॥

परन्तु हे राजन्! जो चक्रधारी जनार्दन द्वारा मारे जाते हैं, वे श्रेष्ठजन उन्हीं के वैकुण्ठधाम में जाते हैं, अतः उन देवेश नारायण का क्रोध भी वरदान ही के तुल्य है ॥ २२ ॥

श्रुत्वा ततस्तद्वचनं निशाचरः
सनत्कुमारस्य मुखाद्विनिर्गतम् ।
तथा प्रहृष्टः स बभूव विस्मितः
कथं नु यास्यामि हरिं महाहवे ॥ २३ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः

राक्षस दशग्रीव सनत्कुमार के इन वचनों को सुन हर्षित एवं विस्मित हो सोचने लगा कि, मेरा और उन हरि का युद्ध किस प्रकार हो ॥ २३ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः

—:०:—

एवं चिन्तयतस्तस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
पुनरेवापरं वाक्यं व्याजहार महामुनिः ॥ १ ॥

जब वह दुष्ट रावण इस प्रकार मन ही मन चिन्ता करने लगा; तब महर्षि सनत्कुमार जी ने फिर कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

मनसश्चेप्सितं यत्तद्भविष्यति महाहवे ।
सुखी भव महाबाहो कञ्चित्कालमुदीक्षय ॥ २ ॥

हे महाबाहो ! जो तुम्हारे मन में इच्छा है वह समर में अवश्य पूरी होगी। तुम सुखी रहो; (किन्तु अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए) कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करो ॥ २ ॥

एवं श्रुत्वा महाबाहुस्तमृषिं प्रत्युवाच सः ।
कीदृशं लक्षणं तस्य ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ ३ ॥

महर्षि के ये वचन सुन, महावीर रावण उनसे कहने लगा उनकी पहचान क्या है ? सो तुम मुझसे विस्तारपूर्वक कहो ॥ ३ ॥

राक्षसेशवचः श्रुत्वा स मुनिः प्रत्यभाषत ।
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये तव राक्षसपुङ्गव ॥ ४ ॥

महामुनि सनत्कुमार जी राक्षसराज के वचन सुन कर बोले—हे राक्षसनाथ ! सुनो मैं तुमसे सब बातें कहता हूँ ॥ ४ ॥

स हि सर्वगतो देवः सूक्ष्मो व्यक्तः सनातनः
तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ५ ॥

वे सनातनदेव, अव्यक्त हैं, सूक्ष्म हैं और सर्वव्यापक हैं। वे इस स्थावरजङ्गममय सारे जगत में व्याप्त हो रहे हैं॥ ५ ॥

स भूमौ दिवि पाताले पर्वतेषु वनेषु च।
स्थावरेषु च सर्वेषु नदीषु नगरीषु च ॥ ६ ॥

वे भूमि, स्वर्ग, पाताल, वनों, पर्वतों, समस्त स्थावरों, नदियों और नगरों में (सत्तारूप से) सदैव विद्यमान रहते हैं॥ ६ ॥

ओंकारश्चैव सत्यश्च सावित्री पृथिवी च सः।
धराधरधरो देवो ह्यनन्त इति विश्रुतः ॥ ७ ॥

वे ओंकारस्वरूप एव सावित्री स्वरूप हैं और वे ही इस पृथिवी को एवं पर्वतों को धारण किए हुए हैं। वे ही धरणीधर अनन्त के नाम से प्रसिद्ध हैं॥ ७ ॥

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
दिवाकरश्चैव यमश्च सोमः।
स एव कालो ह्यनिलोनलश्च
स ब्रह्मरुद्रेन्द्र स एव चापः ॥ ८ ॥

वे ही दिन, वे ही रात, वे ही दोनों सन्ध्या काल, वे ही सूर्य, वे ही चन्द्र, वे ही यम, वे ही काल, वे ही पवन, वे ही अनल, वे ही ब्रह्मा, वे ही रुद्र, वे ही इन्द्र और वे ही जल हैं॥ ८ ॥

विद्योतति ज्वलति भाति च पाति लोकान्
सृजत्यथ संहरति प्रशास्ति ।
क्रीडां करोत्यव्ययलोकनाथो
विष्णुः पुराणो भवनाशकैकः ॥ ६ ॥

वे ही प्रकाशमान हो कर ज्वाला रूपी शोभा को धारण करते हैं ! वे ही लोकों को वनाते, वे ही संहार करते और वे ही शासन करते हैं। यह संसार उन्हीं का क्रीड़ास्थल है, वे ही विष्णु, वे ही पुराणपुरुष और वे ही एक मात्र (यावत् समस्त दृश्य अदृश्य पदार्थों के) नाशकर्त्ता है ॥ ६ ॥

अथवा बहुनाऽनेन किमुक्तेन दशानन ।
तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १० ॥

हे दशानन ! अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है वे ही चराचरमय तीनों लोकों में व्याप्त हैं ॥ १० ॥

नीलोत्पलदलश्यामः किञ्जल्कारुणवाससा ।
प्रावृट्काले यथा व्योम्नि सतडित्तोयदो यथा ॥ ११ ॥

उनका वर्ण नीले कमल की तरह श्याम है। कमल की पीली केसर जैसे रंग के वस्त्र से वे ऐसे शाभित जान पड़ते हैं, जैसे वर्षा ऋतु में विजली से युक्त मेघ सुहावने लगते हैं ॥ ११ ॥

श्रीमान् मेघवपुः श्यामः शुभः पङ्कजलोचनः ।
श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्ककृतलक्षणः ॥ १२ ॥

इस प्रकार वे मेघ के समान श्याम, कमललोचन, वक्षः स्थल पर श्रीवत्सचिह्न धारण किए हुए, चन्द्रमा की तरह लोचनान्ददायी हैं ॥ १२ ॥

तस्य नित्यं शरीरस्था मेघस्येव शतह्रदाः ।
संग्रामरूपिणी लक्ष्मीर्देहमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

जिस प्रकार बिजली सदा मेघ में बनी रहती है, उसी प्रकार संग्रामरूपिणी श्री उनके शरीर में स्थान किए हुए सदा उनके शरीर को ढके रहती है ॥ १३ ॥

न शक्यः स सुरैर्द्रष्टुं नासुरैर्न च पन्नगैः ।
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति ॥ १४ ॥

क्या देवता, क्या असुर और क्या नाग – किसी में यह शक्ति नहीं कि, उनके कोई दर्शन कर सके । किन्तु उनकी जिसके ऊपर कृपा होती है, वही उनके दर्शन पा सकता है ॥ १४ ॥

न हि यज्ञफलैस्तात न तपोभिस्तु साञ्चितैः ।
शक्यते भगवान् द्रष्टुं न दानेन न चेज्यया ॥ १५ ॥
तद्भक्तैस्तद्गतप्राणैस्तच्चित्तैस्तत्परायणैः ।
शक्यते भगवान् द्रष्टुं ज्ञाननिर्दग्धकिल्बिषैः ॥ १६ ॥

हे तात ! यदि कोई चाहे कि मैं यज्ञ कर के अथवा तप कर के अथवा संयम कर के अथवा विविध प्रकार के दानों को दे कर के अथवा होम कर के उनके दर्शन करूँ; तो वह इन कर्मों से भी उनके दर्शन नहीं पा सकता । उनका तो उनके वे भक्त ही देख सकते हैं, जिनके प्राण और जिनका मन उनमें (अनन्य भाव से) लगा हुआ है, जिनकी वे ही गति हैं और जिनके समस्त पाप ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुके हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

अथवा पृच्छय रक्षेन्द्र यदि तं द्रष्टुमिच्छसि ।
कथयिष्यामि ते सर्वं श्रूयतां यदि रोचते ॥ १७ ॥

यदि तुम उनके दर्शन करना चाहते हो तो मैं कहता हूँ। यदि सुनने की इच्छा हो, तो सुनो ॥ १७ ॥

कृते युगे व्यतीते वै मुखे,त्रेतायुगस्य तु ।
हितार्थं देवमर्त्यानां भविता नृपविग्रहः ॥ १८ ॥

सतयुग बीतने और त्रेतायुग के आरम्भ होने पर देवताओं और मनुष्यों के हितार्थ वे राजा के रूप में अवतरेंगे ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकूणां च यो राजा भाव्यो दशरथो भुवि ।
तस्य सूनुर्महातेजा रामो नाम भविष्यति ॥ १६ ॥

इस भूमण्डल पर इक्ष्वाकुवंश में दशरथ नाम के एक राजा होंगे। उनके श्रीरामचन्द्र नाम का एक महातेजस्वी पुत्र जन्मेगा ॥ १६ ॥

महातेजा महाबुद्धिर्महाबलपराक्रमः ।
महाबाहुर्महासत्त्वः क्षमया पृथिवीसमः ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जी बड़े बुद्धिमान, महाबलवान, महापराक्रमी, महाबाहु, महासत्व और सहनशीलता में पृथिवी के समान होंगे ॥ २० ॥

आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरे शत्रुभिस्तदा ।
भविता हि तदा रामो नरो नारायणः प्रभुः ॥ २१ ॥

जैसे सूर्य की ओर कोई नहीं देख सकता, वैसे ही उनके शत्रु लोग भी उनकी ओर आँख उठा कर देख तक न सकेंगे। इस प्रकार वे श्रीमन्नारायण स्वामी, श्रीरामचन्द्र का रूप धारण कर इस धराधाम पर अवतीर्ण होंगे ॥ २१ ॥

पितुर्नियोगात्स विभुर्दण्डके विविधे वने ।
विचरिष्यति धर्मात्मा भ्रात्रा सह महामनाः ॥ २२ ॥

वे महामना, विभु, धर्मात्मा, श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता की आज्ञा मान, अपने भाई के सहित दण्डकादि अनेक वनों में घूमेंगे ॥ २२ ॥

तस्य पत्नी महाभागा लक्ष्मीः सीतेति विश्रुता ।
दुहिता जनकस्यैषा उत्थिता वसुधातलात् ॥ २३ ॥

उनकी स्त्री महाभागा लक्ष्मी जी सीता नाम से प्रसिद्ध होंगी । वे महाराज जनक की पुत्री बन पृथिवी से निकलेंगी ॥२३॥

रूपेणाप्रतिमा लोके सर्वलक्षणलक्षिता ।
छायेवानुगता रामं निशाकरमिव प्रभा ॥ २४ ॥

लोकों में उनके समान रूपवती अन्य कोई स्त्री नहीं निकलेगी । वे समस्त सुलक्षणों से युक्त होंगी । वे अपने पति श्रीरामचन्द्र की ऐसी अनुगामिनी होंगी, जैसी कि, मनुष्य के शरीर की छाया अथवा चन्द्रमा की चाँदनी है ॥ २४ ॥

शीलाचारगुणोपेता साध्वी धैर्यसमन्विता ।
सहस्रांशो रश्मिरिव ह्येका मूर्तिरिव स्थिता ॥ २५ ॥

वे सीता देवी शील, आचार और सद्गुणों से सम्पन्न होंगी । वे पतिव्रता और धैर्ययुक्त होंगी । सूर्य और उनकी किरनों की तरह सीता और श्रीरामचन्द्र की एक मूर्ति होगी ॥ २५ ॥

एवं ते सर्वमाख्यातं यथा रावण विस्तरात् ।
महतो देवदेवस्य शाश्वतस्याव्ययस्य च ॥ २६ ॥

हे रावण ! देवदेव, सनातन, अविनाशी, महापुरुष श्रीमन्नारायण का यह समस्त वृत्तान्त विस्तारपूर्वक मैंने तुमसे कहा ॥ २६ ॥

एवं श्रुत्वा महाबाहू राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।
त्वया सह विरोधेच्छुश्चिन्तयामास राघव ॥ २७ ॥

हे राम ! महाबली और प्रतापी राक्षसराज रावण, यह सुन कर, तुम्हारे साथ वैर करने का उपाय सोचने लगा ॥ २७ ॥

सनत्कुमारात्तद्वाक्यं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः ।
रावणो मुमुदे श्रीमान् युद्धार्थं विचचार ह ॥ २८ ॥

तथा सनत्कुमार जी की कही बातों पर बारंबार विचार करता हुआ, रावण अत्यन्त हर्षित हो, युद्ध के लिये इधर उधर घूमने फिरने लगा ॥ २८ ॥

श्रुत्वा च तां कथां रामो विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
शिरसश्चालनं कृत्वा विस्मयं परमं गतः ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी यह वृत्तान्त सुन कर, विस्मयोत्फुल्ल नयनों से सिर हिलाते हुए परम् विस्मित हुए ॥ २६ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं स नरेश्वरस्तदा
मुदा युतो विस्मयमानचक्षुः ।
पुनश्च तं ज्ञानवतां प्रधानम्
उवाच वाक्यं वद मे पुरातनम् ॥ ३० ॥

इति प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः ॥

वे नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी उस समय उन वचनों को सुन, हर्षोत्फुल्ल एवं विस्मित हो, ज्ञानियों में सर्वोत्तम अगस्त्य जी से फिर बोले कि, आप मुझे प्राचीन कथा सुनाइये ॥ ३० ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

प्रक्षिप्तेषु चतुर्थः सर्गः

—:o:—

ततः पुनर्महातेजाः कुम्भयोनिर्महायशाः ।
उवाच रामं प्रणतं पितामह इवेश्वरम् ॥ १ ॥

तदनन्तर महायशस्वी कुम्भयोनि अगस्त्य जी, प्रणाम करते हुए श्रीरामचन्द्र जी से बोले, मानों ब्रह्मा जी शिव जी से बोलते हों ॥ १ ॥

श्रूयतामिति चोवाच रामं सत्यपराक्रमम् ।
कथाशेषं महातेजाः कथयामास स प्रभुः ॥ २ ॥

वे सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से बोले कि, सुनिए। यह कह कर, महातेजस्वी महर्षि अगस्त्य जी ने कथा का अवशिष्टांश कहना आरम्भ किया ॥ २ ॥

यथाख्यानं श्रुतं चैव यथा वृत्तं यथा तथा ।
प्रीतात्मा कथयामास राघवाय महामतिः ॥ ३ ॥

वे महामति अगस्त्य जी प्रसन्नचित्त हो जैसी उस समय घटना हुई थी और जैसी उन्होंने सुनी थी वैसी ही ज्यों की त्यों श्रीरामचन्द्र जी को सुनाने लगे ॥ ३ ॥

एतदर्थं महाबाहो रावणेन दुरात्मना ।
सुता जनकराजस्य हृता राम महामते ॥ ४ ॥

हे महाबाहो ! हे महामतिमान श्रीराम ! दुष्टात्मा रावण ने इसी लिए जनकनन्दिनी जानकी को हरा था ॥ ४ ॥

एतां कथां महाबाहो नारदः सुमहायशाः ।
कथयामास दुर्धर्ष मेरौ गिरिवरोत्तमे ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! हे महायशस्विन् ! हे दुर्धर्ष ! नारद जी ने मेरुशृङ्ग के ऊपर मुझको यह वृत्तान्त सुनाया था ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वसिद्धानामृषीणां च महात्मनाम् ।
कथाशेषं पुनः सोऽथ कथयामास राघव ॥ ६ ॥

हे राघव ! उन्होंने इस वृत्तान्त का अवशिष्टांश देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों तथा ऋषियों एवं अन्य महानुभावों के सामने कहा था ॥ ६ ॥

नारदः सुमहातेजाः प्रहसन्निव मानद ।
तां कथां शृणु राजेन्द्र महापापप्रणाशिनीम् ॥ ७ ॥

हे मानद ! हे राजेन्द्र ! महातेजस्वी नारद जी ने हँस हँस कर इसका वर्णन किआ था । सो तुम इस महापातकनाशिनी कथा को सुनो ॥ ७ ॥

यां तु श्रुत्वा महाबाहो ऋषयो दैवतैः सह ।
ऊचुस्तं नारदं सर्वे हर्षपर्याकुलेक्षणम् ॥ ८ ॥

हे महाबाहो ! इस कथा को सुन देवताओं और ऋषियों ने हर्षोत्फुल्लनयन हो, नारद जी से कहा ॥ ८ ॥

यश्चेमां श्रावयेन्नित्यं शृणुयाद्वापि भक्तितः ।
स पुत्रपौत्रवान् राम स्वर्गलोके महीयते ॥ ६ ॥

इति प्रक्षिप्तेषुः चतुर्थः सर्गः

जो कोई भक्तिपूर्वक इस कथा को सुनेगा या सुनावेगा वह पुत्रपौत्रयुक्त हो कर, स्वर्गलोक में सम्मानित होगा ॥ ६ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त चौथा सर्ग पूरा हुआ

—:®:—

प्रक्षिप्तेषु पञ्चमः सर्गः

—:०:—

ततः स राक्षसो राम पर्यटन् पृथिवीतले ।
विजयार्थी महाशूरै राक्षसैः परिवारितः ॥ १ ॥

हे राम ! वह रावण बड़े बड़े शूरवीर राक्षसों को अपने साथ ले, दिग्विजय की अभिलाषा से पृथिवी पर घूमने लगा॥१॥

दैत्यदानवरक्षःसु यं शृणोति बलाधिकम् ।
तमाह्वयति युद्धार्थी रावणो बलदर्पितः ॥ २ ॥

बलदर्पित रावण, दैत्यों, दानवों अथवा राक्षसों में से जिस किसी को भी बलवान् सुनता, उसी के पास जा कर, उसे लड़ने के लिए ललकारता था ॥ २ ॥

एवं स पर्यटन् सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते ।
ब्रह्मलोकान्निवर्तन्तं समासाद्याथ रावणः ॥ ३ ॥

हे पृथिवीनाथ! इस प्रकार रावण समस्त पृथिवी पर विचर रहा था, कि (एक दिन) ब्रह्मलोक से लौट कर आते हुए नारद जी से उसकी भेंट हो गई ॥ ३ ॥

व्रजन्तं मेघपृष्ठस्थमंशुमन्तमिवापरम् ।
तमभिसृत्य प्रीतात्मा ह्यभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ४ ॥

दूसरे सूर्य के समान श्रीनारद जी मेघ पर सवार थे। [उन्हें देख) रावण ने हर्षित हो, उनके निकट जा कर और हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया ॥ ४ ॥

उवाच हृष्टमनसा नारदं रावणस्तदा ।
आब्रह्मभवनं लोकास्त्वया दृष्टा ह्यनेकशः ॥ ५ ॥

कस्मिँल्लोके महाभाग मानवा बलवत्तराः ।
योद्धुमिच्छामि तैः सार्धं यथाकामं यदृच्छया ॥ ६ ॥

तदनन्तर हर्षित अन्तःकरण से रावण ने श्रीनारद जी से कहा—हे भगवन्! तुमने तो घूमते फिरते इस ब्रह्माण्ड को अनेक बार देखा ही होगा। अतः तुम मुझे बतलाओ कि, किस लोक के निवासी बड़े बलवान् हैं। क्योंकि मैं बलवानों के साथ युद्ध करना चाहता हूँ ॥ ५ ॥ ६ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु नारदः प्रत्युवाच तम् ।
अस्ति राजन् महाद्वीपं क्षीरोदस्य समीपतः ॥ ७ ॥

इस पर नारद जी ने कुछ देर सोच कर रावण से कहा—हे राजन्! क्षीरसागर के समीप एक महाद्वीप है ॥ ७ ॥

तत्र ते चन्द्रसङ्काशा मानवाः सुमहाबलाः ।
महाकाया महावीर्या मेघस्तनितनिस्वनाः ॥ ८ ॥

वहाँ के रहने वाले लोग चन्द्र के समान प्रभावान् अथवा शुक्लवर्ण, महाबली और बड़े लंबे चौड़े डीलडौल के हैं। वे बड़े पराक्रमी और मेघ के समान गर्जन कर बोलने वाले हैं ॥ ८ ॥

महामात्रा धैर्यवन्तो महापरिघबाहवः ।
श्वेतद्वीपे मया दृष्टा मानवा राक्षसाधिप ॥ ९ ॥
बलवीर्यसमोपेतान् यादृशान् त्वमिहेच्छसि ।
नारदस्य वचः श्रुत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १० ॥

वे प्रायः सभी प्रधान हैं और धैर्यवान हैं। उनकी भुजाएँ बड़े परिघों के समान हैं। हे राक्षसराज! ऐसे प्राणी मैंने श्वेतद्वीप में देखे हैं। जैसे बलवान् एवं पराक्रमी लोगों को तुम खोज में हो, वहाँ वैसे ही लोग रहते हैं। नारद जी के वचन सुन रावण बोला ॥ ९ ॥ १० ॥

कथं नारद जायन्ते तस्मिन् द्वीपे महाबलाः ।
श्वेतद्वीपे कथं वासः प्राप्तस्तैस्तु महात्मभिः ॥ ११ ॥

हे नारद! वहाँ इस प्रकार के महाबली लोग क्यों होते हैं? और उन महात्मा लोगों को श्वेतद्वीप में रहने का स्थान क्यों कर मिल गया? ॥ ११ ॥

एतन् मे सर्वमाख्याहि प्रभो नारद तत्त्वतः ।
त्वया दृष्टं जगत् सर्वं हस्तामलकवत् सदा ॥ १२ ॥

हे महाराज नारद जी ! तुम्हारे लिए तो यह सारा जगत हस्तामलकवत् हो रहा है। अतः तुम मुझे वहाँ का सारा वृत्तान्त ठीक ठीक सुनाओ ॥ १२ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा नारदः प्रत्युवाच ह ।
अनन्यमनसो नित्यं नारायणपरायणाः ॥ १३ ॥
तदाराधन-सक्ताश्च तच्चित्तास्तत्परायणाः ।
एकान्तभावानुगतास्ते नरा राक्षसाधिप ॥ १४ ॥

रावण के वचन सुन कर देवर्षि नारद जी बोले कि, हे राक्षसराज ! वहाँ वे ही लोग रहते हैं, जो या तो अनन्यमना हो श्रीमन्नारायण को भजा करते हैं, उन्हीं के आराधन में सदा तत्पर रहते हैं और जो उनके भक्त हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

तच्चित्तास्तद्गतप्राणा नरा नारायणं सदा ।
श्वेतद्वीपे तु तैर्वासं अर्जितः सुमहात्मभिः ॥ १५ ॥

जो नर सदा नारायण में अपने मन और प्राण लगाए रहते हैं, वे ही महात्मा अपने तपःप्रभाव से श्वेतद्वीप में निवास करते हैं ॥ १५ ॥

ये हता लोकनाथेन शार्ङ्गमानम्य संयुगे ।
चक्रायुधेन देवेन तेषां वासस्त्रिविष्टपे ॥ १६ ॥

अथवा चक्रधारी लोकनाथ श्रीमन्नारायण युद्ध में अपने शार्ङ्गधनुष से जिनको मारते हैं; वे लोग भी (वहाँ अथवा) स्वर्ग में वास करते हैं ॥ १६ ॥

न हि यज्ञफलैस्तात न तपोभिर्न संयमैः
न च दानफलै मुख्यैः स लोकः प्राप्यते सुखम् ॥१७॥

हे तात ! क्या यज्ञ, क्या तप, क्या अन्य समस्त मुख्य मुख्य दानादि साधनों में से किसी से भी वह लोक प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा दशग्रीवः सुविस्मितः ।
ध्यात्वा तु सुचिरं कालं तेन योत्स्यामि संयुगे ॥१८॥

नारद जी के वचन सुन रावण विस्मित हो कुछ देर तक यह सोचता रहा कि, मैं उन देवों के देव के साथ युद्ध करूँगा ॥१८॥

आपृच्छ्य नारदं प्रायाच्छ्वेतद्वीपाय रावणः ।
नारदोपि चिरं ध्यात्वा कौतूहलसमन्वितः ॥ १९ ॥

तदनन्तर नारद जी से विदा माँग, रावण श्वेतद्वीप को चल गया। नारद जी भी बहुत देर तक विचार कर और वस्मित हो ॥ १९ ॥

दिदृक्षुः परमाश्चर्यं तत्रैव त्वरितं ययौ ।
स हि केलिकरो विप्रो नित्यं च समरप्रियः ॥ २० ॥

इस आश्चर्य को देखने के लिए नारद जी भी तुरन्त ही वहीं गए। क्योंकि नारद जी भी तो कौतुकी और युद्धप्रिय ठहरे ॥ २० ॥

रावणोपि ययौ तत्र राक्षसैः सह राघव ।
महता सिंहनादेन दारयन् स दिशो दश ॥ २१ ॥

हे राघव ! घोर सिंहनाद से दसों दिशाओं को विदीर्ण करता हुआ और राक्षसों को साथ लिये हुए, रावण भी श्वेत-द्वीप मे पहुँचा ॥ २१ ॥

गते तु नारदे तत्र रावणोपि महायशाः ।
प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं दुर्लभं यत्सुरैरपि ॥ २२ ॥

नारद जी के वहाँ पहुँचने के पश्चात् महायशस्वी रावण भी उस श्वेतद्वीप नामक महाद्वीप में पहुँचा, जिसमें पहुँचना देवताओं के लिए भी दुर्लभ है ॥ २२ ॥

तेजसा तस्य द्वीपस्य रावणस्य बलीयसः ।
तत्तस्य पुष्पकं यानं वातवेगसमाहतम् ॥ २३ ॥

बलवान रावण का विमान वहाँ पहुँचा तो, परन्तु उस द्वीप में पवन का ऐसा वेग था कि, पवन के झकझोरों से पुष्पक विमान झकझोरा जा कर ॥ २३ ॥

अवस्थातुं न शक्नोति वातहत इवाम्बुदः ।
सचिवा राक्षसेन्द्रस्य द्वीपमासाद्य दुर्दशम् ॥ २४ ॥

वैसे ही वहाँ ठहर न सका जैसे पवन के झकझोरों से बादल नहीं ठहर सकते । उस दुर्दर्श द्वीप के समीप पहुँच कर, रावण के मंत्री ॥ २५ ॥

अब्रुवन् रावणं भीता राक्षसा जातसाध्वसाः ।
राक्षसेन्द्र वयं मूढा भ्रष्टसंज्ञा विचेतसः ॥ २५ ॥

डराते डराते राक्षसराज रावण से बोले, हे निशाचरराज ! हम लोग तो मारे भय के जड़वत् चेतनाहीन हो गए हैं ॥२५॥

अवस्थातुं न शक्ष्यामो युद्धं कर्तुं कथञ्चन ।
एवमुक्त्वा दुद्रुवुस्ते सर्व एव निशाचराः ॥ २६ ॥

यहाँ तक कि, यहाँ हम लोग किसी प्रकार भी ठहर नहीं सकते । युद्ध की बात तो जाने दीजिये । यह कह कर, वे समस्त राक्षस दसों दिशाओं को भागने लगे ॥ २६ ॥

रावणोपि हि तद्यानं पुष्पकं हेमभूषितम् ।
विसर्जयामास तदा सह तैः क्षणदाचरैः ॥ २७ ॥

तब रावण ने उन सब राक्षसों सहित उस सुवर्णभूषित पुष्पक विमान को छोड़ दिआ ॥ २७ ॥

गतं तु पुष्पकं राम रावणो राक्षसाधिपः ।
कृत्वारूपं महाभीमं सर्वराक्षसवर्जितः ॥ २८ ॥

तदनन्तर पुष्पक विमान के चले जाने पर, राक्षसराज रावण महाभयानक रूप बना और सब राक्षसों को छोड़ ॥ २८ ॥

प्रविवेश तदा तस्मिन् श्वेतद्वीपे स रावणः ।
प्रविशन्नेव तत्राशु नारीभिरुपलक्षितः ॥ २९ ॥

उस द्वीप में अकेला ही गया । वहाँ पहुँचते ही बहुत सी स्त्रियों ने उसको देखा ॥ २९ ॥

एकया सस्मितं कृत्वा हस्ते गृह्य दशाननम् ।
पृष्टश्चागमनं ब्रूहि किमर्थमिह चागतः ॥ ३० ॥

उन स्त्रियों के गिरोह में से एक स्त्री ने रावण का हाथ पकड़ कर और हँस कर पूँछा—तू यहाँ क्यों आया है ? तू अपने यहाँ आने का कारण बतला ॥ ३० ॥

को वा त्वं कस्य वा पुत्रः केन वा प्रहितो वद ।
इत्युक्तो रावणो राजन् क्रुद्धो वचनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

तू कौन है ? तू किसका पुत्र है ? तुझे किसने भेजा है—सो सब बतला । हे राजन् ! उस स्त्री के ये वचन सुन कर, और क्रोध में भर कर, रावण ने कहा ॥ ३१ ॥

अहं विश्रवसः पुत्रो रावणो नाम राक्षसः ।
युद्धार्थमिह सम्प्राप्तो न च पश्यामि कञ्चन ॥ ३२ ॥

मैं विश्रवा मुनि का पुत्र हूँ । मेरा नाम रावण है । मैं लड़ने की इच्छा से यहाँ आया हूँ, परन्तु मुझे तो यहाँ कोई (वीर पुरुष) देख ही नहीं पड़ता ॥ ३२ ॥

एवं कथयतस्तस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
प्राहसंस्ते ततः सर्वे सुस्वनं युवतीजनाः ॥ ३३ ॥

जब उस दुष्ट ने इस प्रकार कहा, तब वे सब युवतियाँ मधुर स्वर से हँसने लगीं ॥ ३३ ॥

तासामेका ततः क्रुद्धा बालवद्गृह्य लीलया ।
भ्रामितस्तु सखीमध्ये मध्ये गृह्य दशाननम् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर उनमें से एक स्त्री ने क्रुद्ध हो अनायास रावण को (एक छोटे) लड़के की तरह पकड़ लिया और उसकी कमर पकड़ वह रावण को अपनी सखियों के बीच घुमाने लगी ॥३४॥

सखीमन्यां समाहूय पश्य त्वं कीटक धृतम् ।
दशास्यं विंशतिभुजं कृष्णाञ्जनसमप्रभम् ॥ ३५ ॥

और एक दूसरी सखी को बुला कर बोली, देखो, मैंने एक कीड़ा पकड़ा है । यह कीड़ा कैसा अद्भुत है । इसके दस तो मुँह हैं और बीस भुजाएँ हैं । इसके शरीर को रंगत काजल के ढेर की तरह कैसी अच्छी है ॥ ३५ ॥

हस्ताद्धस्तं च स क्षिप्तो भ्राम्यते भ्रमलालसः ।
भ्राम्यमाणेन बलिना राक्षसेन विपश्चिता ॥ ३६ ॥

उस स्त्री के हाथ से (कौतुकवश) रावण को दूसरी स्त्री ने ले लिया। उसने भी रावण को घुमाया। (इसी प्रकार तीसरी चौथी पाँचवीं) स्त्रियों ने किआ। सारांश यह कि, वे सब स्त्रियाँ हाथों हाथ उसको ले कर, खूब घुमाने लगीं। इस प्रकार जब बलवान् विद्वान रावण घुमाया गया॥ ३६ ॥

पाणावेकाथ सन्दष्टा रोपेण वनिता शुभा।
मुक्तस्तया शुभः कीटो धुन्वन्त्या हस्तवेदनात् ॥३७॥

तब उसने अत्यन्त क्रुद्ध हो एक स्त्री के हाथ में काट लिया। उसी स्त्री ने झट रावण को छोड़ दिआ और पीड़ा के मारे वह अपना हाथ झटकारने लगी॥ ३७ ॥

गृहीत्वान्या तु रक्षेन्द्रमुत्पपात विहायसा।
ततस्तामपि सक्रुद्धो विददार नखैर्भृशम् ॥ ३८ ॥

यह देख एक दूसरी स्त्री रावण को पकड़ कर आकाश में उड़ गई; परन्तु रावण ने क्रोध में भर, उसे नखों से बहुत नोचा खसोटा॥ ३८ ॥

तया सह विनिर्धूतः सहसैव निशाचरः।
पपात सोऽम्भसो मध्ये सागरस्य भयातुरः॥ ३९ ॥

तब तो उस स्त्री ने झटका दे कर, रावण को ऐसा फेंका कि, वह भयातुर रावण धड़ाम से समुद्र में जा गिरा॥ ३९ ॥

पर्वतस्यैव शिखरं यथा वज्रविदारितम्।
प्रापतत् सागरजले तथासौ विनिपातितः॥ ४० ॥

जैसे वज्रप्रहार से टूट कर पर्वतशिखर समुद्र में गिर पड़ता है, वैसे ही रावण भी उस स्त्री के झटकारने से समुद्र में गिरा ॥ ४० ॥

एवं स रावणो राम श्वेतद्वीपनिवासिभिः ।
युवतीभिर्विगृह्याशु भ्रामितश्च ततस्ततः ॥ ४१ ॥

हे राम ! श्वेतद्वीप की रहने वाली स्त्रियों ने बड़ी शीघ्रता से रावण को फिर पकड़ लिया और वे फिर उसे वार वार घुमाने लगीं ॥ ४१ ॥

नारदोऽपि महातेजा रावणं प्राप्य धर्षितम् ।
विस्मयं सुचिरं कृत्वा प्रजहास ननर्त च ॥ ४२ ॥

उस समय महातेजस्वी नारद जी रावण की ऐसी दुर्दशा देख कर, बड़े विस्मित हुए और अट्टहास करते हुए नाचने लगे ॥ ४२ ॥

एतदर्थं महाबाहो रावणेन दुरात्मना ।
विज्ञायापहृता सीता त्वत्तो मरणकांक्षया ॥ ४३ ॥

हे महाबाहो ! दुरात्मा रावण ने इसी लिए तुम्हारे हाथ से मारे जाने की अभिलाषा से प्रेरित हो कर ही सीता हरी थी ॥ ४३ ॥

भवान्नारायणो देवः शङ्खचक्रगदाधरः ।
शार्ङ्गपद्मायुधो वज्री सर्वदेवनमस्कृतः ॥ ४४ ॥

तुम शङ्ख-चक्र-गदा-धारी श्रीमन्नारायण हो तुम्हारे हाथों में शार्ङ्गधनुष, पद्म, वज्रादि आयुध हैं। तुमको सब देवता प्रणाम किया करते हैं ॥ ४४ ॥

श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदेवाभिपूजितः ।
पद्मनाभो महायोगी भक्तानामभयप्रदः ॥ ४५ ॥

तुम समस्त देवताओं से पूजित हो, तुम्हीं श्रीवत्साङ्कित हृषीकेश हो। तुम्हीं महायोगी पद्मनाभ हो और भक्तजनों को अभय करने वाले हो ॥ ४५ ॥

वधार्थं रावणस्य त्वं प्रविष्टो मानुषीं तनुम् ।
किं न वेत्सि त्वमात्मानं यथा नारायणो ह्यहम् ॥४६॥

तुमने रावण का वध करने के लिए यह मनुष्य रूप धारण किया है। क्या तुम अपने को नारायण नहीं समझते ? ॥४६॥

मा मुह्यस्व महाभाग स्मर चात्मानमात्मना ।
गुह्याद् गुह्यतरस्त्वं हि ह्येवमाह पितामहः ॥ ४७ ॥

हे महाभाग ! तुम मोह में न फँसो। तुम अपने को अपने आप जान लो। ब्रह्मा जी ने स्वयं कहा है कि, तुम गुप्त से भी गुप्त हो ॥ ४७ ॥

त्रिगुणश्च त्रिवेदी च त्रिधामा च त्रिराघव ।
त्रिकालकर्म त्रैविध्य त्रिदशारिप्रमर्दन ॥ ४८ ॥

हे राघव ! तुम त्रिगुण-स्वरूप हो, तुम त्रिवेदी हो, तुम ही त्रिधामा (स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल) हो। भूत, भविष्य, वर्त्तमान अर्थात् तीनों कालों में तुम्हारे काम होते रहते हैं। तुम धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद के पारदर्शी हो। तुम देवताओं के शत्रु का संहार करने वाले हो ॥ ४८ ॥

भयाक्रान्तास्त्रयो लोकाः पुराणैर्विक्रमैस्त्रिभिः ।
त्वं महेन्द्रानुजः श्रीमान् बलिबन्धनकारणात् ॥४६॥

तुम इन्द्र के छोटे भाई हो। तुमने वामनावतार धारण कर, वलि को बाँधा और पुरातन काल में त्रिविक्रम हो, त्रिलोकी को नाप डाला था ॥ ४६ ॥

अदित्या गर्भसम्भूतो विष्णुस्त्वं हि सनातनः ।
लोकाननुग्रहीतुं वै प्रविष्टो मानुषीं तनुम् ॥ ५० ॥

तुम अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए। तुम ही सनातन विष्णु भगवान् हो। तुमने सब पर कृपा करने के लिए ही यह मनुष्य शरीर धारण किया है ॥ ५० ॥

तदिदं साधितं कार्यं सुराणां सुरसत्तम ।
निहतो रावणः पापः सपुत्रगणबान्धवः ॥ ५१ ॥

हे सुरश्रेष्ठ ! तुमने पुत्र, वन्धु-वान्धव तथा सेना-सहित पापी रावण को युद्ध में मार कर, देवताओं का कार्य पूरा किया है ॥ ५१ ॥

प्रहृष्टाश्च सुराः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ।
प्रशान्तं च जगत्सर्वं त्वत्प्रसादात्सुरेश्वर ॥ ५२ ॥

हे सुरेश्वर ! इससे समस्त देवता और तपोधन ऋषि प्रसन्न हुए हैं, और तुम्हारी कृपा से सारे जगत् को शान्ति प्राप्त हुई है ॥ ५२ ॥

सीता लक्ष्मीर्महाभागा सम्भूता वसुधातलात् ।
त्वदर्थमिह चोत्पन्ना जनकस्य गृहे प्रभो ॥ ५३ ॥

हे प्रभो ! महाभागा लक्ष्मी जी सीता जी बन कर, पृथिवी पर अवतीर्ण हुई हैं और तुम्हारे लिए राजा जनक के घर में जनक की पुत्री कहलाई हैं ॥ ५३ ॥

लङ्कामानीय यत्नेन मातेव परिरक्षिता ।
एवमेतत्समाख्यातं तव राम महायशः ॥ ५४ ॥

हे प्रभो ! रावण ने इनको लङ्का में ले जा कर अति सावधानी से माता की तरह इनकी रक्षा की । हे महायशस्वी राम ! यह सारा वृत्तान्त मैंने तुमको सुनाया ॥ ५४ ॥

ममापि नारदेनोक्तमृषिणा दीर्घजीविना ।
यथा सनत्कुमारेण व्याख्यातं तस्य रक्षसः ॥ ५५ ॥
तेनापि च तदेवाशु कृतं सर्वमशेषतः ।
यश्चैतच्छ्रावयेच्छ्राद्धे विद्वान् ब्राह्मणसन्निधौ ॥ ५६ ॥
अन्नं तदक्षयं दत्तं पितॄणामुपतिष्ठति ।
एतां श्रुत्वा कथां दिव्यां रामो राजीवलोचनः ॥५७॥

दीर्घजीवी देवर्षि नारद जी ने मुझे यह कथा सुनाई थी । श्रीसनत्कुमार जी ने रावण से जैसे कहा था तदनुसार ही रावण ने किया । हे रघुवीर ! जो लोग श्राद्ध में (ब्राह्मण-भोजन कराने के समय) विद्वान् ब्राह्मण को इसे सुनाते हैं, उनका दिया हुआ अन्न, पितरों के लिए अक्षय्य हो कर पहुँचता है । इस दिव्य कथा को सुन कर, राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

परं विस्मयमापन्नो भ्रातृभिः सह राघवः ।
वानराः सह सुग्रीवो राक्षसाः सविभीषणाः ॥ ५८ ॥

अपने भाइयों-सहित परम विस्मित हुए। वानरों-सहित सुग्रीव, राक्षसों-सहित विभीषण ॥ ५८ ॥

राजानश्च सहामात्या ये चान्येऽपि समागताः ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा धर्मसमन्विताः ॥५९॥

अपने अपने मंत्रियों सहित समागत राजा गण, तथा अन्य वहाँ समागत धार्मिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ॥५९॥

सर्वे चोत्फुल्लनयनाः सर्वे हर्षसमन्विताः ।
राममेवानुपश्यन्ति भृशमत्यन्तहर्षिताः ॥ ६० ॥

चकित हुए और अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रसन्न हो श्रीरामचन्द्र जी को निहारने लगे ॥ ६० ॥

ततोऽगस्त्यो महातेजा राघवं चेदमब्रवीत् ।
दृष्टाः सभाजिताश्चापि राम यास्यामहे वयम् ।
एवमुक्त्वा गताः सर्वे पूजितास्ते यथागतम् ॥ ६१ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु पञ्चमः सर्गः ॥

तदनन्तर महातेजस्वी अगस्त्य जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राम! मैंने तुम्हारे दर्शन पाए और मेरा सम्मान भी हुआ। अतः अब मैं जाऊँगा। इस प्रकार वे सब ऋषि सम्मानित हो जहाँ से आए थे, वहीं चले गए ॥ ६१ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:-ॐ-:—

अष्टत्रिंशः सर्गः

—: ० :—

एवमास्ते महाबाहुरहन्यहनि राघवः ।
प्रशासत्सर्वकार्याणि पौरजानपदेषु च ॥ १ ॥

महाबली रघुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल पर राज्य करते हुए पुरवासियों के ऊपर शासन करने लगे ॥ १ ॥

ततः कतिपयाहःसु वैदेहं मिथिलाधिपम् ।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

कुछ दिनों बाद श्रीरामचन्द्र जी मिथिला के राजा जनक जी से हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥ २ ॥

भवान् हि गतिरव्यग्रा भवता पालिता वयम् ।
भवतस्तेजसोग्रेण रावणो निहतो मया ॥ ३ ॥

महाराज ! आप सब प्रकार हमारे रक्षक हैं और हम आप ही के पाले हुए हैं। मैंने आप ही के उग्र तेज की सहायता से रावण को मारा है ॥ ३ ॥

इक्ष्वाकूणां च सर्वेषां मैथिलानां च सर्वशः ।
अतुलाः प्रीतयो राजन्सम्बन्धकपुरोगमाः ॥ ४ ॥

हे राजन् ! मिथिकुल और इक्ष्वाकुकुल के, इस अनुपम सम्बन्ध द्वारा, आपस में बड़ी प्रीति है ॥ ४ ॥

तद्भवान् स्वपुरं यातु रत्नान्यादाय पार्थिव ।
भरतश्च सहायार्थं पृष्ठतश्चानुयास्यति ॥ ५ ॥

हे पृथिवीनाथ ! अब आप अपनी राजधानी को पधारिये। विदाई की श्रेष्ठ वस्तुओं को ले कर, भरत जी आपकी सहायता के लिए आपके पीछे पीछे जाँयगे ॥ ५ ॥

स तथेति ततः कृत्वा राघवं वाक्यमब्रवीत् ।
प्रीतोऽस्मि भवता राजन् दर्शनेन नयेन च ॥ ६ ॥

राजा जनक, श्रीरामचन्द्र जी के वचनों को मान कर उनसे बोले—हे राजन् ! मैं आपकी नीतिमत्ता देख और आपका दर्शन कर प्रसन्न हुआ ॥ ६ ॥

यान्येतानि तु रत्नानि मदर्थं सञ्चितानि वै ।
दुहित्रोस्तान्यहं राजन् सर्वाण्येव ददामि वै ॥ ७ ॥

आपने मुझे देने को जो वस्तुएँ इकट्ठी की हैं, मैं वे समस्त वस्तुएँ अपनी बेटियों को दिये जाता हूँ ॥ ७ ॥

ततः प्रयाते जनके केकयं मातुलं प्रभुम् ।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयाद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

जब राजा जनक चले गए, तब श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर, विनीतभाव से केकयराजपुत्र मामा युधाजित् से कहा ॥ ८ ॥

इदं राज्यमहं चैव भरतश्च सलक्ष्मणः ।
आयत्तास्त्वं हि नो राजन् गतिश्च पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥

हे मामा ! मैं, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न आप ही के हैं और अयोध्या का यह समूचा राज्य भी आपका है। आप सब प्रकार से हम लोगों के उपकारकर्त्ता हैं ॥ ९ ॥

राजा हि वृद्धः सन्तापं त्वदर्थमुपयास्यति ।
तस्माद्गमनमद्यैव रोचते तव पार्थिव ॥ १० ॥

केकयराज वृद्ध हैं। वे तुम्हारे लिए सन्तप्त होते होंगे। अतः मेरी समझ में आज ही तुम्हारा जाना उचित है ॥१०॥

लक्ष्मणेनानुयात्रेण पृष्ठतोनुऽगमिष्यते ।
धनमादाय बहुलं रत्नानि विविधानि च ॥ ११ ॥

विदा को भेंट में बहुत सा धन और विविध प्रकार के रत्न ले कर, लक्ष्मण आपको पहुँचाने जायँगे ॥ ११ ॥

युधाजित्तु तथेत्याह गमनं प्रति राघव ।
रत्नानि च धनं चैव त्वय्येवास्त्वक्षयमस्त्विति ॥ १२ ॥

तब युधाजित् ने जाना स्वीकार करते हुए कहा—हे रामचन्द्र ! यह सारा धन और रत्न अक्षय्य हो कर, तुम्हारे पास रहें ॥ १२ ॥

प्रदक्षिणं च राजानं कृत्वा केकयवर्धनः ।
रामेण च कृतः पूर्वमभिवाद्य प्रदक्षिणम् ॥ १३ ॥

प्रथम श्रीरामचन्द्र जी ने प्रदक्षिणा कर के, उनको प्रणाम किया। पीछे केकयराजकुमार युधाजित् ने श्रीरामचन्द्र जी की प्रदक्षिणा कर और उनको प्रणाम कर ॥ १३ ॥

लक्ष्मणेन सहायेन प्रयातः केकयेश्वरः ।
हतेऽसुरे यथा वृत्रे विष्णुना सह वासवः ॥ १४ ॥

लक्ष्मण सहित वे वहाँ से ऐसे चले जैसे वृत्रासुर के मारे जाने पर इन्द्र, भगवान् विष्णु के साथ चले थे ॥ १४ ॥

तं विसृज्य ततो रामो वयस्यमकुतोभयम् ।
प्रतर्दनं काशिपतिं परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उनको बिदा कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने मित्र काशी-नरेश राजा प्रतर्दन को गले लगा कर कहा ॥ १५ ॥

दर्शिता भवता प्रीतिर्दर्शितं सौहृदं परम् ।
उद्योगश्च त्वया राजन् भरतेन कृतः सह ॥ १६ ॥

हे राजन् ! आपने प्रीति दिखलाई और परम सौहार्द का परिचय दिया । आपने भरत के साथ उद्योग भी किया ॥१६॥

[टिप्पणी—भूषणटीकाकार का मत है कि "रावणसंहारार्थं काशीराजेन सर्गमिति सिद्धम्" । अर्थात् रावण के साथ जिस समय श्रीरामचन्द्र जी का युद्ध हो रहा था, उस समय भरत जी के साथ लङ्का में जा, श्रीरामचन्द्र जी की सहायता करने के लिए राजा प्रतर्दन ने यत्न किया था ।]

तद्भवानद्य काशेय पुरीं वाराणसीं व्रज ।
रमणीयां त्वया गुप्तां सुप्राकारां सुतोरणाम् ॥ १७ ॥

अब आप रमणीय, सुरक्षित और मनोहर नगरद्वारों से सुशोभित वाराणसी नगरी को पधारिए ॥ १७ ॥

एतावदुक्त्वा चोत्थाय काकुत्स्थः परमासनात् ।
पर्यष्वजत धर्मात्मा [1]निरन्तरमुरोगतम् ॥ १८ ॥

यह कह कर, धर्मात्मा काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी अपने सिंहासन से उठे और सदा अपने हृदय में रहने वाले राजा प्रतर्दन को गले लगाया ॥ १८ ॥

---

१ निरन्तरमुरोगतम्—उरोगतं यथा भवति तथा निरन्तर गाढं पर्यष्वजत । (गो०)

विसर्जयामास तदा कौसल्याप्रीतिवर्धनः ।
राघवेण कृतानुज्ञः काशेयो ह्यकुतोभयः ॥ १६ ॥

फिर कौसल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने उनको बिदा किआ। निडर काशिराज भी श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पा कर ॥ १६ ॥

वाराणसीं ययौ तूर्णं राघवेण विसर्जितः ।
विसृज्य तं काशिपतिं त्रिशतं पृथिवीपतीन् ॥ २० ॥

और श्रीरामचन्द्र जी से विदा किये जा कर, तुरन्त काशी को चल दिए। काशीनाथ को विदा कर, अन्य तीन सौ राजाओं ॥ २० ॥

प्रहसन् राघवो वाक्यमुवाच मधुराक्षरम् ।
भवतां प्रीतिरव्यग्रा तेजसा परिरक्षिता ॥ २१ ॥

से श्रीरामचन्द्र जी मुसक्याते हुए मधुर वाणी से बोले—आप लोगों की हममें निश्चल प्रीति है जो, आपके तेज से रक्षित है ॥ २१ ॥

धर्मश्च नियतो नित्यं सत्यं च भवतां सदा ।
युष्माकं चानुभावेन तेजसा च महात्मनाम् ॥ २२ ॥
हतो दुरात्मा दुर्बुद्धी रावणो राक्षसाधमः ।
हेतुमात्रमहं तत्र भवतां तेजसा हतः ॥ २३ ॥

आपकी धर्मपरायणता, आपके सदा सत्यव्यवहार, आपके अनुभव और तेज के प्रभाव ही से दुष्टस्वभाव एवं दुर्बुद्धि राक्षसाधम रावण मारा गया है। मैं तो उसका वध करने में केवल, निमित्त मात्र हूँ। वह आप ही के तेज एवं प्रभाव (इकबाल) से मारा गया है ॥ २२ ॥ २३ ॥

रावणः सगणो युद्धे सपुत्रामात्यबान्धवः ।
भवन्तश्च समानीता भरतेन महात्मना ॥ २४ ॥

सो भी वह अकेला नहीं वल्कि सेना, मंत्री तथा अपने वंधु-वान्धवों सहित मारा गया है। (मुझे विदित हुआ है कि) महात्मा भारत जी ने आप लोगों को यहाँ (लङ्का के युद्ध में मेरी सहायता करने को) वुलाया था ॥ २४ ॥

श्रुत्वा जनकराजस्य काननात्तनयां हृताम् ।
उद्युक्तानां च सर्वेषां पार्थिवानां महात्मनाम् ॥ २५ ॥

वन में सीता के हरे जाने का समाचार सुन कर, भरत ने आप को यहाँ वुलाया और आप सव महानुभाव राजा लोग युद्ध में सम्मिलित होने को तैयार थे ॥ २५ ॥

कालोऽप्यतीतः सुमहान् गमनं रोचयाम्यतः ।
प्रत्यूचुस्तं च राजानो हर्षेण महता वृताः ॥ २६ ॥

यहाँ आए आप लोगों को वहुत दिन वीत गए हैं—अतः मैं चाहता हूँ कि अव आप लोग अपनी अपनी राजधानियों को पधारें। तव वे सव राजा लोग परमहर्षित हो श्रीरामचन्द्र जी से वोले ॥ २६ ॥

दिष्ट्या त्वं विजयी राम राज्यं चापि प्रतिष्ठितम् ।
दिष्टया प्रत्याहृता सीता दिष्टया शत्रुः पराजितः ॥२७॥

हे महाराज ! यह वड़े सौभाग्य की वात है कि, आपकी जीत हुई और यह राज्य भी (प्रतिष्ठापूर्वक) स्थिर वना रहा। यह भी सौभाग्य की वात है कि सीता, मिल गयी और वैरी रावण मारा गया ॥ २७ ॥

[टिप्पणी– कैकेयी की प्रेरणा से श्रीरामचन्द्र जी के वन में जाने में राजनीति-विशारदों का अनुमान था कि, वनवास की अवधि पूरी होने पर जव श्रीरामचन्द्र जी लौटेंगे; तव अयोध्या के राज्य का भाइयों में

बँटवारा होगा और अयोध्या का विशाल राज्य टुकड़े टुकड़े हो जायगा। किन्तु ऐसा न हुआ यह देख कर ही राजा लोग अयोध्या के राज्य को स्थिर देख अपना सन्तोष प्रकट करते हैं]

एष नः परमः काम एषा नः प्रीतिरुत्तमा।
यत्त्वां विजयिनं राम पश्यामो हतशात्रवम् ॥ २८ ॥

हे महाराज ! यह हमारा बड़ा भारी मनोरथ सिद्ध हुआ कि हम लोग आपको विजयी और शत्रुहीन देख रहे हैं यही हम लोगों की अभिलाषा थी और इसी में हम लोग हर्षित हैं ॥२८॥

एतत्त्वय्युपपन्नं च यदस्मांस्त्वं प्रशंससे।
प्रशंसार्हं न जानीमः प्रशंसां वक्तुमीदृशीम् ॥ २९ ॥

आपने जो हम लोगों की बड़ाई की, सो यह आपकी, स्वाभाविक उदारता है, नहीं तो हम लोग हैं ही किस योग्य। हम नहीं जानते कि आपकी प्रशंसा हम किन शब्दों में करें ॥ २९ ॥

आपृच्छामो गमिष्यामो हृदिस्थो नः सदा भवान्।
वर्तामहे महाबाहो प्रीत्यात्र महता वृताः ॥ ३० ॥

अब हम आपकी आज्ञा ले विदा होते हैं। आप तो हम लोगों के अन्तःकरण में सदा वास करते ही हैं। अब हम सब अत्यन्त आनन्द-पूर्वक अपने अपने कार्यों में संलग्न होंगे ॥३०॥

भवेच्च ते महाराज प्रीतिरस्मासु नित्यदा।
बाढमित्येव राजानो हर्षेण परमान्विताः ॥ ३१ ॥

महाराज ! हम लोगों में आपकी प्रीति सदा बनी रहे (हमारी आपसे यही अन्तिम प्रार्थना है।) इस पर महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने जब कहा "बहुत अच्छा ऐसा ही होगा"; तब वे राजा लोग परमहर्षित हुए ॥ ३१ ॥

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राघवं गमनोत्सुकाः ।
पूजितास्ते च रामेण जग्मुर्देशान् स्वकान् स्वकान् ॥३२॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

वे जाने के लिए उत्सुक राजा लोग, हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से (इस प्रकार) बोले, श्रीरामचन्द्र जी ने भी उनकी यथोचित विदाई की और वे अपनी अपनी राजधानियों को चले गए ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—:-०-:—

ते प्रयाता महात्मानः पार्थिवास्ते प्रहृष्टवत् ।
गजवाजिसहस्रौघैः कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥ १ ॥

वे महाबली राजा लोग प्रसन्न होते हुए सहस्रों हाथियों और घोड़ों के समूहों से भूमि को कँपाते हुए, चले ॥ १ ॥

अक्षौहिण्यो हि तत्रासन् राघवार्थे समुद्यताः ।
भरतस्याज्ञयानेकाः प्रहृष्टबलवाहनाः ॥ २ ॥

भरत की आज्ञा से कितनी ही वाहनों सहित अक्षौहिणी सेनाएँ ले कर अनेक राजा लोग हर्षित हो, श्रीरामचन्द्र जी की सहायता के लिए, अयोध्या आए थे ॥ २ ॥

ऊचुस्ते च महीपाला बलदर्पसमन्विताः ।
न राम रावणं युद्धे पश्यामः पुरतः स्थितम् ॥ ३ ॥

वे लोग बल के अभिमान में चूर हो आपस में कहने लगे कि, क्या कहें, हम लोगों ने श्रीरामचन्द्र जी और रावण का युद्ध न देख पाया ॥ ३ ॥

भरतेन वयं पश्चात् समानीता निरर्थकम् ।
हता हि राक्षसाः क्षिप्रं पार्थिवैः स्युन संशयः ॥ ४ ॥

रावण के मारे जाने पर भरत जी ने हम लोगों को व्यर्थ ही बुलाया। यदि हम लोगों को पहिले यह हाल मिलता तो निस्सन्देह हम तुरन्त ही राक्षसों को मार गिराते ॥ ४ ॥

रामस्य बाहुवीर्येण रक्षिता लक्ष्मणस्य च ।
सुखं पारे समुद्रस्य युध्येम विगतज्वराः ॥ ५ ॥

हम लोग श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी के बाहुबल से रक्षित और निश्चिन्त हो कर, समुद्र पार जा कर, युद्ध करते ॥५॥

एताश्चान्याश्च राजानः कथास्तत्र सहस्रशः ।
कथयन्तः स्वराज्यानि जग्मुर्हर्षसमन्विताः ॥ ६ ॥

ऐसी विविध प्रकार की हजारों बातें कहते और हर्षित हो, वे राजा लोग अपनी अपनी राजधानियों में कुशलपूर्वक पहुँच गए ॥ ६ ॥

स्वानि राज्यानि मुख्यानि ऋद्धानि मुदितानि च ।
समृद्धधनधान्यानि पूर्णानि वसुमन्ति च ॥ ७ ॥

उनके राज्य सब प्रकार से भरे पूरे, धनधान्य और रत्नों से परिपूर्ण थे और इसीसे वे राज्य हर्षित प्रजाजनों से भरे पूरे थे ॥ ७ ॥

यथापुराणि ते गत्वा रत्नानि विविधान्यथ ।
रामस्य प्रियकामार्थमुपहारं नृपा ददुः ॥ ८ ॥

उन लोगों ने अपनी अपनी राजधानियों में पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्नता सम्पादन करने के लिए विविध भाँति के रत्नों अर्थात् उत्तम पदार्थों को भेंटे भेजीं ॥ ८ ॥

अश्वान्यानानि रत्नानि हस्तिनश्च मदोत्कटान् ।
चन्दनानि च मुख्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ९ ॥

उनमें से अनेक राजाओं ने घोड़े, सवारियाँ, विविध प्रकार के रत्न, मतवाले हाथी, उत्तम चन्दन, दिव्य आभरण ॥ ९ ॥

मणिमुक्ताप्रवालांस्तु दास्यो रूपसमन्विताः ।
[1]अजाविकं च विविधं रथांस्तु विविधान् बहून् ॥१०॥

मणियाँ, मोती, मूँगे, रूपवती दासियाँ, विविध प्रकार की उत्तम चर्ममय गद्दों की सेजें, अनेक प्रकार के रथ आदि विविध प्रकार की बहुत सी वस्तुएँ भिजवाईं ॥ १० ॥

भरतो लक्ष्मणश्चैव शत्रुघ्नश्च महाबलः ।
आदाय तानि रत्नानि स्वां पुरीं पुनरागताः ॥ ११ ॥

महाबलवान् भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न उन उत्तम भेंटों की वस्तुओं को ले कर, अयोध्यापुरी में लौट कर आ गये ॥११॥

[टिप्पणी—यद्यपि ऊपर उल्लेख नहीं है, तथापि इस उक्ति से निश्चित है कि उन राजाओं को पहुँचाने का काम भरत जी, लक्ष्मण जी और शत्रुघ्न जी को सौंपा गया था ।]

आगम्य च पुरीं रम्यामयोध्यां पुरुषर्षभाः ।
तानि रत्नानि चित्राणि रामाय समुपानयन् ॥१२॥

उन पुरुषश्रेष्ठों ने रम्य अयोध्या में आ कर, भेंट की वस्तुएँ श्रीरामचन्द्र जी को अर्पण कर दीं ॥ १२ ॥

---

१ अजाविकान्—चर्ममयान् तल्पविशेषान् । (गो०)

प्रतिगृह्य च तत्सर्वं रामः प्रीतिसमन्वितः ।
सुग्रीवाय ददौ राज्ञे महात्मा कृतकर्मणे ॥ १३ ॥
विभीषणाय च ददौ तथान्येभ्योऽपि राघवः ।
राक्षसेभ्यः कपिभ्यश्च यैर्वृतो जयमाप्तवान् ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्नतापूर्वक उन भेंटों को अङ्गीकार कर लिया और पीछे से बड़ा उपकार करने वाले *सुग्रीव को, राक्षसराज विभीषण को तथा जिन वानरों और राक्षसों ने श्रीरामचन्द्र जी को युद्ध में रावण-विजयार्थ सहायता दी थी; उनको वे सब भेंट की वस्तुएं दे डालीं ॥ १३ ॥ १४ ॥

ते सर्वे रामदत्तानि रत्नानि कपि राक्षसाः ।
शिरोभिर्धारयामासुर्भुजेषु च महाबलाः ॥ १५ ॥

उन सब बलवान राक्षसों और वानरों ने उन रत्नों को माथे चढ़ा, उनको गले में, भुजाओं में (यथास्थान) धारण कर लिआ ॥ १५ ॥

हनुमन्तं च नृपतिरिक्ष्वाकूणां महारथः ।
अङ्गदं च महाबाहुमङ्कमारोप्य वीर्यवान् ॥ १६ ॥

इक्ष्वाकुवंशोद्भव महारथी श्रीरामचन्द्र जी ने, महाबलवान अंगद तथा हनुमान को अपनी गोद में बिठा लिआ अर्थात् इन दोनों का सर्वाधिक सम्मान किआ ॥ १६ ॥

---

*युद्धकाण्ड सर्ग १३१ के श्लोक ८८ में लिखा है:—"प्रहृष्टमनसः सर्वे जग्मुरेव यथागतम्" । एक बार जब श्रीरामचन्द्र जी सिंहासनारूढ़ होने पर विभीषण एवं सुग्रीवादि की विदाई कर चुके थे और वे अपने अपने स्थानों को भी गए थे, तब पुनः अब उन की विदाई का यहाँ प्रकरण आना सर्वथा विचारणीय है । जान ऐसा पड़ता है इन कि जब ये सब लोग अयोध्या से जाने की तैयारियाँ कर रहे थे कि अगस्त्यादि ऋषि गण अयोध्या में पहुँच गए और उनके साथ जो रोचक कथा प्रसङ्ग छिड़ गया उसे सुनने की उत्सुकता ने उन सब की यात्रा को स्थगित कर दिआ

रामः कमलपत्राक्षः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ।
अङ्गदस्ते सुपुत्रोऽयं मन्त्री चाप्यनिलात्मजः ॥ १७ ॥

फिर कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से कहा—यह अंगद तुम्हारे सुपुत्र और यह पवननन्दन हनुमान तुम्हारे मंत्री हैं ॥ १७ ॥

सुग्रीव मन्त्रिते युक्तौ मम चापि हिते रतौ ।
अर्हतो विविधां पूजां त्वत्कृते वै हरीश्वर ॥ १८ ॥

हे सुग्रीव ! ये दोनों ही अच्छी सलाह देने में तत्पर और मेरा हित करने में भी सदा दत्तचित्त रहते हैं । हे कपिराज ! अतः इनका अनेक प्रकार से मान सम्मान करना उचित है। इसमें प्राधान्य तुम्हारा ही है ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा व्यपमुच्याङ्गाद् भूषणानि महायशाः ।
स बबन्ध महार्हाणि तदाङ्गदहनूमतोः ॥ १९ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने यह कह कर अपने शरीर से बहुमूल्य भूषण उतार कर, अंगद और हनुमान को पहिनाए ॥ १९ ॥

आभाष्य च महावीर्यान् राघवो यूथपर्षभान् ।
नीलं नलं केसरिणं कुमुदं गन्धमादनम् ॥ २० ॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े बड़े बलवान वानरयूथपतियों से सम्भाषण किया । नील, नल, केसरी, कुमुद, गन्धमादन ॥ २० ॥

सुषेणं पनसं वीरं मैन्दं द्विविदमेव च ।
जाम्बवन्तं गवाक्षं च विनतं धूम्रमेव च ॥ २१ ॥

सुषेण, पनस, वीर मैन्द, द्विविद, जाम्बवन्त, गवाक्ष, विनत, धूम्र ॥ २१ ॥

बलीमुखं प्रजङ्घं च सन्नादं च महाबलम् ।
दरीमुखं दधिमुखमिन्द्रजानुं च यूथपम् ॥ २२ ॥

वलीमुख, प्रजंघ, महाबलवान सन्नाद, दरीमुख, दधिमुख, इन्द्रजानु आदि यूथपों को ॥ २२ ॥

मधुरं श्लक्ष्णया वाचा नेत्राभ्यामापिबन्निव ।
सुहृदो मे भवन्तश्च शरीरं भ्रातरस्तथा ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रेमदृष्टि से देखा और उनसे अत्यन्त मधुरवाणी से बोले--आप सब लोग केवल मेरे उपकारी मित्र ही नहीं, किन्तु मेरे शरीर के और सगे भाइयों के समान हैं ॥ २३ ॥

युष्माभिरुद्धृतश्चाहं व्यसनात् काननौकसः ।
धन्यो राजा च सुग्रीवो भवद्भिः सुहृदां वरैः ॥ २४ ॥

हे वानरो ! तुमने हमको बड़े भारी दुःख से उबारा है। धन्य हैं राजा सुग्रीव ! जिनके आप जैसे हितैषी मित्र हैं ॥२४॥

एवमुक्त्वा ददौ तेभ्यो भूषणानि यथार्हतः ।
वज्राणि च महार्हाणि सस्वजे च नरर्षभः ॥ २५ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने, यह कह कर उन वानरयूथपतियों को यथायोग्य बहुमूल्य वस्त्र तथा हीरे जड़ाऊ गहने बाँटे और उनको गले लगाया ॥ २५ ॥

ते पिबन्तः सुगन्धीनि मधूनि मधुपिङ्गलाः ।
मांसानि च सुमृष्टानि मूलानि च फलानि च ॥२६॥

शहद जैसे वर्णवाले वानर यूथपति, सुगन्धित मधुपान करते, माँस और स्वादिष्ट मूल फल खाते हुए रहने लगे ॥२६॥

एवं तेषां निवसतां मासः साग्रो ययौ तदा ।
मुहूर्तमिव ते सर्वे रामभक्त्या च मेनिरे ॥ २७ ॥

इस प्रकार रहते रहते उनको एक मास से कुछ अधिक बीत गया; परन्तु श्रीरामचन्द्र में उनका अनुराग होने के कारण इतना समय भी उनको एक मुहूर्त सा जान पड़ा॥२७॥

रामोऽपि रेमे तैः सार्धं वानरैः कामरूपिभिः ।
राक्षसैश्च महावीर्यैर्ऋक्षैश्चैव महाबलैः ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी उन कामरूपी वानरों, महापराक्रमी राक्षसों और महाबली रीछों के साथ विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते थे ॥ २८ ॥

एवं तेषां ययौ मासो द्वितीयः शिशिरः सुखम् ।
वानराणां प्रहृष्टानां राक्षसानां च सर्वशः ॥ २९ ॥

इस प्रकार सन्तुष्टमना उन वानरों और राक्षसों को अयोध्या में रहते रहते शिशिरऋतु का दूसरा मास भी बीत गया ॥ २९ ॥

इक्ष्वाकुनगरे रम्ये परां प्रीतिमुपासताम् ।
रामस्य प्रीतिकरणैः कालस्तेषां सुखं ययौ ॥ ३० ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी की प्रीति के कारण रीछों वानरों और राक्षसों का रम्य अयोध्यापुरी में अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हुए समय व्यतीत होने लगा ॥ ३० ॥

उत्तरकाण्ड का उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

तथा स्म तेषां वसतामृक्षवानररक्षसाम् ।
राघवस्तु महातेजाः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार वे सब अयोध्या में आनन्दपूर्वक रहते थे। एक दिन महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से यह कहा ॥ १ ॥

गम्यतां सौम्य किष्किन्धां दुराधर्षां सुरासुरैः ।
पालयस्व सहामात्यै राज्यं निहतकण्टकम् ॥ २ ॥

हे सौम्य ! अब तुम सुरासुर से दुर्धर्ष किष्किन्धापुरी को लौट जाओ और वहाँ अपने मंत्रियों सहित निष्कण्टक राज्य-सुख भोगो ॥ २ ॥

अङ्गदं च महाबाहो प्रीत्या परमया युतः ।
पश्य त्वं हनुमन्तं च नलं च सुमहाबलम् ॥ ३ ॥

हे महावीर ! तुम महाबलवान् अंगद, हनुमान और नल पर परमप्रीतियुक्त दृष्टि रखना ॥ ३ ॥

सुषेणं श्वशुरं वीरं तारं च बलिनां वरम् ।
कुमुदं चैव दुर्धर्षं नीलं चैव महाबलम् ॥ ४ ॥

अपने ससुर सुषेण, बलवानो में श्रेष्ठ वीर तार, दुर्धर्ष कुमुद, महाबली नील ॥ ४ ॥

वीरं शतबलिं चैव मैन्दं द्विविदमेव च ।
गजं गवाक्षं गवयं शरभं च महाबलम् ॥ ५ ॥

वीर शतवलि, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, गवय, महा-
वलवान शरभ ॥ ५ ॥

ऋक्षराजं च दुर्धर्षं जाम्बवन्तं महाबलम् ।
पश्य प्रीतिसमायुक्तो गन्धमादनमेव च ॥ ६ ॥

महावली एवं अजेय ऋक्षराज जाम्बवन्त और गन्धमादन
पर आपकी प्रीतियुक्तदृष्टि रहनी चाहिए ॥ ६ ॥

ऋषभं च सुविक्रान्तं प्लवंगं च सुपाटलम् ।
केसरिं शरभं शुम्भं शङ्खचूडं महाबलम् ॥ ७ ॥

पराक्रमी ऋषभ, सुपाटल, केसरी, शरभ, शुम्भ और महा-
वलवान शङ्खचूड़ को ॥ ७ ॥

ये ये मे सुमहात्मानो मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
पश्य त्वं प्रीतिसंयुक्तो मा चैषां विप्रियं कृथाः ॥८ ।

तथा अन्य जिन वानर वीरों ने मेरे लिये अपने प्राणों को
हथेली पर रख कर युद्ध किआ है; हे सुग्रीव ! तुम उन सब को
प्रीतियुक्तदृष्टि से देखना, कोई ऐसा काम न करना, जो इनको
बुरा लगे ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा च सुग्रीवमाश्लिष्य च पुनः पुनः ।
विभीषणमुवाचाथ रामो मधुरया गिरा ॥ ९ ॥

इस प्रकार कह और वारंवार सुग्रीव को गले लगा श्रीराम-
चन्द्र जी ने विभीषण से यह मधुर वचन कहे ॥ ९ ॥

लङ्कां प्रशाधि धर्मेण धर्मज्ञस्त्वं मतो मम ।
पुरस्य राक्षसानां च भ्रातुर्वैश्रवणस्य च ॥ १० ॥

हे राक्षसराज ! अब तुम भी जाओ। हम तुमको धर्मात्मा समझते हैं। अतः तुम धर्मानुकूल वहाँ शासन करना। नगर-वासियों, राक्षसों और भाई कुबेर के विषय में धर्मबुद्धि रखना ॥ १० ॥

मा च बुद्धिमधर्मे त्वं कुर्या राजन् कथञ्चन ।
बुद्धिमन्तो हि राजानो ध्रुवमश्नन्ति मेदिनीम् ॥११॥

हे राजन् ! तुम अधर्म की ओर कभी दृष्टि न डालना। क्योंकि बुद्धिमान् राजा ही पृथिवी पर राज्यसुख भोगते हैं ॥ ११ ॥

अहं च नित्यशो राजन् सुग्रीवसहितस्त्वया ।
स्मर्तव्यः परया प्रीत्या गच्छ त्वं विगतज्वरः ॥ १२ ॥

हे राजन् ! तुम मुझे और सुग्रीव को मत भूल जाना और सदा हम पर प्रीति बनाए रखना। अब तुम आनन्दपूर्वक यात्रा करो ॥ १२ ॥

रामस्य भाषितं श्रुत्वा ऋक्षवानरराक्षसाः ।
साधुसाध्विति काकुत्स्थं प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह भाषण सुन कर, रीछ वानर और राक्षस "वाह वाह" कह कर, बारंबार श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा करने लगे ॥ १३ ॥

तव बुद्धिर्महाबाहो वीर्यमद्भुतमेव च ।
माधुर्यं परमं राम [1]स्वयंभोरिव[2] नित्यदा ॥ १४ ॥

वे कहने लगे, हे श्रीरामचन्द्र ! तुम्हारी बुद्धि ब्रह्मा जी के समान सदैव प्राणिमात्र का कल्याण करने वाली है। तुममें सर्वोत्कृष्ट माधुर्य भी है। तुम्हारा पराक्रम भी अद्भुत है ॥ १४ ॥

---

१ स्वयंभोरिव—अनन्तकल्याणगुणस्य भगवतोब्रह्मण इव (रा०)
२ नित्यदा—सर्वकाले । (रा०)

तेषामेवं ब्रुवाणानां वानराणां च रक्षसाम् ।
हनूमान् प्रणतो भूत्वा राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥
स्नेहो मे परमो राजंस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा ।
भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु ॥ १६ ॥

इस प्रकार जब वे सब कह रहे थे कि, इसी बीच में हनुमान जी ने प्रणाम कर श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राजन्! हे वीर! तुममें मेरी परम भक्ति और प्रीति सदा बनी रहे। मेरा मन तुमको छोड़ और किसी में अनुरक्त न हो ॥ १५ ॥ १६ ॥

यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले ।
तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः ॥ १७ ॥
यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथा ते रघुनन्दन ।
तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ ॥ १८ ॥

हे रघुनन्दन! जब तक तुम्हारी यह कथा इस संसार में प्रचलित रहे, तब तक मेरे प्राण मेरे शरीर से कभी न्यारे न हों। हे पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम! तुम्हारा यह पवित्र चरित तथा यह कथा मुझे अप्सराएँ गाकर सुनाया करें ॥ १७ ॥ १८ ।

तच्छ्रुत्वाहं ततो वीर तव चर्यामृतं प्रभो ।
उत्कण्ठां तां हरिष्यामि मेघलेखामिवानिलः ॥१९॥

हे प्रभो! जब मैं तुम्हारे चरितामृत को श्रवण करूँगा, तब तुम्हारे दर्शन की उत्कण्ठा, मैं वैसे ही दूर कर दूँगा, जैसे पवन मेघों को दूर कर देता है ॥ १९ ॥

एवं ब्रुवाणं रामस्तु हनुमन्तं वरासनात् ।
उत्थाय सस्वजे स्नेहाद्वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २० ॥

इस प्रकार की प्रेमपगी बातें कहने वाले हनुमान जी को श्रीरामचन्द्र जी ने सिंहासन से उठ कर अपने हृदय से चिपटा लिया। तदनन्तर वे बड़े स्नेह से उनसे बोले-॥ २० ॥

एवमेतत्कपिश्रेष्ठ भविता नात्र संशयः ।
चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका ॥ २१ ॥
तावत्ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा ।
लोका हि यावत्स्थास्यन्ति तावत्स्थास्यन्ति मे कथाः॥२२

हे वानरोत्तम ! जो कुछ तुमने चाहा है, वही होगा। इसमें संशय नहीं है। जब तक इस लोक में मेरी कथा प्रचलित रहेगी, तब तक तुम्हारी कीर्त्ति भी बनी रहेगी और तभी तक तुम भी शरीर धारण कर यहाँ वास करोगे और जब तक यह लोक रहेंगे, तब तक मेरी कथाएँ भी बनी रहेंगी ॥ २१ ॥ २२ ॥

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे ।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ॥ २३ ॥

हे वानर ! तुम्हारे एक ही उपकार पर (प्रसन्न हो) मैं तुम्हें अपने प्राणदान करता हूँ। तुम्हारे बचे हुए उपकारों के लिए हम लोग तुम्हारे ऋणियाँ बने रहेंगे ॥ २३ ॥

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे ।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥ २४ ॥

हे वानर ! तुमने जो उपकार किए हैं, वे मेरे अंगों में जीर्ण हो जायँ। क्योंकि मनुष्य आपत्तियों ही में प्रत्युपकार के पात्र हुआ करते हैं। अथवा जो तुमने मेरे प्रति उपकार किए हैं वे सब मेरे हृदय में बने रहेंगे। क्योंकि उपकारी के प्रति किया,

उस पर विपत्ति पड़े, प्रत्युपकार किआ नहीं जा सकता (और मैं यह नहीं चाहता कि, तुम पर कभी विपत्ति पड़े) ॥२४॥

ततोऽस्य हारं चन्द्राभं मुच्य कण्ठात्स राघवः ।
वैदूर्यतरलं कण्ठे बबन्ध च हनूमतः ॥ २५ ॥

यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने अपने गले से चन्द्रमा के समान चमकीला पन्ने का हार उतार कर, हनुमान जी के गले में पहिना दिआ ॥ २५ ॥

तेनोरसि निबद्धेन हारेण महता कपिः ।
रराज हेमशैलेन्द्रश्चन्द्रेणाक्रान्तमस्तकः ॥ २६ ॥

सुवर्णमय शैलराज सुमेरु अपने ऊपर छिटकी हुई चन्द्रमा की चाँदनी से जैसे शोभित होता है, वैसे ही हनुमान जी के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ वह हार, उनकी शोभा बढ़ाने लगा ॥ २६ ॥

श्रुत्वा तु राघवस्यैतदुत्थायोत्थाय वानराः ।
प्रणम्य शिरसा पादौ निर्जग्मुस्ते महाबलाः ॥२७॥

श्रीरामचन्द्र की बातें सुन कर, अन्य सब वानर उठ उठ कर, उनको प्रणाम कर, अपने अपने घरों को चल दिए ॥२७॥

सुग्रीवः स च रामेण निरन्तरमुरोगतः ।
विभीषणश्च धर्मात्मा सर्वे ते बाष्पविक्लवाः ॥ २८ ॥

कपिराज सुग्रीव और धर्मात्मा विभीषण जी, श्रीरामचन्द्र जी के गले से लिपट कर, उनसे मिले भेंटे। उस समय तीनों के नेत्रों से आँसू टपकने लगे और सब की गद्गद् वाणी हो गई ॥ २८ ॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में और कई वार पूर्व भी विभीषण के लिए आदि कवि ने "धर्मात्मा" शब्द का विशेषण दिया है। सुग्रीव के लिए नहीं। विभीषण के चरित में वास्तव में तिल भर भी अधार्मिकता नहीं थी। विभीषण की तरह सुग्रीव भी श्रीरामचन्द्र जी के मित्र तो थे, किन्तु बड़े भाई की स्त्री रखने के कारण आदिकवि ने सुग्रीव के लिए "धर्मात्मा" शब्द का प्रयोग नहीं किया। यह बात ध्यान में रखने की है।]

सर्वे च ते बाष्पकलाः साश्रुनेत्रा विचेतसः ।
सम्मूढा इव दुःखेन त्यजन्तो राघवं तदा ॥ २९ ॥

बड़े दुःख के साथ श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ सके। उस समय उन सब के नेत्रों से आँसू टपक रहे थे और वे मारे दुःख के विह्वल हो रहे थे ॥ २९ ॥

कृतप्रसादास्तेनैवं राघवेण महात्मना ।
जग्मुः स्वं स्वं गृहं सर्वे देही देहमिव त्यजन् ॥ ३० ॥

इस प्रकार वे सब महात्मा श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता सम्पादन कर अपने अपने घरों को गए तो सही; किन्तु (अयोध्या त्यागते समय) उनको वैसी ही पीड़ा का अनुभव हुआ, जैसा कि प्राणधारियों को प्राण त्यागते समय हुआ करता है ॥ ३० ॥

ततस्तु ते राक्षसऋक्षवानराः
प्रणम्य रामं रघुवंशवर्धनम् ।
वियोगजाश्रुप्रतिपूर्णलोचनाः
प्रतिप्रयातास्तु यथा निवासिनः ॥ ३१ ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

राक्षस, रीछ और वानर, श्रीरामचंद्र जी के वियोग से उत्पन्न आँसुओं से नेत्रों को तर किए हुए, रघुवंश की वृद्धि करने वाले श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर, जहाँ से आए थे, वहाँ को रवाना हो गए ॥ ३१ ॥

उत्तरकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—:-०-:—

विसृज्य च महाबाहुर्ऋक्षवानरराक्षसान् ।
भ्रातृभिः सहितो रामः प्रमुमोद सुखं सुखी ॥ १ ॥

रीछों, वानरों और राक्षसों को विदा कर महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी अपने भाइयों सहित सुखी हो हर्षित होने लगे ॥ १ ॥

अथापराह्णसमये भ्रातृभिः सह राघवः ।
शुश्राव मधुरां वाणीमन्तरिक्षात् महाप्रभुः ॥ २ ॥

एक दिन मध्याह्नोत्तर भाइयों सहित, श्रीरामचन्द्र जी ने आकाश से यह मधुर वाणी सुनी ॥ २ ॥

सौम्य राम निरीक्षस्व सौम्येन वदनेन माम् ।
कुवेरभवनात्प्राप्तं विद्धि मां पुष्पकं प्रभो ॥ ३ ॥

हे सौम्य राम ! तुम प्रसन्न हो कर मेरी ओर देखो। हे प्रभो ! मैं पुष्पक नामक विमान हूँ और कुवेर के भवन से आया हूँ ॥ ३ ॥

तव शासनमाज्ञाय गतोस्मि भवनं प्रति ।
उपस्थातुं नरश्रेष्ठ स च मां प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! मैं तुम्हारी आज्ञा पा, कुबेर के पास गया था। उन्होंने मुझसे यह कहा है ॥ ४ ॥

निर्जितस्त्वं नरेन्द्रेण राघवेण महात्मना ।
निहत्य युधि दुर्धर्षं रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ ५ ॥

महाराज श्रीरामचंद्र जी ने दुर्धर्ष राक्षसराज रावण को मार कर तुमको भी जीत लिआ है ॥ ५ ॥

ममापि परमा प्रीतिर्हते तस्मिन् दुरात्मनि ।
रावणे सगणे चैव सपुत्रे सहबान्धवे ॥ ६ ॥

सेना, पुत्रों और बन्धुबान्धवों सहित दुष्ट रावण के मारे जाने से मैं भी बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥ ६ ॥

स त्वं रामेण लङ्कायां निर्जितः परमात्मना ।
वह सौम्य तमेव त्वमहमाज्ञापयामि ते ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! परमात्मा श्रीरामचंद्र जी, लंकेश को जीत कर, तुझको लाए हैं, अत. मैं तुझे आज्ञा देता हूँ कि, तू उन्हीं की सवारी में रह ॥ ७ ॥

परमो ह्येप मे कामो यत्त्वं राघवनन्दनम् ।
वहेर्लोकस्य संयानं गच्छस्व विगतज्वरः ॥ ८ ॥

तू भूरादि लोकों में आ जा सकता है; अतः मेरी यही अभिलाषा है कि तू श्रीरामचंद्र जी की सवारी में रह। तू किसी प्रकार की चिन्ता न कर और उनके पास चला जा ॥८॥

सोऽहं शासनमाज्ञाय धनदस्य महात्मनः ।
त्वत्सकाशमनुप्राप्तो निर्विशङ्कः प्रतीच्छ माम् ॥ ९ ॥

अतः महात्मा कुबेर जी की आज्ञा से मैं तुम्हारे समीप आया हूँ। अतः तुम बेखटके मुझे अपनी सवारी में रखो ॥ ९ ॥

अधृष्यः सर्वभूतानां सर्वेषां धनदाज्ञया ।
चराम्यहं प्रभावेण तवाज्ञां परिपालयन् ॥ १० ॥

कुबेर की आज्ञा से मुझे कोई प्राणी रोक नहीं सकता। मैं तुम्हारे आज्ञानुसार और तुम्हारे प्रताप से (सर्वत्र) गमनागमन करूँगा ॥ १० ॥

एवमुक्तस्तदा रामः पुष्पकेण महाबलः ।
उवाच पुष्पकं दृष्ट्वा विमानं पुनरागतम् ॥ ११ ॥

महाबलवान् श्रीरामचंद्र जी ने विमान का यह कथन सुन कर, और लौट कर आए हुए और आकाशस्थित पुष्पक को देख कर कहा ॥ ११ ॥

यद्येवं स्वागतं तेऽस्तु विमानवर पुष्पक ।
आनुकूल्याद्धनेशस्य वृत्तदोषो न नो भवेत् ॥ १२ ॥

हे वाहनश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। यदि ऐसा ही है, तो बहुत अच्छी बात है। कुबेर की प्रीति के अनुसार ही मुझे तो वर्तना है, जिससे मेरे चरित पर कोई धब्बा न लगे ॥ १२ ॥

लाजैश्चैव तथा पुष्पैर्धूपैश्चैव सुगन्धिभिः ।
पूजयित्वा महाबाहू राघवः पुष्पकं तदा ॥ १३ ॥

यह कह महावीर श्रीरामचंद्र जी ने पुष्पों, खीलों (लावों) चंदन तथा धूपादि से पुष्पक का पूजन कर, उससे कहा ॥१३॥

गम्यतामिति चोवाच आगच्छ त्वं स्मरे यदा ।
सिद्धानां च गतौ सौम्य मा विषादेन योजय ॥ १४॥

हे पुष्पक ! अब तुम जहाँ चाहो वहाँ जा कर रहो, किन्तु जब मैं तुम्हें स्मरण करूँ, तब यहाँ आ जाना । सिद्धसेवित आकाशमार्ग से हे सौम्य ! अब तुम जाओ और किसी बात के लिए दुःखी मत हो ॥ १४ ॥

प्रतिघातश्च ते मा भूद्यथेष्टं गच्छतो दिशः ।
एवमस्त्विति रामेण पूजयित्वा विसर्जितम् ॥ १५

गमन करते हुए तुम किसी से टकराना मत । तुम अपनी इच्छा के अनुसार जहाँ चाहो वहाँ घूमो फिरो । यह कह कर श्रीरामचन्द्र जी ने पुष्पक का पूजन कर उसको विदा कर दिया ॥ १५ ॥

अभिप्रेतां दिशं तस्मात् प्रायात्तत् पुष्पकं तदा ।
एवमन्तर्हिते तस्मिन् पुष्पके सुकृतात्मनि ॥ १६ ॥

तब पुष्पक विमान 'बहुत अच्छा, 'जो आज्ञा" कह कर जिधर चाहा उधर चला गया । जब पुष्पक विमान कृतार्थ हो चला गया ॥ १६ ॥

भरतः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच रघुनन्दनम् ।
*विबुधात्मनि दृश्यन्ते त्वयि वीर प्रशासति ॥ १७ ॥
†अमानुषाणि सत्वानि व्याहृतानि मुहुर्मुहुः ।
अनामयश्च मर्त्यानां साग्रो मासो गतो ह्ययम् ॥१८॥

---

* पाठान्तरे—"विविधात्मनि ।" † पाठान्तरे—"अमानुषाणा सत्वाना ।"

तब भरत जी ने हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे वीर तुम्हारे शासनकाल में विविध प्रकार के ऐसे अद्भुत प्राणी देख पड़ते हैं और उनकी बोलियाँ सुन पड़ती हैं जो मनुष्य नहीं हैं। प्रजा में कोई रोगग्रस्त भी नहीं देख पड़ता। तुम्हें राज्य करते कुछ ही महीने बीते हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥

जीर्णानामपि सत्त्वानां मृत्युर्नायाति राघव।
अरोगप्रसवा नार्यो वपुष्मन्तो हि मानवाः ॥ १९ ॥

इस बीच में हे राघव! जो देहधारी जीव अति जीर्ण हो चुके हैं, वे भी नहीं मरे। स्त्रियों को प्रसवकाल में कोई कष्ट नहीं होता। पुरवासी सब हृष्टपुष्ट देख पड़ते हैं ॥ १९ ॥

हर्षश्चाभ्यधिको राजन् जनस्य पुरवासिनः।
काले वर्षति पर्जन्यः पातयन्नमृतं पयः ॥ २० ॥

हे राजन्! पुरवासी व जनपदवासी अत्यन्त हर्षित हैं। बदल भी यथावसर अमृत के समान जल की वृष्टि करते हैं ॥ २० ॥

वाताश्चापि प्रवान्त्येते स्पर्शयुक्ताः सुखाः शिवाः।
*ईदृशो नश्चिरं राजा भवेदिति नरेश्वरः ॥ २१ ॥

मङ्गलमय पवन भी सदा सुखस्पर्शी हो कर चला करता है। हे नरेश्वर! इस प्रकार का राजा तो बहुत दिनों से कोई नहीं हुआ ॥ २१ ॥

कथयन्ति पुरे राजन् पौरजानपदास्तथा।
एता वाचः सुमधुरा भरतेन समीरिताः।
श्रुत्वा रामो मुदा युक्तो बभूव नृपसत्तमः ॥ २२ ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः

---

* पाठान्तरे—"ईदृशोऽनश्वरो"।

हे राजन्! पुरवासी और जनपदवासी लोग यही कहते हैं। नृपश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी, भाई भरत के ऐसे मधुर वचन सुन कर, हर्षित हुए॥ २२॥

उत्तरकाण्ड का एकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❀:—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

स विसृज्य ततो रामः पुष्पकं हेमभूषितम्।
प्रविवेश महाबाहुरशोकवनिकां तदा॥ १॥

सुवर्णभूषित पुष्पक विमान को विदा कर, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी अशोकवाटिका में गए॥ १॥

चन्दनागुरुचूतैश्च तुङ्गकालेयकैरपि।
देवदारुवनैश्चापि समन्तादुपशोभिताम्॥ २॥

उस उपवन में चन्दन, आम, अगर, तुङ्ग, लालचन्दन और देवदारु के वृक्ष लगे हुए थे॥ २॥

चम्पकागुरुपुन्नागमधूकपनसासनैः।
शोभितां पारिजातैश्च विधूमज्वलनप्रभैः॥ ३॥

चम्पा, अगर, पुन्नाग, मधूक, पनस, और धुआँ रहित आग के समान दमकता हुआ पारिजात॥ ३॥

लोध्रनीपार्जुननागैः सप्तपर्णातिमुक्तकैः।
मन्दारकदलीगुल्मलताजालसमावृताम्॥ ४॥

लोध, नीर, अर्जुन, नागकेसर, शतावरी, तिनिश, मन्दार और केला, तथा विविध भाँति की लताओं व झाड़ों से वह उपवन परिपूर्ण था ॥ ४ ॥

प्रियङ्गुभिः कदम्बैश्च तथा च वकुलैरपि ।
जम्बूभिर्दाडिमैश्चैव कोविदारैश्च शोभितम् ॥ ५ ॥

वह प्रियङ्गु, कदम्ब, वकुल, जामुन, अनार और कोविदार के वृक्षों से शोभित था ॥ ५ ॥

सर्वदा कुसुमै रम्यैः फलवद्भिर्मनोरमैः ।
दिव्यगन्धरसोपेतैस्तरुणाङ्कुरपल्लवैः ॥ ६ ॥

उसमें सर्वऋतु में फूलने वाले सुन्दर पुष्पित वृक्ष लगे थे और सुस्वादु फलदार वृक्ष भी उस उपवन में उगे हुए थे। ऐसे भी वृक्ष थे, जिनमें से सुगन्ध निकलती थी। नये पत्तों और कोपलों से वहाँ के वृक्ष सुशोभित थे ॥ ६ ॥

तथैव तरुभिर्दिव्यैः शिल्पिभिः परिकल्पितैः ।
चारुपल्लवपुष्पाढ्यैर्मत्तभ्रमरसङ्कुलैः ॥ ७ ॥

वृक्ष लगाने में चतुर मालियों ने इन दिव्य वृक्षों को बड़े अच्छे ढंग से लगाया था। इन वृक्षों के सुन्दर पत्ते और फूल लहलहा रहे थे। उनके ऊपर मतवाले भौंरे गूँज रहे थे ॥ ७ ॥

कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च नानावर्णैश्च पक्षिभिः ।
शोभितां शतशश्चित्रां चूतवृक्षावतंसकैः ॥ ८ ॥

उस उपवन में आम के वृक्ष के भूषण रूप कोयल, भृङ्गराज, तथा अन्य रंग बिरंगे पक्षी शोभायमान थे ॥ ८ ॥

शातकुम्भनिभाः केचित् केचिदग्निशिखोपमाः ।
नीलाञ्जननिभाश्चान्ये भान्ति तत्रत्यपादपाः ॥ ९ ॥

वहाँ कोई कोई तो पेड़ सफेद रंग के, कोई कोई अग्निशिखा की तरह लाल रंग के, कोई नीलाञ्जन की तरह नीले रंगवाले तथा अन्य प्रकार के भी अनेक वृक्ष थे ॥ ९ ॥

सुरभीणि च पुष्पाणि माल्यानि विविधानि च ।
दीर्घिका विविधाकाराः पूर्णाः परमवारिणा ॥ १० ॥

वहाँ अत्यन्त सुगन्धित फूल और विविध भाँति के पुष्प-गुच्छ थे। वहाँ विविध आकार की बावलियाँ थीं जिनमें स्वच्छजल भरा हुआ था ॥ १० ॥

*माणिक्यकृतसोपानाः स्फाटिकान्तरकुट्टिमाः ।
फुल्लपद्मोत्पलवनाश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ११ ॥

उन बावलियों में माणिक्य की सीढ़ियाँ थीं और उनकी भीतरी तह स्फटिक पत्थर की बनी हुई थी। उनमें खिले हुए कमल और कुईं के फूल शोभायमान थे। वहाँ चक्रवाक ॥ ११ ॥

दात्यूहशुकसंघुष्टा हंससारसनादिताः ।
तरुभिः † पुष्पशबलैस्तीरजैरुपशोभिताः ॥ १२ ॥

पपीहा, शुक, हंस और सारस बोल रहे थे। उनके किनारों पर फूलों से लदे हुए रंगबिरंगे वृक्ष लहलहा रहे थे ॥ १२ ॥

प्राकारैर्विविधाकारैः शोभिताश्च शिलातलैः ।
तत्रैव च वनोद्देशे वैदूर्यमणिसन्निभैः ॥ १३ ॥

* पाठान्तरे—"मणिक्यकृतसोपानाः"। † पाठान्तरे—"पुष्पवद्भिश्च"।

उनके प्राकार रङ्गविरङ्ग और अद्भुत पत्थरों से बने हुए थे। उनके चारों ओर पन्ने की तरह हरी ॥ १३ ॥

शाद्वलैः परमोपेतां पुष्पितद्रुमकाननाम् ।
तत्र संघर्षजातानां वृत्ताणां पुष्पशालिनाम् ॥ १४ ॥
प्रस्तराः पुष्पशवला नभस्तारागणैरिव ।
नन्दनं हि यथेन्द्रस्य ब्राह्मं चैत्ररथं यथा ॥ १५ ॥

दूब लगी हुई थी। वहाँ के वृक्ष मानों पारस्परिक ईर्ष्यावश फूलों से लद रहे थे। हवा के झोकों से आपस में टकरा कर पुष्पित वृक्षों के फूल नीचे की पथरीली भूमि पर विछ जाते थे। उस समय उनकी शोभा ऐसी जान पड़ती थी, मानों आकाश में तारागण उदय हुए हों। जैसे इन्द्र का नन्दनवन और ब्रह्मा का वनाया कुवेर का चैत्ररथवन शोभायमान देख पड़ता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

तथाभूतं हि रामस्य काननं सन्निवेशनम् ।
वह्वासनगृहोपेतां लतागृहसमावृताम् ॥ १६ ॥

वैसी ही श्रीरामचन्द्र जी का यह अशोकवन शोभायमान था। इस वन में जगह जगह वैठने के लिए वैठकें पड़ी थीं और अनेक लतामण्डप वने हुए थे ॥ १६ ॥

अशोकवनिकां स्फीतां प्रविश्य रघुनन्दनः ।
आसने च शुभाकारे पुष्पप्रकरभूषिते ॥ १७ ॥

ऐसी समृद्धशालिनी अशोकवाटिका में श्रीरामचन्द्र जी पधारे और एक वड़े सुन्दर फूलों से भूषित आसन पर ॥ १७ ॥

*कुशास्तरणसंस्तीर्णे रामः सन्निषसाद ह ।
सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि ॥ १८ ॥

जो एक कुश की चटाई पर बिछा हुआ था, बैठ गए। वहाँ सीता को अपने निकट बैठा कर, अपने हाथ से स्वच्छ मैरेय नामक मदिरा, ॥ १८ ॥

पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरन्दरः ।
मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च ॥ १९ ॥

काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता को वैसे ही पिलाई, जैसे इन्द्र अपनी इन्द्राणी शची को पिलाते हैं, वहाँ पर अच्छी सुस्वादु माँस और विविध प्रकार के फल ॥ १९ ॥

रामस्याभ्यवहारार्थं किङ्करास्तूर्णमाहरन् ।
उपानृत्यंश्च राजानं नृत्यगीतविशारदाः ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र के व्यवहारार्थ टहलुओं ने तुरन्त ला कर रख दिए। (माँस मदिरा का आवश्यक अंग स्वरूप) नाचना गाना भी श्रीरामचन्द्र जी के सामने आरम्भ हुआ। वह नाच (मामूली नाच न था बल्कि) नाचने गाने में निपुणों का था ॥ २० ॥

[अप्सरोरगसङ्घाश्च किन्नरीपरिवारिताः ।
दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशंगताः ॥ २१ ॥

उपानृत्यन्त काकुत्स्थं नृत्यगीतविशारदाः ।]
मनोभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—"कुशात्तरणसंवीते ।"

रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषिताः ।
स तया सीतया सार्धमासीनो विरराज ह ॥ २३ ॥

तदनन्तर अप्सराएँ, नागिनें, किन्नरी व परम चतुर एवं रूपवती स्त्रियाँ मदमाती हो गईं। गाने नाचने में निपुण स्त्रियाँ श्रीरामचन्द्र जी के सामने नाचने लगीं। इस तरह मन को प्रसन्न करने वाली एवं शृङ्गार किए हुए उन स्त्रियों का गान व नृत्य श्रीराम जी जानकी के साथ उत्तम आसन पर बैठे देखते सुनते रहे ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

अरुन्धत्या *इवासीनो वसिष्ठ इव तेजसा ।
एवं रामो मुदा युक्तः सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ २४ ॥
रमयामास वैदेहीमहन्यहनि देववत् ।
तथा तयोर्विहरतोः सीताराघवयोश्चिरम् ॥ २५ ॥

श्रीरामजी जानकी सहित ऐसे बैठे हुए थे, मानों अरुन्धती जी के पास वसिष्ठ जी बैठे हों। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी देवकन्याओं के समान सीता जी को, देवताओं की तरह नित्य सन्तुष्ट करने लगे। इस प्रकार जानकी के साथ विहार करते, करते श्रीरामचन्द्र जी को बहुत दिन बीत गए ॥ २४ ॥ २५ ॥

अत्यक्रामच्छुभः कालः शैशिरो भोगदः सदा ।
दश वर्षसहस्राणि गतानि सुमहात्मनोः ।
प्राप्तयोर्विविधान् भोगानतीतः शिशिरागमः ॥ २६ ॥

यहाँ तक कि, भोग विलास के लिए सुखदायी शिशिर ऋतु भी निकल गए। इस प्रकार विविध प्रकार भोग विलास करते करते श्रीरामचन्द्र और सीता जी ने बहुत वर्ष बिता

* पाठान्तरे—"सहासीना"।

दिए। विविध भोगों को भोगते हुए शिशिर ऋतु भी निकल गई ॥ २६ ॥

[टिप्पणी—किसी किसी टीकाकार ने इस प्रसङ्ग को प्रक्षिप्त माना है और यह जान भी ऐसा ही पड़ता है। क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी तो मर्यादापुरुषोत्तम थे वे इस प्रकार के वर्णित आमोद प्रमोद में लिप्त हुए थे सन्देह उत्पन्न करने वाली बात है।]

पूर्वाह्णे धर्मकार्याणि कृत्वा धर्मेण धर्मवित्।
शेषं दिवसभागार्धमन्तःपुरगतोऽभवत् ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी पूर्वाह्न (दो पहर होने के पूर्व) तक धर्मानुसार समस्त धर्मकार्य कर, दिन का शेष भाग बिताने के लिए रनवास में जाते थे ॥ २७ ॥

सीताऽपि देवकार्याणि कृत्वा पौर्वाह्णिकानि वै।
श्वश्रूणामकरोत् पूजां सर्वासामविशेषतः ॥ २८ ॥

सीता जी भी दिन के प्रथम आधे भाग में समस्त देवकार्य कर, विशेष श्रद्धाभक्ति के साथ अपनी सासों की सेवा किया करती थीं। सेवा करते समय वे सब सासों को समान मानती थीं ॥ २८ ॥

अभ्यगच्छत्ततो रामं विचित्राभरणाम्बरा।
त्रिविष्टपे सहस्राक्षमुपविष्टं यथा शची ॥ २९ ॥

तदनन्तर वे विविध भाँति के वस्त्राभूषण धारण कर श्रीरामचन्द्र जी के पास जा वैसे ही बैठती थीं जैसे इन्द्राणी इन्द्र के पास जा बैठती हैं ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा तु राघवः पत्नीं कल्याणेन समन्विताम्।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र जी सीता जी को गर्भवती देख, अत्यन्त आनन्दित हो "वाह वाह" कहने लगे ॥ ३० ॥

अब्रवीच्च वरारोहां सीतां सुरसुतोपमाम् ।
अपत्यलाभो वैदेहि *त्वय्ययं समुपस्थितः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर देवबाला के समान वरवर्णिनी सीता से वे कहने लगे—हे देवि ! तुममें गर्भधारण के लक्षण स्पष्ट देख पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

किमिच्छसि वरारोहे कामः किं क्रियतां तव ।
स्मितं कृत्वा तु वैदेही रामं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३२ ॥

हे वरारोहे ! बतलाओ तुम्हारी इच्छा किस वस्तु पर है ? तुम जो कहो मैं तुम्हारी वही इच्छा पूरी कर दूँ । इसके उत्तर में सीता जी ने मुसक्या कर श्रीराम जी से कहा ॥ ३२ ॥

तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव ।
गङ्गातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम् ॥ ३३ ॥
फलमूलाशिनां देव पादमूलेषु वर्तितुम् ।
एष मे परमः कामो यन्मूलफलभोजिनाम् ॥ ३४ ॥
अप्येकरात्रिं काकुत्स्थ निवसेयं तपोवने ।
तथेति च प्रतिज्ञातं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
विस्रब्धा भव वैदेहि श्वो गमिष्यस्यसंशयम् ॥ ३५ ॥

हे राघव ! मैं पवित्र तपोवनों को देखना चाहती हूँ । गङ्गातट पर निवास करने वाले, उग्रतेजस्वी और फलमूलाहारी ऋषियों की मैं चरणसेवा करना चाहती हूँ । हे देव ! यही मेरी परम कामना है । फलमूलभोजी मुनियों के पास तपोवन में यदि मैं

---

* पाठान्तरे—"त्वयि मे ।" ' पाठान्तरे—रामे ।"

एक रात भी रह पाऊँ तो मेरी अभिलाष पूरी हो जाय। अक्लिष्ट-कर्मकारी काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे वैदेहि! ऐसा ही होगा। तुम निश्चिन्त रहो। तुमको मैं कल ही तपोवन में भेजूँगा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
मध्यकक्षान्तरं रामो निर्जगाम सुहृद्वृतः ॥ ३६ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

सीता जी से यह कह कर, काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र अपने मित्रों के साथ भवन के बिचले चौक में चले आए ॥ ३६ ॥

उत्तरकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❁:—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

तत्रोपविष्टं राजानमुपासन्ते विचक्षणाः ।
कथानां बहुरूपाणां हास्यकाराः समन्ततः ॥ १ ॥

अब वहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी के आस पास ऐसे मनुष्य आ बैठे, जो विविध प्रकार की कथावार्ता कहने में निपुण तथा हँसने हँसाने में प्रवीण थे ॥ १ ॥

विजयो मधुमत्तश्च काश्यपो *मङ्गलः कुलः ।
सुराजिः कालियो भद्रो दन्तवक्रः सुमागधः ॥ २ ॥

*पाठान्तरे—"पिङ्गलः कुट्टः।"

विजय, मधुमत्त, काश्यप, मङ्गल, कुल, सुराजि, कालिय, भद्र, दन्तवक्र, और सुमागध, ॥ २ ॥

एते कथा बहुविधाः परिहाससमन्विताः ।
कथयन्ति स्म संहृष्टा राघवस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

ये सब हर्षित अन्तःकरण से महात्मा श्रीराम जी के सामने विविध प्रकार की हँसने वाली बातें कह रहे थे ॥ ३ ॥

ततः कथायां कस्यांचिद्राघवः समभापत ।
काः कथा नगरे भद्र वर्तन्ते विषयेषु च ॥ ४ ॥

किसी छिड़े हुए प्रसङ्ग के बीच में ही श्रीरामचन्द्र जी पूँछ बैठे—हे भद्र ! आज कल अयोध्यापुरी और राज्य में क्या चर्चा फैली हुई है ॥ ४ ॥

मामाश्रितानि कान्याहुः पौरजानपदा जनाः ।
किं च सीतां समाश्रित्य भरतं किं च लक्ष्मणम् ॥५॥

मेरे आश्रित पुरवासी लोग सीता, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के विषय में क्या कहते हैं ? ॥ ५ ॥

किंनु शत्रुघ्नमुद्दिश्य कैकेयीं किंनु मातरम् ।
वक्तव्यतां च राजानो वने राज्ये व्रजन्ति च ॥ ६ ॥

शत्रुघ्न के बारे में और मेरी माता कैकेयी के बारे में लोगों का क्या मत है ? क्योंकि (अविचारी) राजा की बस्ती ही में नहीं, बल्कि तपस्वियों के आश्रमों में भी निन्दा होने लगती है ॥ ६ ॥

एवमुक्ते तु रामेण भद्रः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
स्थिताः शुभाः कथा राजन् वर्तन्ते पुरवासिनाम् ॥७॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब भद्र हाथ जोड़ कर बोला—हे राजन्! पुरवासी लोग तो श्रीमहाराज की प्रशंसा ही करते हैं ॥ ७ ॥

अयं तु विजयं सौम्य दशग्रीववधार्जितम् ।
भूयिष्ठं स्वपुरे पौरैः कथ्यन्ते पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! हे सौम्य! अयोध्या के पुरवासियों में (आपके द्वारा) विशेष कर दशानन का वध कर लङ्का को सर करने की चर्चा बहुत हुआ करती है ॥ ८ ॥

एवमुक्तस्तु भद्रेण राघवो वाक्यमब्रवीत् ।
कथयस्व यथातत्त्वं सर्वं निरवशेषतः ॥ ९ ॥

भद्र के इस प्रकार कहने पर श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—यह नहीं, वे लोग जो कुछ कहा करते हैं, वह सब ज्यों का त्यों कहो ॥ ९ ॥

शुभाशुभानि वाक्यानि *यान्याहुः पुरवासिनः ।
श्रुत्वेदानीं शुभं कुर्यां न कुर्यामशुभानि च ॥ १० ॥

अर्थात् भली बुरी जो जो बातें वे कहते हों, सो सब कहो। उन सब बातों को सुन कर, मैं अच्छा ही करूँगा और बुरे काम छोड़ दूँगा ॥ १० ॥

कथयस्व च विस्रब्धो निर्भयं विगतज्वरः ।
कथयन्ति यथा पौराः पापा जनपदेषु च ॥ ११ ॥

* पाठान्तरे—"कान्याहुः ।"

हे भद्र ! तुम निर्भय हो कर कहो। अपने मन में किसी प्रकार का सङ्कोच मत करो। मैं जानना चाहता हूँ कि, पुरवासी और जनपदवासी मेरे सम्बन्ध में क्या बुरी बुरी टीका टिप्पणी किया करते हैं॥ ११॥

राघवेणैवमुक्तस्तु भद्रः सुरुचिरं वचः।

प्रत्युवाच महाबाहुं प्राञ्जलिः सुसमाहितः॥ १२॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन कर, भद्र सम्हल कर और हाथ जोड़ कर अति सुन्दर वचन बोला॥ १२॥

शृणु राजन् यथा पौराः कथयन्ति शुभाशुभम्।

चत्वरापणरथ्यासु वनेषूपवनेषु च॥ १३॥

हे राजन् ! वन, उपवन, हाट बाट, और चौराहों पर पुरवासी लोग जो कुछ अच्छी बुरी बातें [आपके सम्बन्ध में] कहा करते हैं, सो मैं कहता हूँ, आप सुनें॥ १३॥

दुष्करं कृतवान् रामः समुद्रे सेतुबन्धनम्।

अश्रुतं पूर्वकैः कैश्चिद्देवैरपि सदानवैः॥ १४॥

वे कहते हैं—श्रीरामचन्द्र जी ने अति दुष्कर कार्य किया, जो समुद्र पर पुल बाँध दिया। हमारे पुरखों ने तो क्या, देवताओं और दानवों ने भी ऐसा अनहोना काम नहीं सुना था॥ १४॥

रावणश्च दुराधर्षो हतः सबलवाहनः।

वानराश्च वशं नीता ऋक्षाश्च सह राक्षसैः॥ १५॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दुर्धर्ष रावण को सेना तथा वाहनों सहित नष्ट किया है और वानरों, भालुओं और राक्षसों को अपने वश में कर लिया है॥ १५॥

हत्वा च रावणं संख्ये सीतामाहृत्य राघवः ।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्ववेश्म पुनरानयत् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में रावण का संहार कर, सीता का उद्धार किया तो, किन्तु रावण ने जो सीता का स्पर्श किया था, इस पर उन्होंने कुछ भी विचार न किया और वे सीता को अयोध्या में ले आए ॥ १६ ॥

कीदृशं हृदये तस्य सीतासंभोगजं सुखम् ।
अङ्कमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम् ॥ १७ ॥

जिस सीता को पहले रावण बरजोरी अपनी गोद में उठा कर ले गया था, उसी सीता के सम्भोग का सुख श्रीरामचन्द्र जी के मन में क्यों कर अच्छा जान पड़ता है ॥ १७ ॥

लङ्कामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम् ।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न *कुत्स्यति ॥ १८ ॥

रावण ने सीता को लङ्का में ले जा कर, वहाँ अशोकवाटिका में रखा था और वहाँ सीता (सोलहों आने) रावण की मुट्ठी में थी; इन सब बातों पर विचार कर, महाराज के मन में (सीता जी के प्रति) घृणा क्यों उत्पन्न नहीं होती ॥ १८ ॥

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति ।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते ॥ १९ ॥

अब हम लोगों को भी स्त्रियों के ऐसे दोषों को (आँख बंद कर के) सह लेना पड़ेगा। क्योंकि राजा जैसा व्यवहार करता है, उसकी प्रजा भी वैसा ही व्यवहार करती है ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—"कुत्स्यते ।"

एवं बहुविधा वाचो वदन्ति पुरवासिनः ।
नगरेषु च सर्वेषु राजन् जनपदेषु च ॥ २० ॥

हे राजन्! सब नगरों और जनपदों में सर्वत्र प्रजाजन इसी ढंग की बहुत सी बातें कहा करते हैं ॥ २० ॥

तस्यैवं भाषितं श्रुत्वा राघवः परमार्तवत् ।
उवाच सुहृदः *सर्वान् कथमेतद्वदन्तु माम् ॥ २१ ॥

भद्र के इस प्रकार के वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी परम व्याकुल हो, (वहाँ उपस्थित) समस्त सुहृदों से पूँछने लगे कि, क्या प्रजाजन (सचमुच) मेरे बारे में ऐसी बातें कहा सुना करते हैं? ॥ २१ ॥

सर्वे तु शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च ।
प्रत्यूचू राघवं दीनमेवमेतन्न संशयः ॥ २२ ॥

यह सुन (वहाँ उपस्थित) समस्त जनों ने हाथ जोड़ और भूमि पर माथा टेक, दुःखी हो, श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे पृथिवीनाथ! निस्संदेह यह बात ऐसी ही है ॥ २२ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं काकुत्स्थः सर्वेषां समुदीरितम् ।
विसर्जयामास तदा वयस्याञ्छत्रुसूदनः ॥ २३ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

तब शत्रुसंहारकारी काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी ने उन सब के मुख से (भद्र के कथन का) अनुमोदन सुन, उन समस्त मित्रों को अपने अपने घरों को जाने की आज्ञा दी ॥ २३ ॥

उत्तरकाण्ड का तेतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

---

* पाठान्तरे—"सर्वान्कथमेतद्ब्रवीथ ।"

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

विसृज्य तु सुहृद्वर्गं बुद्ध्या निश्चित्य राघवः ।
समीपे द्वाःस्थमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

सब हितैषी मित्रों को विदा कर और अपने मन में कुछ निर्णय कर, पास खड़े हुए द्वारपाल से श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥१॥

शीघ्रमानय सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
भरतं च महाभागं शत्रुघ्नमपराजितम् ॥ २ ॥

तुम शीघ्र जा कर सुमित्रानन्दन एवं शुभलक्षणसम्पन्न लक्ष्मण, महाभाग भरत और अजेय शत्रुघ्न को लिवा लाओ ॥२॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा द्वाःस्थो मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
लक्ष्मणस्य गृहं गत्वा प्रविवेशानिवारितः ॥ ३ ॥

द्वारपाल श्रीरामचन्द्र जी की यह आज्ञा सुनते ही हाथ जोड़, सीस नवा, पहले बड़ी फुर्ती के साथ बिना रोकटोक लक्ष्मण जी के घर में गया ॥ ३ ॥

उवाच सुमहात्मानं वर्धयित्वा कृताञ्जलिः ।
द्रष्टुमिच्छति राजा त्वां गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥४॥

वहाँ जा उसने लक्ष्मण जी को प्रणाम कर उनसे कहा— महाराज तुम से मिला चाहते हैं; अतः तुम वहाँ अति शीघ्र पधारो ॥ ४ ॥

बाढमित्येव सौमित्रिः कृत्वा राघवशासनम् ।
प्राद्रवद्रथमारुह्य राघवस्य निवेशनम् ॥ ५ ॥

तब लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा सुन, कहा "बहुत अच्छा"। फिर वे रथ में बैठ, बड़ी तेज़ी से श्रीरामचन्द्र जी के भवन की ओर चल दिए ॥ ५ ॥

प्रयान्तं लक्ष्मणं दृष्ट्वा द्वाःस्थो भरतमन्तिकात् ।
उवाच भरतं तत्र वर्धयित्वा कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥

लक्ष्मण जी को जाते हुए देख, द्वारपाल विनीतभाव से भरत जी के पास गया और हाथ जोड़ कर उनसे बोला ॥ ६ ॥

विनयावनतो भूत्वा राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
भरतस्तु वचः श्रुत्वा द्वाःस्थाद्रामसमीरितम् ॥ ७ ॥

उसने भरत जी से बड़ी अधीनता से कहा "महाराज तुमसे मिलना चाहते हैं। भरत जी द्वारपाल से श्रीरामचन्द्र जी की यह आज्ञा सुन, ॥ ७ ॥

उत्पपातासनात्तूर्णं पद्भ्यामेव *महाबलः ।
दृष्ट्वा प्रयान्तं भरतं त्वरमाणः कृताञ्जलिः ॥ ८ ॥

वे महाबली आसन छोड़ तुरन्त उठ खड़े हुए और मारे जल्दी के (सवारी आने की प्रतीक्षा न कर,) पैदल ही चल दिए। भरत जी को जाते देख, द्वारपाल हाथ जोड़ कर तुरन्त ॥ ८ ॥

शत्रुघ्नभवनं गत्वा ततो वाक्यमुवाच ह ।
एह्यागच्छ रघुश्रेष्ठ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ॥ ९ ॥

---

*पाठान्तरे—"ययौ बली"।

शत्रुघ्न के भवन में गया और उनसे भी यही बात कही कि, चलिए महाराज तुमसे (शीघ्र) मिलना चाहते हैं ॥ ६ ॥

गतो हि लक्ष्मणः पूर्वं भरतश्च महायशाः ।
श्रुत्वा तु वचनं तस्य शत्रुघ्नः परमासनात् ॥ १० ॥
शिरसा वन्द्य धरणीं प्रययौ यत्र राघवः ।
द्वाःस्थास्त्वागम्य रामाय सर्वानेव कृताञ्जलिः ॥११॥

द्वारपाल के मुख से यह भी सुना कि, महायशस्वी भरत जी और लक्ष्मण जी पहिले ही वहाँ जा चुके हैं, शत्रुघ्न जी भी आसन छोड़ तुरन्त उठ खड़े हुए और पृथिवी पर माथा टेक (श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्य कर उनको प्रणाम कर) श्रीरामचन्द्र जी के भवन की ओर प्रस्थानित हुए। द्वारपाल ने हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी को सब ॥ १० ॥ ११ ॥

निवेदयामास तथा भ्रातॄन् स्वान् समुपस्थितान् ।
कुमारानागताञ्छ्रुत्वा चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥ १२ ॥

भाइयों के आने की सूचना दी। कुमारों का आना सुन, चिन्ता से विकल ॥ १२ ॥

अवाङ्मुखो दीनमना द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ।
प्रवेशय कुमारांस्त्वं मत्समीपं त्वरान्वितः ॥ १३ ॥

नीचे को मुख किए उदास श्रीरामचन्द्र जी ने द्वारपाल से कहा—तुम शीघ्र कुमारों को मेरे पास यहाँ लिवा लाओ ॥ १३ ॥

एतेषु जीवितं मह्यमेते प्राणाःप्रिया मम ।
आज्ञप्तस्तु नरेन्द्रेण कुमाराः *शुक्लवाससः ॥१४॥

---

* पाठान्तरे—"शक्रतेजसः ।"

क्योंकि वे ही मेरे जीवन के आधार हैं और वे ही मेरे प्राणप्रिय हैं। श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा सुन सफेद पोशाक पहिने हुए तीनों कुँवर ॥ १४ ॥

प्रह्वाः प्राञ्जलयो भूत्वा विविशुस्ते समाहिताः ।
ते तु दृष्ट्वा मुखं तस्य सग्रहं शशिनं यथा ॥ १५ ॥
सन्ध्यागतमिवादित्यं प्रभया परिवर्जितम् ।
बाष्पपूर्णे च नयने दृष्ट्वा रामस्य धीमतः ।
हतशोभं यथा पद्मं मुखं वीक्ष्य च तस्य ते ॥ १६ ॥

बड़ी सावधानी से और हाथ जोड़े हुए श्रीरामचन्द्र जी के भवन के भीतर गए। उन लोगों ने श्रीरामचन्द्र जी का मुख-मण्डल, ग्रहण लगे हुए चन्द्रमा की तरह अथवा अस्तोन्मुख सूर्य की तरह मलिन देखा। उन बुद्धिमानों ने श्रीरामचन्द्र जी की आँखों में आँसू देखे। शोभाहीन कमलपुष्प की तरह श्री रामचन्द्र जी का मुख निहार, उन लोगों ने ॥ १५ ॥ १६ ॥

ततोऽभिवाद्य त्वरिताः पादौ रामस्य मूर्धभिः ।
तस्थुः समाहिताः सर्वे रामस्त्वश्रूण्यवर्तयत् ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चरणों पर माथा टेक उनको प्रणाम किया। तदनन्तर वे हाथ जोड़े खड़े रहे। किन्तु उस समय श्रीरामचन्द्र जी केवल आँखों से आँसू बहाते रहे ॥ १७ ॥

तान्परिष्वज्य बाहुभ्यामुत्थाप्य च महाबलः ।
आसनेष्वासतेत्युक्त्वा ततो वाक्यं जगाद ह ॥ १८ ॥

(कुछ देर बाद) श्रीरामचन्द्र जी ने दोनों भुजाओं से सब को गले लगाया और उनसे आसनों पर बैठने को कहा। तदनन्तर वे बोले ॥ १८ ॥

भवन्तो मम सर्वस्वं भवन्तो जीवितं मम ।
भवद्भिश्च कृतं राज्यं पालयामि नरेश्वराः ॥ १९ ॥

हे नरवरो! आप लोग मेरे सर्वस्व हैं। आप लोग मेरे जीवनाधार हैं। आपही के सम्पादित राज्य का मैं पालन करता हूँ॥ १९ ॥

भवन्तः कृतशास्त्रार्था बुद्ध्या च परिनिष्ठिताः ।
सम्भूय च मदर्थोऽयमन्वेष्टव्यो नरेश्वराः ॥ २० ॥

आप लोग शास्त्रों में निष्णात और बड़े चतुर हैं। आप लोगों की समझ अच्छी है। अतः आप लोग मिल कर, मैं जो कहता हूँ, उस पर विचार करें॥ २० ॥

तथा वदति काकुत्स्थे अवधानपरायणाः ।
उद्विग्नमनसः सर्वे किंनु राजाऽभिधास्यति ॥ २१ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब तीनों भाई घबड़ा कर, बड़े ध्यान से सोचने लगे कि, देखें महाराज क्या कहते हैं॥ २१ ॥

उत्तरकाण्ड का चवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—⁂—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीनचेतसाम् ।
उवाच वाक्यं काकुत्स्थो मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

जब वे सब कुँवर उदास हो बैठ गए; तब श्रीरामचन्द्र जी ने सूखे मुँह से कहा—॥ १ ॥

सर्वे शृणुत भद्रं वो मा कुरुध्वं मनोऽन्यथा ।
पौराणां मम सीतायां यादृशी वर्तते कथा ॥ २ ॥

हे भाइयो ! तुम लोगों का भला हो । मैं जो कुछ कहूँ उसके विपरीत मत चलना । मेरी सीता के बारे में पुरवासियों का जो मत है, उसे आप सब सुनें ॥ २ ॥

पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।
वर्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति ॥ ३ ॥

पुरवासियों और जनपदवासियों में मेरे बारे में ऐसा भयानक अपवाद फैला हुआ है, जो मेरे मर्मस्थलों को विदीर्ण करे डालता है ॥ ३ ॥

अहं किल कुले जात इक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
सीताऽपि सत्कुले जाता जनकानां महात्मनाम् ॥ ४ ॥

देखो, मैं महात्मा इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुआ हूँ और सीता भी महात्मा जनक के कुलीनवंश की है ॥ ४ ।

जानासि त्वं यथा सौम्य दण्डके विजने वने ।
रावणेन हृता सीता स च विध्वंसितो मया ॥ ५ ॥

हे सौम्य लक्ष्मण ! तुम तो यह जानते ही हो कि, दण्डकारण्य में रावण जानकी को हर ले गया था । सो उस दुरात्मा का तो सर्वनाश मैंने कर ही डाला ॥ ५ ॥

तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना जनकस्य सुतां प्रति ।
अत्रोषितामिमां सीतामानयेयं कथं पुरीम् ॥ ६ ॥

लङ्का ही में मेरे मन में यह बात खटकी थी कि, राक्षस के घर में रही हुई सीता को मैं अपने नगर में कैसे ले चलूँ ॥ ६ ॥

प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनं तदा ।
प्रत्यक्षं तव सौमित्रे देवानां हव्यवाहनः ॥७ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम्हारी आँखों देखी बात है कि, मुझे (अपने सतीत्व का) विश्वास कराने के लिए सीता ने दहकती हुई आग में प्रवेश किआ था। तब हव्यवाहन अग्निदेव ने प्रकट हो ॥ ७ ॥

अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः ।
चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां सन्निधौ पुरा ॥ ८ ॥
ऋषीणां चैव सर्वेषामपापां जनकात्मजाम् ।
एवं शुद्धसमाचारा देवगन्धर्वसन्निधौ ॥ ६ ॥

तथा आकाशस्थित वायु ने सीता को दोषरहित बतलाया था। देवताओं और ऋषियों के सामने चन्द्र और सूर्य ने भी जानकी के पापरहित होने ही की बात कही थी। ऐसी शुद्ध चरित्र वाली सीता को देवता और गन्धर्वों के सामने ॥८॥६॥

लङ्काद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेदिता ।
अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम् ॥१०॥

लङ्का मे इन्द्र ने मेरे हाथ मे सौंपा था। इसके अतिरिक्त मेरा अन्तरात्मा भी यही कहता है कि, यशस्विनी सीता शुद्ध है ॥ १० ॥

ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः ।
अयं तु मे महान् वादः शोकश्च हृदि वर्तते ॥ ११ ॥

इसीसे मैं उसे अयोध्या में ले आया था। किन्तु अब यह महापवाद मुझको बड़ा सता रहा है॥ ११॥

पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च।
अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित्॥ १२॥

पुरवासी और जनपदवासी मेरी बड़ी निन्दा करते हैं। लोक मे जिसकी निन्दा या वदनामी फैल जाती है॥ १२॥

पतत्येवाधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते।
अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते॥ १३॥

वह व्यक्ति, जब तक उसकी वह अकीर्ति फैली रहती है, तब तक अधम लोकों में पड़ा रहता है। देवता भी अकीर्ति—(बदनामी) को बुरा बतलाते हैं। कीर्तिमान का सर्वत्र बड़प्पन समझा जाता है॥ १३॥

कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम्।
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः॥ १४॥

अतः महात्मा लोग कीर्तिसम्पादन के लिए सब प्रकार से उपाय किया करते हैं। हे पुरुषश्रेष्ठों! मैं अपने जीवन को और तुम लोगों तक को॥ १४॥

अपवादभयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्।
तस्माद्भवन्तः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे॥ १५॥

अपवाद के भय से भीत हो परित्याग कर सकता हूँ। फिर सीता की तो बात ही क्या है। आप लोग देखें, मैं इस समय अकीर्ति रूपी शोकसागर में डूब रहा हूँ॥ १५॥

न हि पश्याम्यहं भूतं किञ्चिद्दुःखमतोऽधिकम् ।
श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ॥ १६ ॥

इससे अधिक दु.ख तो मुझे अन्य किसी भी प्राणी में नहीं देख पड़ता । हे लक्ष्मण ! तुम कल सवेरे सुमन्त्र से रथ जुतवा कर ॥ १६ ॥

आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज ।
गङ्गायस्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥ १७ ॥

और उस पर सीता को सवार करा मेरे राज्य के बाहिर छोड़ आओ । गङ्गा जी के उस पार महर्षि वाल्मीकि जी का ॥ १७ ॥

आश्रमो दिव्यसङ्काशस्तमसातीरमाश्रितः ।
तत्रैनां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन ॥ १८ ॥

तमसा नदी के तट पर दिव्य आश्रम है । हे लक्ष्मण ! तुम उसी जनशून्य वन मे सीता को छोड़ कर, ॥ १८ ॥

शीघ्रमागच्छ ※सौमित्रे कुरुष्व वचनं मम ।
न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथञ्चन ॥ १६ ॥

शीघ्र लौट आना । हे लक्ष्मण ! तुम इतना मेरा कहना करो और सीता के बारे मे मुझसे अब कुछ भी मत कहना ॥ १६ ॥

तस्मात्त्वं गच्छ सौमित्रे नात्र कार्या विचारणा ।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत् प्रतिवारिते ॥ २० ॥

हे लक्ष्मण ! अब तुम जाओ और इस बारे मे भले बुरे का विचार मत करो । यदि तुम इसके लिए मुझे रोकोगे, तो मैं बहुत अप्रसन्न होऊँगा ॥ २० ॥

※पाठान्तरे—"भद्र ते ।"

शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च ।
ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथञ्चन ।
अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात् ॥ २१ ॥

मैं तुम्हें अपने दोनों चरणों की और प्राणों की शपथ दिलाता हूँ कि, इस बार में तुम किसी प्रकार का अनुनय विनय मुझसे मत करना। यदि करोगे तो मेरे अभीष्टकार्य में बाधा पड़ेगी और मैं तुम्हें सदा अपना अहितकारी समझूँगा ॥ २१ ॥

मानयन्तु भवन्तो मां यदि मच्छासने स्थिताः ।
इतोद्य नीयतां सीता कुरुष्व वचनं मम ॥ २२ ॥

यदि तुम लोग मेरी आज्ञा मानते हो तो मैं जो कहूँ सो करो। मैं कहता हूँ सीता को यहाँ से ले जा कर मेरी आज्ञा पूरी करो ॥ २२ ॥

पूर्वमुक्तोऽहमनया गङ्गातीरेऽहमाश्रमान् ।
पश्येयमिति तस्याश्च कामः संवर्त्यतामयम् ॥ २३ ॥

इसके पूर्व एक बार सीता ने मुझसे कहा भी था कि, मैं श्रीगङ्गातटवासी मुनियो के आश्रमों को देखना चाहती हूँ। अतः ऐसा करने से उसका मन भी रह जायगा ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो बाष्पेण [२]पिहितेक्षणः ।
[३]संविवेश स धर्मात्मा [१]भ्रातृभिःपरिवारितः ।
[४]शोकसंविग्नहृदयो निशश्वास यथा द्विपः ॥ २४ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

---

१ भ्रातृभिः परिवारितः—भ्रातॄन् विसृज्य स्ववेश्म प्रविवेशेत्यर्थः । (गो०) २ पाठान्तरे—"पिहिताननः ।" ३ पाठान्तरे—"प्रविवेश ।" ४ पाठान्तरे—"शोकसंलग्नहृदयो ।"

यह कहते कहते श्रीरामचन्द्र जी के नेत्रों में आँसू भर आए। वे सब को विदा कर स्वयं भी अपने भवन में चले आए। उनका हृदय शोकसन्तप्त हो गया और वे हाथी की तरह लंबी साँस लेने लगे ॥ २४ ॥

उत्तरकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:꙳:—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

ततो रजन्यां व्युष्टायां लक्ष्मणो दीनचेतनः।
सुमन्त्रमब्रवीद्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

जब रात बीती और भोर हुआ; तब उदास और शुष्क-वदन लक्ष्मण जी ने सुमंत्र से कहा ॥ १ ॥

सारथे तुरगान् शीघ्रान् योजयस्व रथोत्तमे।
स्वास्तीर्णं राजवचनात् सीतायाश्चासनं *शुभम् ॥२॥
सीता हि राजवचनादाश्रमं पुण्यकर्मणाम्।
मया नेया महर्षीणां शीघ्रमानीयतां रथः ॥ ३ ॥

हे सारथे! श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा है। तुम शीघ्रगामी घोड़े रथ में जोतो और रथ में सीता जी के बैठने योग्य बिछौना बिछाओ। क्योंकि महाराज के आज्ञानुसार सीता जी को पुण्यकर्मा ऋषियों के आश्रम में ले चलना है। अतः तुम शीघ्र रथ तैयार कर के ले आओ ॥ ३ ॥

---

* पाठान्तरे—" कुरु।"

सुमन्त्रस्तु तथेत्युक्त्वा युक्तं परमवाजिभिः ।
रथं सुरुचिरप्रख्यं स्वास्तीर्णं सुखशय्यया ॥४॥

अनीयोवाच सौमित्रिं मित्राणां मानवर्धनम् ।
रथोऽयं समनुप्राप्तो यत्कार्यं क्रियतां प्रभो ॥ ५ ॥

सुमंत्र—"जो आज्ञा" कह कर और रथ में उत्तम घोड़े जोत तथा सुखदायी मुलायम विछौना विछा, रथ ले आए और मित्रों का मान वढ़ाने वाला लक्ष्मण जी से वोले—हे प्रभो ! रथ तैयार है, अव जो काम करना हो सो कीजिए ॥ ४ ॥ ५ ॥

एवमुक्तः सुमन्त्रेण राजवेश्मनि लक्ष्मणः ।
प्रविश्य सीतामासाद्य व्याजहार नरर्षभः ॥ ६ ॥

नरश्रेष्ठ लक्ष्मण जी सुमंत्र के यह वचन सुन, राजभवन में सीता जी के निकट जा उनसे वोले ॥ ६ ॥

त्वया किलैप नृपतिर्वरं वै याचितः प्रभुः ।
नृपेण च प्रतिज्ञातमाज्ञप्तश्चाश्रमं प्रति ॥ ७ ॥

हे वैदेहि ! तुमने श्रीमहाराज से श्रीगङ्गातटवासी ऋषियों के आश्रमों को देखने की प्रार्थना की थी और उन्होंने आपकी प्रार्थना मान कर आपको आश्रमों को दिखाना स्वीकार किया था । अत: महाराज ने इस समय आपको ले जाने के लिए मुझको आज्ञा दी है ॥ ७ ॥

गङ्गातीरे मया देवि ऋषीणामाश्रमान् शुभान् ।
शीघ्रं गत्वा तु वैदेहि शासनात् पार्थिवस्य नः ॥ ८ ॥

अतः हे देवि! आप श्रीगङ्गातटवासी ऋषियों के पवित्र आश्रमों को देखने के लिये चलिये। मैं महाराज की आज्ञा से आपको शीघ्र ॥ ८ ॥

अरण्ये मुनिभिर्जुष्टे अवनेया भविष्यसि।
एवमुक्ता तु वैदेही लक्ष्मणेन महात्मना॥ ९ ॥

मुनिसेवित वन में ले चलूँगा। महात्मा लक्ष्मण जी के ऐसा कहने पर, सीता जी ॥ ९ ॥

प्रहर्षमतुलं लेभे गमनं चाप्यरोचयत्।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥१०॥

अत्यन्त हर्षित हो जाने को तैयार हो गईं। उन्होंने (मुनि पत्नियों को देने के लिए) मूल्यवान् वस्त्र और विविध प्रकार रत्न के अपने साथ लिए ॥ १० ॥

गृहीत्वा तानि वैदेही गमनायोपचक्रमे।
इमानि मुनिपत्नीनां दास्याम्याभरणान्यहम्॥ ११ ॥

इस प्रकार यात्रा की तैयारी कर, उन्होंने लक्ष्मण जी से कहा—हे लक्ष्मण! मैं मुनिपत्नियों को ये बहुमूल्य आभरण दूँगी ॥ ११ ॥

वस्त्राणि च महार्हाणि धनानि विविधानि च।
सौमित्रिस्तु यथेत्युक्त्वा रथमारोप्य मैथिलीम् ॥ १२ ॥

इनके अतिरिक्त बढ़िया वस्त्र और विविध प्रकार के रत्नादि मैं दान करूँगी। लक्ष्मण जी ने "बहुत अच्छी बात है," कह कर सीता जी को रथ पर बैठाया ॥ १२ ॥

प्रययौ शीघ्रतुरगं रामस्याज्ञामनुस्मरन् ।
अब्रवीच्च तदा सीता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १३ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा को स्मरण कर, वे शीघ्र चलने वाले घोड़ों के रथ में बैठ चल दिए। उस समय सीता जी ने कान्तिवान् लक्ष्मण जी से कहा ॥ १३ ॥

अशुभानि बहून्येव पश्यामि रघुनन्दन ।
नयनं मे स्फुरत्यद्य गात्रोत्कम्पश्च जायते ॥ १४ ॥

हे रघुनन्दन ! इस यात्रा में मुझे बड़े बड़े अशकुन देख पड़ते हैं। देखो, इस समय मेरी दहिनी आँख फड़क रही है और मेरा शरीर काँप रहा है ॥ १४ ॥

हृदयं चैव सौमित्रे अस्वस्थमिव लक्षये ।
औत्सुक्यं परमं चापि अधृतिश्च परा मम ॥ १५ ॥

हे लक्ष्मण ! मुझे अपना हृदय भी रोगग्रस्त मनुष्य जैसा जान पड़ता है। मुझे बड़ी उत्कण्ठा भी हो रही है और महान् अधैर्य से मैं विकल हूँ ॥ १५ ॥

शून्यामेव च पश्यामि पृथिवीं पृथुलोचन ।
अपि स्वस्ति भवेत्तस्य भ्रातुस्ते भ्रातृवत्सल ॥ १६ ॥

हे विशाललोचन ! मुझे यह पृथिवी सुखशून्य देख पड़ती है। हे भ्रातृवत्सल ! क्या तुम्हारे बड़े भाई का तो कोई अमङ्गल नहीं हुआ ? ॥ १६ ॥

श्वश्रूणां चैव मे वीर सर्वासामविशेषतः ।
पुरे जनपदे चैव कुशलं प्राणिनामपि ॥ १७ ॥

पाठान्तरे—"शीघ्रतुरगैः ।"

हे वीर! विशेष कर मेरी सासें तो सब प्रकार से प्रसन्न हैं? पुरवासी और जनपदवासी तो सब सकुशल हैं? ॥ १७ ॥

इत्यञ्जलिकृता सीता देवता अभ्ययाचत।
लक्ष्मणोऽर्थं*ततः श्रुत्वा शिरसा वन्द्य मैथिलीम् ॥१८॥

यह कह सीता जी हाथ जोड़ कर, देवताओं की मनौती मनाने लगीं। तब सीता जी की सब बातें सुन, लक्ष्मण जी ने सिर झुका कर, सीता जी को प्रणाम किया ॥ १८ ॥

शिवमित्यब्रवीद्धृष्टो हृदयेन विशुष्यता।
ततो वासमुपागम्य गोमतीतीर आश्रमे ॥ १९ ॥

और हृदय के भाव को हृदय ही में दबा कर, बनावटी प्रसन्नता प्रकट कर बोले—हे देवि! सब मङ्गल है। तदनन्तर जाते जाते लक्ष्मण जी गोमती के तीरवर्ती आश्रम में पहुँचे और रात भर वहीं रहे ॥ १९ ॥

प्रभाते पुनरुत्थाय सौमित्रिः सूतमब्रवीत्।
योजयस्व रथं शीघ्रमद्य भागीरथीजलम् ॥ २० ॥

सवेरा होने पर लक्ष्मण जी ने उठ कर, सुमंत्र से कहा शीघ्र रथ जोतो। आज मैं भागीरथी का जल ॥ २० ॥

शिरसा धारयिष्यामि त्रियम्बक इवौजसा।
सोऽश्वान् विचारयित्वा तु रथे युक्तान् मनोजवान् ॥२१॥

---

१ विचारयित्वा रथेयुक्तानश्वान्विचारयित्वा, अतिचाञ्चल्य-किञ्चिन्निवृत्तये इतस्ततः सञ्चाल्य। (शि०)

*पाठान्तरे—"तु तं।" पाठान्तरे—"अनल पवने यथा।"

श्री शिव जी की तरह अपने मस्तक पर धारण करूँगा (अर्थात् गङ्गा स्नान करूँगा। यह आज्ञा पाकर, सुमंत्र ने मन के समान वेगवान औरचञ्चल घोड़ों को घुमा फिरा कर, रथ में जोता ॥ २१ ॥

आरोहस्वेति वैदेहीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
सा तु सूतस्य वचनादारुरोह रथोत्तमम् ॥ २२ ॥

और हाथ जोड़ कर जनकनन्दिनी से कहा कि, आप रथ पर सवार हों। सुमंत्र के कहने से सीता जी रथ पर जा बैठीं ॥ २२ ॥

सीता सौमित्रिणा सार्धं सुमन्त्रेण च धीमता ।
आससाद विशालाक्षी गङ्गां पापविनाशिनीम् ॥ २३ ॥

जानकी जी, लक्ष्मण जी और बुद्धिमान् सुमंत्र; तीनों उस रथ पर बैठ कर वहाँ से रवाना हुए। चलते चलते विशालाक्षी जानकी गङ्गा के तट पर जा पहुँची ॥ २३ ॥

अथार्धदिवसं गत्वा भागीरथ्या जलाशयम् ।
निरीक्ष्य लक्ष्मणो दीनः प्ररुरोद महास्वनः ॥ २४ ॥

(सवेरे के चले हुए) लक्ष्मण जी (जानकी सहित) दोपहर होते होते भागीरथी श्रीगङ्गा जी के तट पर पहुँचे। श्रीगङ्गा जी को देख, लक्ष्मण अपने को न सम्हाल सके। वे दुखी हो जोर से रोने लगे ॥ २४ ॥

सीता तु परमायत्ता दृष्ट्वा लक्ष्मणमातुरम् ।
उवाच वाक्यं धर्मज्ञा किमिदं रुद्यते त्वया ॥ २५ ॥

तब धर्मज्ञा सीता जी लक्ष्मण जी को आतुर देख अत्यन्त दुःखी हो उनसे बोलीं कि, हे लक्ष्मण! तुम रोते क्यों हो? ॥ २५ ॥

जाह्नवीतीरमासाद्य चिराभिलषितं मम ।
हर्षकाले किमर्थं मां विषादयसि लक्ष्मण ॥ २६ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरी बहुत दिनों से अभिलाषा थी कि मैं गङ्गा जी के तीर पर चलूँ, मैं आज यहाँ आई हूँ। सो इससे तो तुमको इस समय हर्षित होना था। इसके विपरीत तुम रो रो कर मुझे दुःखी क्यों कर रहे हो ॥ २३ ॥

नित्यं त्वं रामपार्श्वेषु वर्तसे पुरुषर्षभ ।
कच्चिद्विनाकृतस्तेन द्विरात्रं शोकमागतः ॥ २७ ॥

तुम सदा श्रीरामचन्द्र जी के पास रहते हो, अतएव क्या दो दिन का अन्तर पड़ने से तुमको विषाद हो रहा है ॥ २७ ॥

ममापि दयितो रामो जीवितादपि लक्ष्मण ।
न चाहमेवं शोचामि मैवं त्वं बालिशो भव ॥ २८ ॥

हे लक्ष्मण ! यद्यपि श्रीराम जी तो मुझको अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं; तथापि मैं तो दुखी नहीं होती। अतः तुम ऐसा लड़कपन (मूर्खता) मत करो ॥ २८ ॥

तारयस्व च मां गङ्गां दर्शयस्व च तापसान् ।
ततो मुनिभ्यो दास्यामि वासांस्याभरणानि च ॥२९॥

तुम मुझे गङ्गा के उस पार ले चलो और वहाँ मुझे तपस्वियों के दर्शन कराओ। जिससे मैं उनको वस्त्राभरण भेंट करूँ ॥ २९ ॥

ततः कृत्वा महर्षीणां *यथार्हमभिवादनम् ।
तत्र चैकां निशामुष्य यास्यामस्तां पुरीं पुनः॥३० ॥

---

* पाठान्तरे— "यथावदभिवादनम् ।"

और उन महर्षियों को यथायोग्य प्रणाम करूँ। तदनन्तर एक रात वहाँ रह कर, अयोध्यापुरी को लौट चलूँ ॥ ३० ॥

ममापि पद्मपत्राक्षं सिंहोरस्कं कृशोदरम् ।
त्वरते हि मनो द्रष्टुं रामं रमयतां वरम् ॥ ३१ ॥

क्योंकि मेरा मन भी उन कमलनयन, सिंह की तरह छाती वाले, कृशोदर, पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिए उतावला हो रहा है ॥ ३१ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा प्रमृज्य नयने शुभे ।
नाविकानाह्वयामास लक्ष्मणः परवीरहा ।
इयं च सज्जा नौश्चेति दाशाः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ॥ ३२ ॥

सीता जी के ये वचन सुन कर, रिपुनाशकारी लक्ष्मण जी ने अपने दोनों सुन्दर नेत्र पोंछे और मल्लाहों को बुलाया। बुलाते ही वे आए और हाथ जोड़ कर बोले कि, महाराज ! नाव तैयार है ॥ ३२ ॥

तितीर्षुर्लक्ष्मणो गङ्गां शुभां नावमुपारुहत् ।
गङ्गां सन्तारयामास लक्ष्मणस्तां समाहितः ॥ ३३ ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

पुण्यसलिला जाह्नवी के पार होने की इच्छा से लक्ष्मण जी, सीता सहित नाव पर बैठे और बड़ी सावधानी से वे गङ्गा के पार पहुँच गए ॥ ३३ ॥

उत्तरकाण्ड का छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।
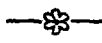
—:-※-:—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

[टिप्पणी—यद्यपि ४६ वें सर्ग को समाप्त करते हुए आदिकवि ने एक ही श्लोक में लक्ष्मण का श्रीगङ्गा जी के पार होना लिख दिया है, तथापि इस सर्ग में श्रीगङ्गा जी के पार होने का वर्णन विस्तार से किया है।]

अथ नावं सुविस्तीर्णां नैषादीं राघवानुजः ।
आरुरोह समायुक्तां पूर्वमारोप्य मैथिलीम् ॥ १ ॥

मल्लाहों की लाई हुई सजी सजायी बड़ी नाव पर पहिले जानकी जी को बैठा, फिर लक्ष्मण जी स्वयं उस पर सवार हुए ॥ १ ॥

सुमन्त्रं चैव सरथं स्थीयतामिति लक्ष्मणः ।
उवाच शोकसन्तप्तः प्रयाहीति च नाविकम् ॥ २ ॥

तदनन्तर सुमंत्र से कहा—"तुम रथ सहित इसी पार रहो।" फिर शोकाकुल हो मल्लाहों से कहा कि—"नाव चलाओ" ॥ २ ॥

ततस्तीरमुपागम्य भागीरथ्याः स लक्ष्मणः ।
उवाच मैथिलीं वाक्यं प्राञ्जलिर्बाष्पसंवृतः ॥ ३ ॥

श्रीगङ्गा जी के उस पार पहुँच कर, लक्ष्मण जी आँखों में आँसू भर, गद्गद कण्ठ से सीता जी से बोले ॥ ३ ॥

हृद्गतं मे महच्छल्यं यस्मादार्येण धीमता ।
अस्मिन्निमित्ते वैदेहि लोकस्य वचनीकृतः ॥ ४ ॥

हे विदेहकुमारी ! ऐसे बुद्धिमान महाराज ने इस निन्द्यकर्म में मुझे नियुक्त कर, मुझे संसार में निन्दा का पात्र बनाया है। इसलिए यह कार्य मेरे हृदय में काँटे की तरह चुभ रहा है ॥ ४ ॥

श्रेयो हि मरणं मेऽद्य मृत्युर्वा यत्परं भवेत् ।
नचास्मिन्नीदृशे कार्ये नियोज्यो लोकनिन्दिते ॥ ५ ॥

ऐसे लोकनिन्दित काम करने की अपेक्षा तो, यदि मैं मर जाता तो बहुत ही अच्छा था। मेरे लिए बड़ा अच्छा होता, यदि मैं इस जजाल में न फाँसा जाता ॥ ५ ॥

प्रसीद च न मे पापं कर्तुमर्हसि शोभने ।
इत्यञ्जलिकृतो भूमौ निपपात स लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

हे शोभने ! तुम प्रसन्न हो। तुम मुझे दोष मत देना। यह कह कर लक्ष्मण जी हाथ जोड़े हुए, ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

रुदन्तं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा काङ्क्षन्तं मृत्युमात्मनः ।
मैथिली भृशसंविग्ना लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

जब लक्ष्मण जी हाथ जोड़े, पृथिवी पर गिर कर अपना मरना मनाने लगे, तब सीता ने लक्ष्मण जी की ऐसी दशा देख, अत्यन्त घबड़ा कर उनसे कहा ॥ ७ ॥

किमिदं नावगच्छामि ब्रूहि तत्त्वेन लक्ष्मण ।
पश्यामि त्वां न च स्वस्थमपि क्षेमं महीपतेः ॥ ८ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरी समझ में नहीं आता कि, बात क्या है ? मुझे साफ साफ बतलाओ। मैं देखती हूँ कि, तुम अति विकल हो। सो महाराज तो सकुशल है ? ॥ ८ ॥

शापितोसि नरेन्द्रेण यत्त्वं सन्तापमागतः ।
तद्ब्रूयाः सन्निधौ मह्यमहमाज्ञापयामि ते ॥ ९ ॥

हे वत्स ! तुमको महाराज की शपथ है। बतलाओ तुम्हारे इस प्रकार सन्तप्त होने का कारण क्या है ? मैं तुम्हें आज्ञा देती हूँ ॥ ९ ॥

वैदेह्या चोद्यमानस्तु लक्ष्मणो दीनचेतनः ।
अवाङ्मुखो *बाष्पगलो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १० ॥

जब सीता जी ने इस प्रकार शपथ दी, तब लक्ष्मण जी बड़े दीन हो, नीचे को मुँह कर, गद्‌गद् कण्ठ से यह बोले ॥१०॥

श्रुत्वा परिषदो मध्ये ह्यपवादं सुदारुणम् ।
पुरे जनपदे चैव त्वत्कृते जनकात्मजे ॥ ११ ॥

हे जनकनन्दिनी ! राजधानी और राज्य भर में तुम्हारे संबंध में जो महादारुण अपवाद फैला हुआ है, उसे सभा में सुन, ॥ ११ ॥

रामः सन्तप्तहृदयो मां निवेद्य गृहं गतः ।
न तानि वचनीयानि मया देवि तवाग्रतः ॥ १२ ॥

श्रीरामचंद्र जी बड़े दुःखी हुए और मुझे समस्त वृत्तान्त बतला राजभवन में चले गए। हे देवि ! वे सब बातें, तुम्हारे सामने कहने योग्य नहीं हैं ॥ १२ ॥

यानि राज्ञा हृदि न्यस्तान्यमर्षात् पृष्ठतः कृतः ।
सा त्वं त्यक्ता नृपतिना निर्दोषा मम सन्निधौ ॥ १३ ॥

महाराज ने उनको अपने मन ही में छिपा कर रखा है। मैंने उन्हें सुना अनसुना कर दिया है। (उन बातों का सारांश यह है कि) महाराज ने तुम्हारा त्याग किया है। किन्तु मेरी

* पाठान्तरे—"बाष्पकलं ।"

दृष्टि में तुम सर्वथा निर्दोष हो अथवा महाराज ने मेरे सामने तुमको निर्दोष बतलाया है ॥ १३ ॥

पौरापवादभीतेन ग्राह्यं देवि न तेऽन्यथा ।
आश्रमान्तेषु च मया त्यक्तव्या त्वं भविष्यसि ॥१४॥

परन्तु वे पुरवासियों के अपवाद से डरते हैं। तुम और कुछ न समझो। मैं तुमको यहाँ आश्रम के समीप छोड़ जाऊँगा ॥ १४ ॥

राज्ञः *शासनमादाय तथैव किल दौर्हृदम् ।
तदेतज्जाह्नवीतीरे ब्रह्मर्षीणां तपोवनम् ॥ १५ ॥

क्योंकि राजा की आज्ञा और गर्भिणी स्त्री की अभिलाषा अवश्य पूरी करनी चाहिये। अतः श्रीगङ्गा जी के तट पर ब्रह्मर्षियों के तपोवन में ॥ १५ ॥

पुण्यं च रमणीयं च मा विषादं कृथाः शुभे ।
राज्ञो *दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥
सखा परमको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशाः ।
पादच्छायामुपागम्य सुखमस्य महात्मनः ।
उपवासपरैकाग्रा वस त्वं जनकात्मजे ॥ १७ ॥

जो अतिरम्य और पवित्र है, मैं तुमको त्यागूँगा। तुम यहाँ रहना और शोक न करना। हे शुभे ! मेरे पिता महाराज दशरथ के मुनिश्रेष्ठ, महायशस्वी विप्र वाल्मीकि बड़े मित्र हैं। हे सीते ! अतः तुम उन्हीं महात्मा के चरणों में पहुँच, सावधानता पूर्वक उनकी सेवा करती हुई सुख से रहना ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

* पाठान्तरे—"शासनमाज्ञाय तवेद ।"

* पाठान्तरे—"दशरथस्येष्टः ।"

[टिप्पणी—महर्षि वाल्मीकि के लिए "विप्र" एवं "महायशस्वी" का विशेषण देना और उनको अपने पिता का मित्र बतलाना यह प्रकट करता है कि, सीता का वाल्मीकि के पास रहना अपवादमूलक न होगा।]

पतिव्रतात्वमास्थाय रामं कृत्वा सदा हृदि।
श्रेयस्ते परमं देवि तथा कृत्वा भविष्यति ॥ १८ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे सीते! तुम श्रीरामचंद्र जी का अपने हृदय में ध्यान करती हुई, पातिव्रतधर्म का पालन करना। बस इससे तुम्हारा परम कल्याण होगा ॥ १८ ॥

उत्तरकाण्ड का सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:❀:—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दारुणं जनकात्मजा।
परं विषादमागम्य वैदेही निपपात ह ॥ १ ॥

जनकनन्दिनी महारानी वैदेही जी, लक्ष्मण जी के मुख से इन कठोर वचनों को सुन कर, अत्यन्त दुःखी हुई और पृथिवी पर गिर पड़ीं ॥ १ ॥

सा मुहूर्तमिवासंज्ञा बाष्पपर्याकुलेक्षणा।
लक्ष्मणं दीनया वाचा उवाच जनकात्मजा ॥ २ ॥

वे कुछ देर अचेत रह कर उठीं और आँखों में आँसू भर कर एवं दीन हो लक्ष्मण जी से कहने लगीं ॥ २ ॥

मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण ।
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्तिः प्रदृश्यते ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! विधाता ने मेरा शरीर दुःख भोगने ही के लिए बनाया है। इसीसे आज दुःख मुझे मूर्ति धारण कर दिखाई देता है ॥ ३ ॥

किंनु पापं कृतं पूर्वं को वा दारैर्वियोजितः ।
याऽहं शुद्धसमाचारा त्यक्ता नृपतिना सती ॥ ४ ॥

नहीं मालूम, पूर्वजन्म में मैंने कौन पाप किआ था, अथवा किसका स्त्री से वियोग करवाया था, जिसके फलस्वरूप मेरे शुद्ध चरित्रा और पतिव्रता होने पर भी, मेरे पति से मेरा वियोग करवाया जाता है ॥ ४ ॥

पुराऽहमाश्रमे वासं रामपादानुवर्तिनी ।
अनुरुध्यापि सौमित्रे दुःखे च परिवर्तिनी ॥ ५ ॥

पहिले भी श्रीरामचंद्र के साथ वन में वास कर, श्रीरामचंद्र के चरणों की सेवा की। किन्तु हे लक्ष्मण ! आश्रम में रह कर दुःख झेलते हुए भी, मैंने स्वामी के संग रहने के कारण उन दुःखों को सुख ही माना ॥ ५ ॥

सा कथं ह्याश्रमे सौम्य वत्स्यामि विजनी कृता ।
आख्यास्यामि च कस्याहं दुःखं दुःखपरायणा ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! अब मैं इस जनशून्य आश्रम में कैसे रह सकूँगी ? मैं महादुःखियारी किसके आगे अपना दुःख रोऊँगी ॥ ६ ॥

किंनु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो ।
कस्मिन् वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! ऋषियों के पूछने पर मैं उनको क्या उत्तर दूँगी ? क्योंकि मैंने तो कोई दुष्कर्म किया नहीं। फिर मैं उनसे महात्मा श्रीरामचन्द्र द्वारा अपना परित्याग किये जाने का क्या कारण बताऊँगी ॥ ७ ॥

न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते ॥ ८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तो श्रीगङ्गा में कूद कर अपने प्राण गवाँ देती। पर ऐसा भी तो मैं नहीं कर सकती। क्योंकि यदि मैं ऐसा करूँ तो राजवंश का और मेरे पति का परिहास होगा ॥ ८ ॥

यथाज्ञं कुरु सौमित्रे त्यज्य मां दुःखभागिनीम्।
निदेशे स्थीयतां राज्ञः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९ ॥

हे सुमित्रानन्दन ! तुम उनकी आज्ञा के अनुसार ही काम करो। मुझ दुःखियारी को यहाँ छोड़ जाओ। किन्तु अब मैं जो कहती हूँ उसे सुनो ॥ ९ ॥

श्वश्रूणामविशेषेण प्राञ्जलिप्रग्रहेण च।
शिरसा वन्द्य चरणौ कुशलं ब्रूहि पार्थिवम् ॥ १० ॥

पहिले तो विशेष कर मेरी ओर से हाथ जोड़ कर और चरणों में माथा टेक कर, मेरी सब सासों से और फिर महाराज से कुशल पूछना ॥ १० ॥

शिरसाभिनतो ब्रूयाः सर्वासामेव लक्ष्मण।
वक्तव्यश्चापि नृपतिर्धर्मेषु सुसमाहितः ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण ! सबको सिर झुका कर मेरा प्रणाम कहना और अपने धर्म में सदा सावधान रहने वाले महाराज से कहना ॥ ११ ॥

जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव ।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः ॥१२॥

हे, रघुनन्दन ! तुमको तो भली भाँति मालूम ही है कि, तुम्हारी सीता शुद्धचरित्रा है और सदा तुममें भक्ति रखती हुई तुम्हारा हित चाहती रहती है ॥ १२ ॥

अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने ।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः ॥ १३ ॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः ।
वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मेण सुसमाहितः ॥ १४ ॥

हे वीर ! तुमने अपवाद के भय से मेरा परित्याग किआ है। यदि मुझे त्यागने से तुम्हारा अपवाद नष्ट होता हो, तो मुझे यह भी स्वीकार है। क्योंकि मेरे लिए तो तुम्ही मेरी परमगति हो। यह बात तुम धर्म में सदा सावधान रखने वाले, महाराज से कह देना ॥ १३ ॥ १४ ॥

यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा ।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात् कीर्तिरनुत्तमा ॥ १५ ॥

(महाराज को) जैसे तुम भाइयों के साथ व्यवहार करते हो वैसे ही पुरवासियों के साथ व्यवहार करना। यही तुम्हारा कर्त्तव्य है। इसीसे तुमको उत्तम से उत्तम कीर्त्ति प्राप्त होगी ॥१५॥

यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात् ।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ ॥ १६ ॥

(लक्ष्मण यह भी कह देना कि) जैसे हो वैसे पुरवासियों के अपवाद से तुम अपने को बचाओ अथवा धर्मसहित पुरवासियों के साथ व्यवहार करना ही तुम्हारा धर्म है। (इसके साथ ही यह कह देना कि) हे नरश्रेष्ठ ! मुझे अपने शरीर की रत्ती भर भी चिन्ता नहीं है ॥ १६ ॥

यथापवादः पौराणां तथैव रघुनन्दन ।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ॥ १७ ॥

हे रघुनन्दन ! अतएव जिस प्रकार पुरवासियों का अपवाद छूटे तुम वैसा ही करो। (रही मैं सो) नारी के लिए उसका पति ही देवता है, पति ही उसका बन्धु है और पति ही उसका गुरु (अर्थात् पूज्य है ॥ १७ ॥

प्राणैरपि प्रियं तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः
इति मद्वचनाद्रामो वक्तव्यो मम संग्रहः ॥ १८ ।

इस लिए स्त्री को चाहिए कि, अपने प्राण का दाँव लगा कर भी, पति का मनचाहा कार्य करे। हे लक्ष्मण ! मेरा यह संदेसा जाकर तुम महाराज से कह देना ॥ १८ ॥

[टिप्पणी—माता सीता ने लक्ष्मण द्वारा जो सन्देशा श्रीरामचन्द्र के लिए भेजा है, उसमें ध्यान देने योग्य दो मुख्य बातें हैं—पहली तो यह कि भारतीय प्राचीन कालीन राजा या रानी बड़े से बड़े दुःख में पड़कर भी प्रजा को नहीं भूलते, उनकी भलाई का बड़ा ध्यान रखते थे। दूसरी बात सीता जी ने श्रीरामचन्द्र के इस राजोचित कर्त्तव्य पालन की निन्दा में एक शब्द भी अपने मुख से नहीं निकाला, प्रत्युत उनकी आज्ञा का पालन करवा अपना कर्त्तव्य—सर्वोपरि कर्त्तव्य उद्घोषित किया है। भारत का प्राचीन आदर्श संस्कृति का इस देश में मूर्तिमान रूप देख पड़ता है]

निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतुकालातिवर्तिनीम् ।
एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां लक्ष्मणो दीनचेतनः ॥ १९ ॥

जाओ और यह भी देखते जाओ कि, इस समय मैं गर्भवती हूँ। जब जानकी जी ने ऐसा कहा तब लक्ष्मण जी बड़े दुःखी हुए ॥ १९ ॥

शिरसा वन्द्य धरणीं व्याहर्तुं न शशाक ह ।
प्रदक्षिणं च तां कृत्वा रुदन्नेव महास्वनः ॥ २० ॥

फिर उन्होंने सीता जी को प्रणाम करने के लिए अपना माथा पृथ्वी पर टेका। (कहने की इच्छा रहने पर भी) वे कुछ न कह सके और महारानी को प्रदक्षिणा कर उच्चस्वर से रोने लगे ॥ २० ॥

ध्यात्वा मुहूर्तं तामाह किं मां वक्ष्यसि शोभने ।
दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे ॥ २१ ॥

फिर वे थोड़ी देर वाद कुछ सोच कर कहने लगे—हे शोभने! यह तुम क्या कहती हो ? (कि तुम मुझे देखते जाओ) हे अनघे ! मैंने तो आज तक कभी तुम्हारा रूप नहीं देखा। मेरी दृष्टि तो सदा तुम्हारे चरणों पर ही रही है ॥ २१ ॥

कथमत्र हि पश्यामि रामेण रहितां वने ।
इत्युक्त्वा तां नमस्कृत्य पुनर्नावमुपारुहत् ॥ २२ ॥

फिर मैं श्रीरामचन्द्र जी के पीठ पीछे इस निर्जनवन में किस प्रकार तुमको देख सकता हूँ। यह कह कर और जानकी जी को नमस्कार कर, लक्ष्मण नाव पर चढ़े ॥ २२ ॥

आरुरोह पुनर्नावं नाविकं चाभ्यचोदयत् ।
स गत्वा चोत्तरं तीरं शोकभारसमन्वितः ॥ २३ ॥

फिर नाव पर सवार हो उन्होंने मल्लाह से कहा—नाव उस पार ले चलो। इस पार अत्यन्त दुःखी लक्ष्मण गङ्गा जी के उत्तर तट पर आए ॥ २३ ॥

संमूढ इव दुःखेन रथमध्यारुहद्द्रुतम् ।
मुहुर्मुहुः परावृत्य दृष्ट्वा सीतामनाथवत् ॥ २४ ॥

शोक से विह्वल लक्ष्मण जी तुरन्त रथ पर सवार हुए, किंतु बार बार पीछे की ओर फिर कर अनाथ की तरह (बैठी हुई) जानकी जी को देखते जाते थे ॥ २४ ॥

चेष्टन्तीं परतीरस्थां लक्ष्मणः प्रययावथ ।
दूरस्थं रथमालोक्य लक्ष्मणं च मुहुर्मुहुः ।
निरीक्षमाणां तूद्विग्नां सीतां शोकः समाविशत् ॥२५॥

लक्ष्मण जी ने देखा कि, दुखियारी महारानी सीता गङ्गा के उस पार छटपटा रही हैं। जब सीता जी ने देखा कि, लक्ष्मण जी का रथ धीरे धीरे दूर निकल गया; तब वे और भी अधिक शोकातुर हो गईं ॥ २५ ॥

सा दुःखभारावनता यशस्विनी
यशोधरा नाथमपश्यती सती ।
रुरोद सा बर्हिणनादिते वने
महास्वनं दुःखपरायणा सती ॥ २६ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

फिर दुःखभार में दबी हुई पतिव्रता एवं यशस्विनी सीता, अपने स्वामी श्रीरामचन्द्र जी को न देख कर, मयूरों से शब्दायमान उस वन में बड़े ज़ोर से रोने लगीं ॥ २६ ॥

उत्तरकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❀:—

एकोनपञ्चशः सर्गः

—:०:—

सीतां तु रुदतीं दृष्ट्वा ते तत्र मुनिदारकाः ।
प्राद्रवन्यत्रभगवानास्ते वाल्मीकिरुग्रधीः ॥ १ ॥

अभिवाद्य मुनेः पादौ मुनिपुत्रा महर्षये ।
सर्वे निवेदयामासुस्तस्यास्तु रुदितस्वनम् ॥ २ ॥

उस स्थान के निकट ही मुनिकुमार (खेल रहे) थे। जब उन्होंने सीता को रोते देखा, तब वे सब तुरन्त दौड़ कर, बड़े बुद्धिमान वाल्मीकि जी के पास गए और उनके चरणों में सीस नवा एवं उनको प्रणाम कर उनसे सीता के रोने का हाल कहा ॥ १ ॥ २ ॥

अदृष्टपूर्वा भगवन् कस्याप्येषा महात्मनः ।
पत्नी श्रीरिव संमोहाद्विरौति विकृतानना ॥ ३ ॥

वे बोले—भगवन्! जिसको पहले हम लोगों ने कभः नहीं देखा, वह किसी बड़े आदमी की एक स्त्री बुरा मुँह बना अर्थात् बुरी तरह रो रही है। रूप में वह लक्ष्मी के समान है ॥ ३ ॥

भगवन् साधु पश्येस्त्वं देवतामिव खाच्च्युताम् ।
नद्यास्तु तीरे भगवन् वरस्त्री कापि दुःखिता ॥ ४ ॥

हे महर्षे! आप चल कर उसे गङ्गा के किनारे देखिए। वह स्त्री तो ऐसी जान पड़ती है, मानों स्वर्ग से कोई देवी धराधाम पर उतर आई हो। हे भगवन्! वह कोई सुन्दरी स्त्री बहुत दुखी हो रही है ॥ ४ ॥

दृष्टाऽस्माभिः प्ररुदिता दृढं शोकपरायणा ।
अनर्हा दुःखशोकाभ्यामेका दीना अनाथवत् ॥ ५ ॥

यद्यपि वह दुखी होने और शोक करने योग्य नहीं है, तथापि वह बड़े शोक से विकल है और अनाथ की तरह अकेली उच्चस्वर से रो रही है ॥ ५ ॥

*न ह्येनां मानुषीं विद्मः सत्क्रियाऽस्याः प्रयुज्यताम् ।
आश्रमस्याविदूरे च त्वामियं शरणं गता ॥ ६ ॥

हमें तो वह मनुष्य की स्त्री नहीं जान पड़ती। आप चल कर उसका सत्कार कीजिए। वह आपके आश्रम के निकट ही है। वह बेचारी पतिव्रता आपके शरण में आई है ॥ ६ ॥

त्रातारमिच्छते साध्वी भगवंस्त्रातुमर्हसि ॥ ७ ॥

वह रक्षक की चाहना रखती है, अतः आप उसकी (चल कर) रक्षा कीजिए ॥ ७ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा बुद्ध्या निश्चित्य धर्मवित् ।
तपसा लब्धचक्षुष्मान् प्राद्रवद्यत्र मैथिली ॥ ८ ॥

उन मुनिकुमारों की ये बातें सुन और (योगबल से) ध्यान द्वारा सब हाल जान कर, तपःप्रभाव से ज्ञानरूपी चक्षुओं से देखने वाले महर्षि वाल्मीकि, बड़ी शीघ्रता से उस ओर गए, जिस ओर जानकी जी बैठीं (हुई रुदन कर रही थीं) ॥ ८ ॥

तं प्रयान्तमभिप्रेत्य शिष्या ह्येनं महामतिम् ।
तं तु देशमभिप्रेत्य किञ्चित् पद्भ्यां महामतिः ॥९॥

महामतिमान् वाल्मीकि जी को जाने देख, उनके शिष्य भी उनके पीछे लग लिए। ऋषि थोड़ी ही दूर तेज़ी के साथ पैदल चल कर, ॥ ९ ॥

अर्घ्यमादाय रुचिरं जाह्नवीतीरमागमत् ।
ददर्श राघवस्येष्टां सीतां पत्नीमनाथवत् ॥ १० ॥

---

*कतक टीकाकार ने ६ से १० संख्या तक के श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है।

अर्घ्य लिए हुए वे गङ्गातट पर (बैठी हुई जानकी जी के पास] पहुँच गए। वहाँ उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी महारानी जानकी जी को अनाथ की तरह बैठी हुई देखा ॥१०॥

तां सीतां शोकभागार्तां वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः ।
उवाच मधुरां वाणीं ह्लादयन्निव तेजसा ॥ ११ ॥

मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि शोक के मारे विकल सीता जी को अपने तपोवल से हर्षित कर, मधुर वचन बोले ॥ ११ ॥

स्नुषा दशरथस्य त्वं रामस्य महषी प्रिया ।
जनकस्य सुता राज्ञः स्वागतं ते पतिव्रते ॥ १२ ॥

तू दशरथ की पुत्रवधू श्रीरामचन्द्र की प्यारी पटरानी और जनक की पुत्री है। हे पतिव्रते ! मैं तेरा स्वागत करता हूँ ॥१२॥

आयान्ती चासि विज्ञाता मया धर्मसमाधिना ।
कारणं चैव सर्वं मे हृदयेनोपलक्षितम् ॥ १३ ॥

जिस समय तू यहाँ आने को तैयार हुई थी, उसी समय मैंने योगबल से ध्यान द्वारा तेरे त्यागे जाने का कारण आदि समस्त बातें अपने मन में जान ली थीं ॥ १३ ॥

तव चैव महाभागे विदितं मम तत्त्वतः ।
सर्वं च विदितं मह्यं त्रैलोक्ये यद्धि वर्तते ॥ १४ ॥

हे महाभागे ! मैं तेरे शुद्धाचरण को भी भली भाँति जानता हूँ, क्योंकि त्रैलोक्य की सब बातें मुझे (यहाँ बैठे ही योगबल से) मालूम हैं ॥ १४ ॥

अपापां वेद्मि ❀सीते ते तपोलब्धेन चक्षुषा।
विस्रब्धा भव वैदेहि साम्प्रतं मयि वर्तसे ॥ १५ ॥

हे सीते! मैं अपने तप द्वारा प्राप्त दिव्य दृष्टि द्वारा तुझे पापशून्या जानता हूँ। हे जानकी! अब निश्चिन्त हो कर मेरे समीप रह॥ १५॥

आश्रमस्याविदूरे मे तापस्यस्तपसि स्थिताः।
तास्त्वां वत्से यथा वत्सं पालयिष्यन्ति नित्यशः ॥१६॥

मेरे आश्रम के निकट ही अनेक तपस्विनी तप करती हैं। हे बेटी! वे सब अपनी बेटी की तरह तेरा पालन करेंगी॥१६॥

इदमर्घ्यं प्रतीच्छ त्वं विस्रब्धा विगतज्वरा।
यथा स्वगृहमभ्येत्य विषादं चैव मा कृथाः ॥ १७ ॥

यह अर्घ्य ले और अपने मन को सावधान कर, सन्ताप-रहित हो जा और जिस प्रकार तू अपने घर में रहती थी; उसी तरह (बेखटके) यहाँ रह। अब दुखी मत हो॥ १७॥

श्रुत्वा भाषितं सीता मुनेः परममद्भुतम्।
शिरसा वन्द्य चरणौ तथेत्याह कृताञ्जलिः॥ १८ ॥

सीता ने महर्षि वाल्मीकि के इन परम अद्भुत वचनों को सुन, उनके चरणों मे सिर रख, उनको प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर उनकी बात मान ली॥ १८॥

तं प्रयान्तं मुनिं सीता प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।
तं दृष्ट्वा मुनिमायान्तं वैदेह्या मुनिपत्नयः।
उपाजग्मुर्मुदा युक्ता वचनं चेदमब्रुवन्॥ १९ ॥

❀ पाठान्तरे—"र्वते त्वा।"

जब मुनि वहाँ से अपने आश्रम की ओर लौट कर चले, तब सीता भी हाथ जोड़े हुए उनके पीछे हो लीं। मुनिराज को जानकी सहित आते देख, मुनि-पत्नियाँ आगे बढ़ एवं हर्षित हो, उनसे यह कहने लगीं॥ १९ ॥

स्वागतं ते मुनिश्रेष्ठ चिरस्यागमनं च ते ।
अभिवादयामस्त्वां सर्वा उच्यतां किं च कुर्महे ॥२०॥

हे मुनिश्रेष्ठ! तुम्हारा स्वागत है। इस बार हम लोगों को बहुत दिनों बाद तुम्हारे दर्शन मिले। हम सब तुमको प्रणाम करती हैं। आज्ञा दीजिए, हम क्या करें ॥ २० ॥

तासां तद्वचनं श्रुत्वा वाल्मीकिरिदमब्रवीत् ।
सीतेयं समनुप्राप्ता पत्नी रामस्य धीमतः ॥ २१ ॥

उन सब के ये वचन सुन, महर्षि वाल्मीकि जी ने कहा—बुद्धिमान महाराज श्रीरामचन्द्र जी की यह भार्या यहाँ आई है ॥ २१ ॥

स्नुषा दशरथस्यैषा जनकस्य सुता सती ।
अपापा पतिना त्यक्ता परिपाल्या मया सदा ॥ २२॥

यह महाराज दशरथ की पुत्रवधू और महाराज जनक की सुशीला बेटी है। इसे बिना अपराध अर्थात् निष्कारण इसके पति ने त्याग दिया है। यह पतिव्रता और निर्दोषा है। मैं अब सदा इसका पालन करूँगा ॥ २२ ॥

इमां भवन्त्यः पश्यन्तु स्नेहेन परमेण हि ।
गौरवान् मम वाक्याच्च पूज्या वोऽस्तु विशेषतः ॥२३॥

मेरे कथन का गौरव मान कर, आप सब भी बड़ी प्रीति के साथ सम्मानपूर्वक इसकी रक्षा करें ॥ २३ ॥

मुहुर्मुहुश्च वैदेहीं *प्रणिधाय [1]महायशाः ।
स्वमाश्रमं शिष्यवृतः पुनरायान् महातपाः ॥ २४ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

महायशस्वी और महातपस्वी वाल्मीकि जी इस प्रकार बार बार उन तापसियों को भली भाँति समझा और जानकी जी को उन्हें सौंप, शिष्यों सहित अपने आश्रम में चले आए ॥ २४ ॥

उत्तरकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

पञ्चाशः सर्गः

—:०:—

दृष्ट्वा तु मैथिलीं सीतामाश्रमे संप्रवेशिताम् ।
सन्तापमगमद्घोरं लक्ष्मणो दीनचेतनः ॥ १ ॥

सीताजी को वाल्मीकि के आश्रम में गई हुई देख, लक्ष्मण जी अत्यन्त दुःखित हो, बहुत उदास हुए ॥ १ ॥

[टिप्पणी—इससे जान पड़ता है कि, लक्ष्मण प्रथम कुछ दूर चले आए और फिर जानकी जी के वाल्मीकिआश्रम में जाने की प्रतीक्षा में, कहीं छिपे खड़े रहे थे ।]

अब्रवीच्च महातेजाः सुमन्त्रं मन्त्रसारथिम् ।
सीतासन्तापजं दुःखं पश्य रामस्य सारथे ॥ २ ॥

---

[1] प्रणिधाय—तापसीनां हस्ते दत्त्वा । (गो०)

* पाठान्तरे—"परिदाय" ।

वे महातेजस्वी, परामर्श द्वारा सहायता देने वाले सारथी सुमंत्र से बोले—हे श्रीरामचन्द्र जी के सारथि! देखो सीता जी के सन्ताप का वृत्तान्त सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी को बड़ा दुःख होगा ॥ २ ॥

ततो दुःखतरं किंनु राघवस्य भविष्यति ।
पत्नीं शुद्धसमाचारां विसृज्य जनकात्मजाम् ॥ ३ ॥

इससे बढ़ कर श्रीरामचन्द्र जी को और क्या दुःख हो सकता है कि, महाराज को अपनी शुद्ध चरित्रा पत्नी जानकी त्याग देनी पड़ी ॥ ३ ॥

व्यक्तं दैवादहं मन्ये राघवस्य विनाभवम् ।
वैदेह्या सारथे नित्यं दैवं हि दुरतिक्रमम् ॥ ४ ॥

हे सारथे! जानकी जी का यह वियोग महाराज को अदृष्ट के फल से प्राप्त हुआ है। मुझे तो इस बात का अब निश्चय हो गया है कि, दैव को कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता अर्थात् भाग्य के लिखे को कोई नहीं मिटा सकता ॥२४॥

यो हि देवान् सगन्धर्वानसुरान् सहराक्षसैः ।
निहन्याद्राघवः क्रुद्धः स दैवं पर्युपासते* ॥ ५ ॥

देखो, जो क्रोध में भर, देवता, गन्धर्व, दैत्य और राक्षस का नाश कर सकते हैं, वे श्रीरामचन्द्र जी भी दैव के वशीभूत हुए देख पड़ते हैं ॥ ५ ॥

पुरा रामः पितुर्वाक्याद्दण्डके विजने वने ।
उषित्वा नव वर्षाणि पञ्च चैव महावने ॥ ६ ॥

देखो न, पहिले तो उन्होंने पिता की आज्ञा से चौदहवर्ष निर्जन दण्डकवन में वास किया ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"दैवमनुवर्तते ।"

ततो दुःखतरं भूयः सीताया विप्रवासनम् ।
पौराणां वचनं श्रुत्वा नृशंसं प्रतिभाति मे ॥ ७ ॥

परन्तु उससे भी अधिक उनके लिए यह सीता का त्याग रूपी दुःख है, जो नगरवासियों के वचनों के कारण उनको प्राप्त हुआ है। मेरी समझ में तो उनका यह कार्य बड़ा ही निष्ठुर है ॥ ७ ॥

को नु धर्माश्रयः सूत कर्मण्यस्मिन् यशोहरे ।
मैथिलीं [1]समनुप्राप्तः पौरैर्हीनार्थवादिभिः ॥ ८ ॥

हे समंत ! न्यायशून्य अर्थात् अनुचित बात कहने वाले, नगरवासियों के कथन मात्र से सीता का त्याग जैसा यशनाश-कारी कर्म कर बैठना—कौन (बड़ा) धर्म का काम है ? ॥ ८ ॥

एता वाचो बहुविधाः श्रुत्वा लक्ष्मणभाषिताः ।
सुमन्त्रः श्रद्धया प्राज्ञो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ९ ॥

इस प्रकार की लक्ष्मण जी की अनेक बातें सुन, बुद्धिमान सुमंत्र श्रद्धापूर्वक कहने लगे ॥ ९ ॥

न सन्तापस्त्वया कार्यः सौमित्रे मैथिलीं प्रति ।
दृष्टमेतत्पुरा विप्रैः पितुस्ते लक्ष्मणाग्रतः ॥ १० ॥
भविष्यति दृढं रामो[2] दुःखप्रायो विसौख्यभाक् ।
प्राप्स्यते च महाबाहुर्विप्रयोगं [3]प्रियैर्ध्रुवम् ॥ ११ ॥

हे सौमित्र ! तुम मैथिलीके लिए दुःखी मत हो। हे लक्ष्मण ! दुर्वासा ने तुम्हारे पिता के सामने ही इस बात को विचार कर निर्णीत कर दिया था कि, श्रीरामचन्द्र प्रायः

[1] पाठान्तरे—"प्राप्त उग्रत्वः।" [2] पाठान्तरे—"दुःखप्रायोऽपि सौख्यभाक्।" [3] पाठान्तरे—"प्रियैर्ध्रुवम्।"

दुःखी ही रहेंगे और उन्हें सुख नहीं मिलेगा। उनका अपने प्यारे जनों से शीघ्र ही वियोग होगा ॥ १० ॥ ११ ॥

त्वां चैव मैथिलीं चैव [१]शत्रुघ्नभरतौ तथा ।
सन्त्यजिष्यति धर्मात्मा कालेन महता महान् ॥ १२॥

सीता ही को क्यों—यह धर्मात्मा महाराज तो कुछ अधिक समय बीतने पर, तुमको, शत्रुघ्न को और भरत जी को भी त्याग देंगे ॥ १२ ॥

इदं त्वयि न वक्तव्यं सौमित्रे भरतेऽपि वा ।
राज्ञा वो व्याहृतं वाक्यं दुर्वासा यदुवाच ह ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! यह बात तुम भरत और शत्रुघ्न से भी मत कहना। जिस समय, बड़े महाराज (दशरथ) ने दुर्वासा से तुम लोगों के बारे में पूँछा था, तब उन्होंने यह बात ॥ १३ ॥

[२]महाजनसमीपे च मम चैव नरर्षभ ।
ऋषिणा व्याहृतं वाक्यं वसिष्ठस्य च सन्निधौ ॥१४॥

मेरे और वसिष्ठ जी के सामने (दशरथ) से कही थी ॥ १४ ॥

ऋषेस्तु वचनं श्रुत्वा मामाह पुरुषर्षभः ।
सूत न क्वचिदेवं ते वक्तव्यं जनसन्निधौ ॥ १५ ॥

दुर्वासा की यह बात सुन महाराज दशरथ ने मुझसे कहा था कि हे सूत ! तुम इस बात को किसी [अन्य] जन के सामने मत कहना ॥ १५ ॥

---

१ पाठान्तरे—"शत्रुघ्नभरतावुभौ ।"

२ महाजनसमीपे—"दशरथसमीप इत्यर्थः । [गो०]

तस्याहं लोकपालस्य वाक्यं तत्सुसमाहितः ।

नैव जात्वनृतं कुर्यामिति मे सौम्यदर्शनम् ॥ १६ ॥

इसी से, लोकपाल-समान महाराज के मना कर देने से आज तक यह बात किसी से नहीं कही अर्थात् छिपा कर रखी है क्योंकि मेरे मतानुसार इतने बड़े महाराज की आज्ञा टालना उचित नहीं था ॥ १६ ॥

सर्वथैव न वक्तव्यं मया सौम्य तवाग्रतः ।

यदि ते श्रवणे श्रद्धा श्रूयतां रघुनन्दन ॥ १७ ॥

हे सौम्य ! मुझे तो तुमसे भी यह बात किसी दशा में भी कहनी उचित नहीं है। किन्तु हे रघुनन्दन ! यदि तुम सुनना चाहते हो तो मैं कहता हूँ; "सुनो" ॥ १७ ॥

यद्यप्यहं नरेन्द्रेण रहस्यं श्रावितं पुरा ।

तथाप्युदाहरिष्यामि दैवं हि दुरतिक्रमम् ॥ १८ ॥

यद्यपि पूर्वकाल में यह बात बड़े महाराज ने मुझे एकान्त में सुनाई थी, तथापि मैं इसे तुमसे कहता हूँ। क्योंकि भाग्य तो अमिट है ॥ १८ ॥

येनेदमीदृशं प्राप्तं दुःखं शोकसमन्वितम् ।

न त्वया* भरतस्याग्रे शत्रुघ्नस्यापि सन्निधौ ॥१६॥

भाग्यदोष ही से तो इस प्रकार का दुःख और शोक प्राप्त हुआ है। तो भी यह गूढ़ बात तुम भरत और शत्रुघ्न से मत कह देना ॥ १६ ॥

*पाठान्तरे—"भरते वाच्यं ।"

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य गम्भीरार्थपदं महत् ।
तथ्यं ब्रूहीति सौमित्रिः सूतं तं वाक्यमब्रवीत् ॥२०॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

सुमन्त्र के इन गम्भीर वचनों को सुन, लक्ष्मण जी बोले—हे सूत ! तुम समस्त वृत्तान्त ज्यों का त्यों कहो ॥ २० ॥

उत्तरकाण्ड का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

उत्तरकाण्ड का पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ ।

—:-०-:—

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—❀—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत् समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्य. परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण मही महीशा. ।
गो ब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्य
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन् रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेव नमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ६ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—